काव्यगुण-विमर्श

डॉ० राजदेव मिश्र
डॉ० ऊषा सिंह

काव्यगुण-विमर्श

समालोचक :

डॉ० राजदेव मिश्र

पूर्व कुलपति

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

डॉ० ऊषा सिंह

वरिष्ठ प्राध्यापिका, संस्कृत-विभाग

राजामोहन गर्ल्स कालेज

फैजाबाद

प्रकाशक

शारदा प्रकाशन

फैजाबाद

प्रकाशक :
शारदा प्रकाशन
आलोकपुरी (नयी कालोनी)
मियावाँ, रोड फैजाबाद
दूरभाष :

१९९२ ई०

मूल्य : दो सौ पच्चीस रुपये मात्र

मुद्रक :
रवीन्द्र नाथ द्विवेदी
देववाणी प्रेस, स्टेशन रोड,
बड़ी मलदहिया, वाराणसी

विषयानुक्रमणी

आमुख

संस्कृत-काव्य-परम्परा अति प्राचीन तथा गौरवमण्डित है। एक ओर जहाँ अपार काव्य-जगत् के स्रष्टा मनीषी कवियों ने अपनी अलौकिक सहृदय संवेद्य रचनाओं से उसे उत्कर्ष की चरमभूमि पर प्रतिष्ठित किया, वहीं दूसरी ओर काव्यतत्त्वमर्मज्ञ अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका के द्वारा काव्य के गहनातिगहन तत्त्व का चिन्तन एवं मनन कर उसके रहस्य का उद्घाटन किया। काव्यतत्त्व-चिन्तन की स्वरूप-परम्परा के श्रीगणेश का स्पष्ट रेखाङ्कन सम्भव नहीं है, पर इतना अवश्य है कि आचार्य भरत के पूर्व उसका उदय अवश्य हो चुका था। पर उक्त परम्परा को स्वस्थ एवम् उदात्त स्वरूप प्रदान करने का सर्वाधिक श्रेय आचार्य भरत को ही प्राप्त है। भरत के द्वारा स्थापित यह परम्परा १७ वीं शताब्दी के पण्डितराज जगन्नाथ तक अव्याहत गति से चलती रही। इस सुदीर्घ कालावधि में भरत के पश्चात् भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनञ्जय, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, भोजराज, मम्मट, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ, शारदातनय, शिङ्गभूपाल तथा पण्डितराज प्रभृति प्रमुख आचार्यों ने काव्य-स्वरूपोन्मीलन में अपनी प्रतिभा तथा विवेकशक्ति का प्रयोग कर काव्य-रहस्यजिज्ञासुओं की जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयास किया। यहाँ यह ध्येय है कि आचार्य भरत ने यद्यपि सर्वलोकविश्रान्तिजनक पञ्चम वेद नाट्य को ही दृष्टिगत कर अपने नाट्यशास्त्र की रचना की, परन्तु उनके चिन्तन एवं विश्लेषण का क्षेत्र इतना विशाल है कि उनकी अधस्तना उक्ति—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥ —ना० शा० १।

न केवल नाट्य के विषय में चरितार्थ होती है अपितु वह प्रकारान्तर से उनकी कृति नाट्यशास्त्र के विषय में भी कृतार्थ हो जाती है। उनके नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का वैविध्य निस्सन्देह आश्चर्यकर है। भरत के पश्चात् संस्कृत-साहित्य में, यही नाट्यशास्त्र संस्कृत-अलङ्कारशास्त्र परम्परा का स्पष्ट प्रेरणास्रोत तथा दिशानिर्देशक बना। भरत के परवर्ती

आचार्यों की काव्यशास्त्रीय रचनाओं में यद्यपि नाट्यशास्त्र जैसी प्रतिपाद्य विविधता दृष्टिगोचर नहीं होती, फिर भी अधिकांश आचार्यों ने अलङ्कार-शास्त्र के व्यापक अथवा सङ्कीर्ण जिस क्षेत्र को चुना, उसमें उन्होंने सफलता प्राप्त की।

अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास के आकलन से यह सहजतः स्पष्ट हो जाता है कि उसकी सुदीर्घकालिक परम्परा में काव्य का कोई ऐसा अंश शेष न रहा जो आचार्यों के चिन्तन का विषय न बना हो। परिणामतः काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के माध्यम से काव्य-स्वरूप, उसके हेतु, प्रयोजन, भेद, वस्तु, पात्र, गुण, रीति, वृत्ति, अलङ्कार, रस भाव के साथ ही नृत्य, वृत्त, अभिनय, सङ्गीत आदि का भी विस्तृत तथा सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन हुआ। इस सन्दर्भ में इतना अवश्य ध्येय है कि आचार्यों के द्वारा अङ्गीकृत विचारणीय विषय, चाहे वह व्यापक हो अथवा सङ्कीर्ण, किसी न किसी रूप में काव्य से सम्बद्ध है।

भट्टतौत ने स्पष्ट किया है कि कवि में दर्शन और वर्णन दोनों की अपूर्व क्षमता होती है—'दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ लोके रूढा कविश्रुतिः।' कवि अपने प्रातिभ चक्षु से चर-अचर के अन्तः को भी साक्षात्कृत कर लेता है। उसका यही दर्शन अनुभूति है और जब वह कल्पना के सहारे अपनी वर्णनात्मक शक्ति से अपने दर्शन अथवा अनुभूति को वाणी का कलेवर प्रदान करता है तब वह (वर्णन) 'काव्य' के अभिधान से विभूषित हो जाता है। क्रौञ्च-युगल में से एक के आहत होने पर तड़पती हुयी वियोग विधुरा क्रौञ्ची के दर्शन से उद्भूत वाल्मीकि के हृदय का शोक जब उनकी वर्णनाशक्ति से निम्नाङ्कित श्लोक—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्' ॥–वा०रा०।

के रूप में प्रस्फुटित हो गया, तब वह काव्य (कविता) के अभिधान से अभिहित हो गया और उसके रचयिता वाल्मीकि कवि की पदवी से विभूषित। यह काव्य सर्वांशतः अलौकिक है क्योंकि उसकी सृष्टि हो लौकिक सर्जना की प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न प्रक्रिया से हुयी है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसे अनुपम एवम् अलौकिक काव्य के अङ्ग प्रत्यङ्ग तो अनेक हैं पर उसका मुख्य तत्त्व (आत्मतत्त्व) क्या है ? इस

प्रश्न के समाधान में आचार्य विभक्त हो जाते हैं। संस्कृत-अलङ्कारशास्त्र के विवेचन से यह तथ्य नितरां प्रकाश में आ जाता है कि काव्यात्मतत्त्व के निर्धारण के विषय में निम्नाङ्कित छः सम्प्रदाय (वाद) हैं—

१. रस-सम्प्रदाय
२. अलङ्कार-सम्प्रदाय
३. रीति-(या गुण) सम्प्रदाय,
४. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय,
५. ध्वनि-सम्प्रदाय,
६. औचित्य-सम्प्रदाय।

रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत हैं। भरत के मतानुसार रस ही काव्य का प्राणाधायक तत्त्व है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि काव्य का कोई भी अर्थ (विषय) रस के विना सम्भव नहीं है। उनके 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' इस कथन का अभिप्राय भी यही है। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में रस को स्पष्टतः परिभाषित किया—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' तथा विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी तथा स्थायीभाव का विशद तथा सर्वाङ्गपूर्ण विमर्श किया।

अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख आचार्य भामह ने सौन्दर्य को ही अलङ्कार (सौन्दर्यमलङ्कारः) मानकर एक प्रकार से अलङ्कार को ही काव्य के मुख्य तत्त्व के रूप में मान्यता प्रदान की। उनके सम्प्रदाय के प्रमुख वक्ता जयदेव ने तो यहाँ तक कह डाला कि जिस प्रकार उष्णता के विना अग्नि का कोई स्वरूप नहीं, उसी प्रकार अलङ्कारविहीन शब्द-अर्थ का मञ्जुल संयोग भी काव्य नहीं कहा जा सकता—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के मुख्य प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में वक्रोक्ति के स्वरूप को सम्यक् स्पष्ट किया है। उनके अनुसार साधारण लोग अपने भावों की अभिव्यक्ति हेतु साधारण ढंग से शब्दों का प्रयोग करते हैं, पर इसके विपरीत काव्य में भावों की अभिव्यक्ति के लिये अलौकिक चमत्कारपूर्ण कथन किया जाता है और यह अलौकिक चमत्कारपूर्ण कथन ही 'वक्रोक्ति' है—

कवियों द्वारा अङ्गीकृत पन्था ही काव्य में 'मार्ग' शब्द से अभिहित होता है—

वैंदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्गं इति स्मृतः ।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते ॥

इसी 'मार्ग' के वाचक 'वृत्ति', 'रीति', 'संघटना' एवं 'शैली' आदि शब्द हैं। वस्तुतः एक ही पदार्थ को विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न नामों से व्यवहृत किया है; उद्‌भट ने वृत्ति शब्द का, वामन ने 'रीति' का, कुन्तक तथा दण्डी ने 'मार्ग' का तथा आनन्दवर्धन ने 'सङ्घटना' का प्रयोग किया है। आचार्यों द्वारा प्रयुक्त वृत्ति, रीति आदि विभिन्न शब्दों का भाव एक ही है।

उक्त तीनों रीतियों में वैदर्भी में समस्त गुणों की स्थिति होने से वामन ने उसे (वैदर्भी को) सर्वाधिक महत्ता प्रदान की है—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥

—का० सूत्रवृत्ति ।

इस प्रकार वामन के मत में रीति का अन्तस्तत्त्व गुण हैं। समासादि उसके बाह्य तत्त्व हैं।

अब प्रश्न है कि कीर्ति के आधारभूत गुण का स्वरूप क्या है ? आमन्त्रणार्थक चौरादिक 'गुण' धातु से अच् प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'गुण' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। व्याकरण, दर्शन, गणित तथा राजनीति आदि शास्त्रों को भाँति साहित्य-शास्त्र में भी गुण पारिभाषिक शब्द के रूप में गृहीत है। संस्कृत के अलङ्कार शास्त्र के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें काव्य के अङ्गों की भाँति 'गुण' का भी सम्यक् विवेचन किया गया है। आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने काव्यगुणों को दृष्टिगत कर स्वमतानुसार विवेचना की है। काव्य में गुणों की अपरिहार्यता के विषय में तो इतना कहना पर्याप्त है कि वह (अपरिहार्यता) सभी आचार्यों के द्वारा अङ्गीकृत है। यही कारण है कि आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों में 'गुण' प्रायः सन्निविष्ट है। इतना होते हुए भी आचार्यों की गुण विषयक अवधारणा में प्रायः

भिन्नता है। यह विभिन्नता गुण के लक्षण, आश्रयत्व, संख्या आदि सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती है। किसी भी वस्तु अथवा प्राणी में विराजमान 'गुण' एक ऐसा तत्त्व है जो उसकी विशेषता को उजागर करता है और उसी के कारण वस्तु या प्राणी महनीयता को प्राप्त करता है। 'गुण' को विशेषात्मा या विशेषाधान हेतु कहने का अभिप्राय यही है कि कोई भी वस्तु गुणों के कारण ही अपनी सजातीय वस्तुओं से भिन्नता या विशेषता को प्राप्त होती है—

"द्वितीयो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते।"

—का० प्र० द्वि० उ०।

जहाँ तक काव्य-गुणों का सम्बन्ध है, अन्य शास्त्रों की भाँति काव्य के क्षेत्र में भी उन्हें पारिभाषिक रूप में ही गृहीत करना समीचीन है। गुण विषयक मान्यता को दृष्टिगत कर विचार करने पर आलङ्कारिक तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। आचार्यों की एक श्रेणी वह है जो गुणों को रस का धर्म मानती है। इस श्रेणी में आनन्दवर्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आते हैं। दूसरी श्रेणी उन आचार्यों की है जो गुणों को शब्दार्थगत मानते हैं। ऐसे आचार्यों की संख्या कम नहीं है। इस श्रेणी में भरत समेत अनेक आचार्य आते हैं—इसमें भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, राजशेखर, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोज, जयदेव तथा विश्वनाथ आदि को परिगणित किया जा सकता है। तृतीय श्रेणी में वे आचार्य हैं जिनका गुण विवेचन गौणस्थानीय ही है। इस श्रेणी के आचार्यों ने गुणविषयक किसी नये सिद्धान्त की स्थापना नहीं की है। वस्तुतः मुख्य आचार्य के गुणसम्बन्धी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण या विश्लेषण ही उनका लक्ष्य प्रतीत होता है। ऐसे आचार्यों में नमिसाधु, उद्भट, प्रतिहारेन्दुराज, रत्नेश्वर, विश्वेश्वर, केशवमिश्र, हेमचन्द्र आदि परिगणित होते हैं।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में निम्नांकित दस गुणों का उल्लेख किया है—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥

—ना० शा० १६।९६

उन्होंने उक्तदशगुणों को वर्गीकृत नहीं किया पर उनकी गुण-परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। उनके द्वारा प्रदिपादित कुछ गुण शब्दगत हैं और कुछ अर्थगत।

भामह के काव्यालङ्कार में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन गुणों का उल्लेख हुआ है। यहाँ यह ध्येय है कि भामह ने इन तीनों को 'गुण' नाम से अभिहित ही नहीं किया है। दण्डी ने भरत के दस गुणों को नाम सहित स्वीकार किया। वामन ने भरत के दस गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत रूप से विभाजित करके उनकी संख्या बीस कर दी।

गुणावधारण की परम्परा के विपरीत कुन्तक ने सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम इन तीन काव्य मार्गों के विवेचन प्रसङ्ग में तद्गत माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य इन चार गुणों का उल्लेख किया। उन्होंने उक्त चार गुणों के अतिरिक्त, औचित्य और सौभाग्य इन दो और गुणों का प्रतिपादन किया। उनके मत में प्रथम चार गुण असाधारण और ये दो साधारण गुण हैं।

क्षेमेन्द्र का गुण विवेचन सर्वथा नवीन है। उन्होंने कविकण्ठाभरण में शब्दवैमल्य, अर्थवैमल्य एवं रस वैमल्य—इन तीन नामों से तीन गुणों का उल्लेख किया है। ये तीनों गुण प्राक्तन आचार्यों द्वारा दूसरे अभिधानों से चर्चित थे, क्षेमेन्द्र ने उनको नवीन अभिधान प्रदान किया—यही उनकी विशेषता है।

भोजराज का गुणं विवेचन बहुत विस्तृत है। उन्होंने सरस्वती कण्ठाभरण में गुणों का विवेचन किया है। उन्होंने नवीन अभिधान से गुणों के तीन वर्ग बनाये हैं—बाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक। शब्दगत गुणों को उन्होंने बाह्य भेद के अन्तर्गत तथा अर्थगत गुणों को आभ्यन्तर के अन्तर्गत रखा। वैशेषिक भेद के अन्तर्गत उन्होंने उन दोषों को रखा जो परिस्थिति विशेष में अपने दोषत्व का परित्याग करके गुण बन जाते है। भोज के अनुसार, चौबीस गुण शब्दगत तथा अर्थगत हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि उक्त चौबीस गुणों में परम्परागत दस गुण भी अन्तर्निहित हैं। शेष में कुछ ऐसे भी हैं जो अन्य आचार्यों द्वारा लक्षित दस गुणों से भिन्न नहीं हैं। उक्त गुणों के अतिरिक्त भोज ने जो वैशेषिक गुण कल्पित किये हैं, उन्हें उन्होंने पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थगत—

इन तीन वर्गों में विभक्त किया है। इन गुणों के अतिरिक्त भोज ने प्रबन्धगत गुणों पर भी विचार किया है, जिन्हें उन्होंने शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थोभयगत इन तीन श्रेणियों में रखा है।

अग्नि पुराण में उन्नीस सामान्य गुणों का उल्लेख किया गया है, जिनमें सात शब्दगत, छः अर्थगत और छः शब्दार्थोभयगत हैं।

जयदेव ने पूर्व प्रचलित दस गुणों में से कान्ति और अर्थव्यक्ति को छोड़कर शेष आठ को स्वीकृत किया है।

आनन्दवर्धन ने माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन्हीं तीन गुणों का विवेचन किया है, जो उनके अनुसार रसाश्रित हैं। उनके मत में सर्वगुणाश्रयता के कारण, प्रसाद गुण, अन्य दो गुणों की अपेक्षा व्यापक तथा महनीय है।

आनन्दवर्धन की ही भाँति मम्मट ने भी काव्य में उक्त तीन ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है। उनके मत में तीनों गुण रसाश्रित हैं और उपचारतः वे शब्दार्थनिष्ठ मान लिए जाते हैं।

विश्वनाथ ने भी ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा मम्मट की भाँति माधुर्य, ओज तथा प्रसाद, इन तीन गुणों को स्वीकार कर इन्हें रसाश्रित माना है किन्तु इनका गुण स्वरूप विश्लेषण मम्मट से भिन्न है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रचलित शब्दार्थगत दस गुणों के साथ ही माधुर्य, ओज और प्रसाद का भी विवेचन किया है। किन्तु वे मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा स्थापित गुणों के रसनिष्ठता सम्बन्धी सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। वेदान्त-सिद्धान्त पर आधारित अपनी रस सम्बन्धी मान्यता के कारण वे रस को काव्य का आत्मा मानते हुए भी उसमें गुण की स्थिति नहीं मानते क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार काव्यात्मभूत रस को भी निर्गुण मानना युक्तिसङ्गत है। पूर्व प्रचलित दस काव्यार्थ गुणों में से कुछ को उन्होंने परिष्कृत और परिमार्जित रूप मे प्रस्तुत किया है।

उक्त आचार्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी अप्रमुख आचार्य हैं जिन्होंने गुणों के सम्बन्ध में विचार किया है। काव्यशास्त्र के कुछ ऐसे टीकाकार

भी हैं जिन्होंने प्रमुख आचार्यों के ग्रन्थों की टीका करते हुए गुणों का विवेचन किया है। ऐसे गौण आचार्यों में विश्वेश्वर (भोज के २३ गुण—प्रौढ़ि छोड़कर), प्रकाशवर्ष (भोज के २२ गुण गति और प्रौढ़ि छोड़कर) केशव मिश्र (५ शब्दगुण, ४ अर्थगुण), हेमचन्द्र (गुण को रसधर्म), कर्णपूर गोस्वामी (३ रस गुण मानकर इन्हीं में दस का अन्तर्भाव), वाग्भट (प्रचलित दस गुण) और अच्युतराय (धर्म, रस, लक्षण, रीति, अलंकार और वृत्ति–ये छः गुण तथा माधुर्यादि को धर्म) हैं। टीकाकारों में नमिसाधु, उद्भट, प्रतिहारेन्दुराज, रत्नेश्वर और बहुरूप मिश्र आदि हैं।

काव्य के मुख्य तत्त्वान्वेषण के सन्दर्भ में मतवैभिन्य को दृष्टिगत कर अलङ्कार सम्प्रदाय आदि छः सम्प्रदायों की संक्षेप में चर्चा की जा चुकी है। विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी मान्यतानुसार, रस, अलङ्कार आदि को काव्य का मुख्य तत्त्व माना। सम्प्रति काव्य के अङ्गीकृत अन्य तत्त्वों (अलङ्कार आदि) के साथ गुण के सम्बन्ध के विषय में संक्षेपतः विचार कर लेना सङ्गत है। आचार्य भरत ने न तो गुण को परिभाषित किया और न ही अलङ्कार से उसकी भिन्नता को ही स्पष्ट किया। एक प्रकार से उन्होंने दोनों की एकाश्रयता को ही स्वीकार किया—

अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यविभूषणाः।
अलङ्कारा गुणाश्चैव समाः स्युः समता मताः॥

—(ना० शा०, १६।१०१)

भरत के परवर्ती आचार्यों में वामन के पूर्व किसी आचार्य ने गुण तथा अलङ्कार के तात्त्विक भेद को स्पष्ट नहीं किया। दण्डी के गुण-अलङ्कार प्रतिपादन में दोनों के भेद का संकेत अवश्य मिलता है किन्तु दोनों के स्पष्ट भेद का उल्लेख नहीं है। प्रथमतः वामन ने गुण तथा अलङ्कार के भेद को स्पष्टतः प्रतिपादित किया। उनके अनुसार गुण काव्य शोभा के हेतु (कारण) हैं—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः' तथा अलङ्कार काव्यशोभा के वर्धक धर्म हैं—'तदतिशयहेतस्त्वलङ्काराः।' अर्थात् काव्य में सौन्दर्य की सत्ता गुणाश्रित है और अलङ्कार उस सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं। उक्त विवेचन से अलङ्कार की उपयोगिता गुणों की सत्ता पर आधारित तथा काव्यसौन्दर्य के लिए गुणों की अनिवार्यता

निःसन्दिग्ध प्रतीत होती है। स्पष्ट है कि वामन के मत में गुण, काव्य के नित्य धर्म हैं। अलङ्कार के अभाव में काव्यसौन्दर्य की स्थिति हो सकती है। अतः अलङ्कार काव्य के अनित्य धर्म हैं।

वामन ने शब्द तथा अर्थ—दोनों में गुणों की आश्रयता स्वीकार करके दस काव्य गुणों का वर्णन किया है। इस प्रकार वामन काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण के महत्त्व को कुछ अधिक ही स्वीकार करते हैं। भरत तथा दण्डी के द्वारा वर्णित कुछ गुण शब्दगत, कुछ अर्थगत तथा कुछ शब्दार्थोभयगत हैं। भामह ने गुण और अलङ्कार के भेद को स्पष्ट करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया। उद्‌भट ने गुण और अलङ्कार दोनों को काव्य का शोभाकारक धर्म मानकर दोनों में भेद को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने काव्य में गुण अलङ्कार—दोनों की स्थिति समवायवृत्ति से मानी—'उभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति।' भोजराज ने काव्य में गुण की स्थिति नित्य तथा अलङ्कार की अनित्य मानी है। उनकी मान्यता के अनुसार गुणयुक्त काव्य में ही अलंकार की सत्ता रहती है–'गुणवत्येव काव्येऽलंकारयोगः।' भोज के अनुसार काव्य में गुण की योजना अनिवार्य है जबकि अलंकार की योजना ऐच्छिक—'अयमेव गुणालङ्कारयोर्विशेषः यद् गुणोपादाने नियमः अलङ्कारयोगे तु कामचार इति।'

विद्यानाथ के अनुसार काव्यशोभाकर धर्म होने के कारण गुण और अलङ्कार में साम्य है परन्तु गुण संघटनाश्रित है और अलङ्कार शब्दार्थाश्रित; अतः दोनों में आश्रय गत भेद है।

आचार्यों के उक्त गुणालङ्कारविषयक मतों का आकलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्‌भट आदि ने गुण और अलङ्कार के भेद को स्वीकार नहीं किया। परन्तु वामनादि जिन आचार्यों ने गुण और अलङ्कार में भेद को माना भी, उन्होंने भी दोनों के आश्रय के रूप में शब्द और अर्थ को ही मान्यता दी। फलस्वरूप आश्रयभेद के अभाव में गुण और अलङ्कार में भेद अस्पष्ट ही था। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने रसादि रूप अर्थ को काव्य का आत्मा अर्थात् अङ्गी तथा शब्द और अर्थ को काव्य के शरीर अर्थात् अङ्ग रूप में प्रतिष्ठित किया और

गुणों को काव्यात्मभूत रस से तथा अलङ्कारों को काव्य शरीरभूत शब्दार्थ से जोड़कर दोनों में पार्थक्य को स्पष्ट किया—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥–(ध्वन्या० २.६) ।

स्पष्टतः आनन्दवर्धन गुण को काव्यात्मभूत रस का धर्म और अलङ्कार को काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ का धर्म मानते हैं । दोनों के आश्रयभेद प्रतिपादन से दोनों का अन्तर भी स्पष्ट हो गया । इस प्रकार अलङ्कार की अपेक्षा गुण का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है । अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन की गुण विषयक इस अवधारणा को स्पष्ट किया । ध्वनिवादी आचार्यों में मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में गुण और अलङ्कार को परिभाषित करके इनके भेद को स्पष्ट किया है । साथ ही उन्होंने उद्भट तथा वामनादि की गुण विषयिणी मान्यता का खण्डन भी किया । यद्यपि मम्मट ने आनन्दवर्धन के ही गुण विषयक सिद्धान्त को स्वीकार किया तथापि इस विषय में उनके विचार की मौलिकता असन्दिग्ध है—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥'

यहाँ गुण की तीन विशिष्टतायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं—

१. गुण काव्यात्मभूत रस के धर्म हैं ।
२. वे रस के उत्कर्षक हैं एवं
३. वे रस के साथ अनिवार्य रूप से रहते हैं ।

काव्यगुणों की तुलना लौकिक शौर्यादि गुणों से करते हुए मम्मट ने प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार लोक में शौर्यादि गुणों का सम्बन्ध शरीर से न होकर आत्मा से होता है, उसी प्रकार काव्यगुणों का सम्बन्ध भी काव्यात्मा (रस) से होता है न कि काव्य शरीर भूत शब्दार्थ से ।

गुण को परिभाषित करने के पश्चात् उन्होंने अलङ्कार को भी परिभाषित किया है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

अर्थात् जिस प्रकार लोक में हार आदि अलङ्कार शरीर के माध्यम से अर्थात् उसके अङ्ग कण्ठादि को सुशोभित करते हुए आत्मा का उपकार करते हैं अर्थात् उसे सुशोभित करते हैं उसी प्रकार काव्य में रस की स्थिति होने पर जो शब्द और अर्थ के माध्यम से अर्थात् शब्द और अर्थ को सुशोभित करते हुए रस का यदा-कदा उपकार करते हैं अर्थात् उसे सुशोभित करते हैं वे अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार कहलाते हैं। इस परिभाषा के आधार पर अलङ्कार की तीन विशेषतायें हैं—

१. अलङ्कार, शब्द तथा अर्थरूप अङ्गों के उत्कर्ष द्वारा काव्यात्मभूत रस के विद्यमान होने पर उसके उपकारक (उत्कर्षाधायक) होते हैं।

२. जहाँ रस नहीं होता वहाँ वे उक्तिवैचित्र्यमात्र प्रतीत होते हैं एवं

३. कहीं काव्य में रस के विद्यमान होने पर भी उसके उत्कर्षाधायक नहीं होते।

मम्मट द्वारा गुण तथा अलङ्कार की परिभाषा का विवेचन करने पर दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। गुणों का रस से साक्षात् सम्बन्ध है परन्तु अलङ्कार का, शब्दार्थ के माध्यम से परम्परया सम्बन्ध है। अलङ्कार, रस का उपकार मात्र करते हैं जबकि गुण, रस के उत्कर्षाधायक हैं। गुण रस के धर्म हैं और रस के साथ उनकी अनिवार्य (अचल) स्थिति है। इसके विपरीत, रस के साथ अलङ्कार की अनिवार्य स्थिति नहीं है। रस के रहने पर भी आवश्यक नहीं कि अलङ्कार उसका उपकार करें पर गुण नियमित रूप से रस का उत्कर्षाधान करते हैं। मम्मट के मत में, रस का उपकार करना तो दूर, कहीं-कहीं अलङ्कार रस के अपकारक भी हो जाते हैं। मम्मट के अनुसार भी, काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वशाली हैं। गुण की प्रचलित शब्दार्थाश्रयता को दृष्टि में रखकर मम्मट ने यह स्पष्ट किया है कि गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं परन्तु गौण रूप से उनकी शब्दार्थनिष्ठता भी स्वीकार्य है—
'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।।'

विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित गुण तथा अलङ्कार का स्वरूप आदि बहुत कुछ मम्मट से मिलता है। उन्होंने गुण, अलङ्कार तथा रीति-तीनों को ही काव्य का उत्कर्षक माना है तथा गुण को रसाश्रित और अलङ्कार को शब्दार्थाश्रित मानकर उनमें भेद भी किया है।

हेमचन्द्र ने भी मम्मट की भाँति उद्भट और वामन के गुणालङ्कार सम्बन्धी सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनके गुणालङ्कार की मान्यता, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट से प्रभावित है।

इस प्रकार गुणालङ्कार सम्बन्धी आचार्यों की मान्यता का विवेचन करने से एतद्विषयक मुख्यतः तीन सिद्धान्त सामने आते हैं—

१. गुण-अलङ्कार दोनों शब्दार्थनिष्ठ हैं। इस प्रकार दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इस मत के पोषक उद्भट आदि हैं।

२. गुण काव्यशोभा-कारक हैं और अलङ्कार काव्यशोभावर्धक। यह मान्यता वामन आदि की है।

३. गुण रसाश्रित हैं और वे रस के अनिवार्य धर्म हैं। इसके विपरीत अलङ्कार शब्दार्थाश्रित हैं और रस के साथ उनका सम्बन्ध अस्थिर है। यह सिद्धान्त ध्वनिवादी आचार्यों आनन्दवर्धन, मम्मट आदि का है।

द्वितीय और तृतीय मत में अलङ्कार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

दण्डी के पूर्व किसी आचार्य ने गुण और रीति के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया था। भामह द्वारा गौड एवं वैदर्भ काव्य के वैशिष्ट्य-विवेचन के प्रसङ्ग में गुण तथा रीति के पारस्परिक सम्बन्ध का बीजान्वेषण किया जा सकता है। दण्डी के वैदर्भ और गौड—इन दो मार्गों को 'रीति' कहा जा सकता है। दण्डी ने इन दो मार्गों (रीतियों) के सन्दर्भ में दस गुणों का विवेचन किया है। उनके मतानुसार ये गुण, मार्ग (रीति) के नियामक कहे जा सकते हैं क्योंकि वे (गुण) मार्ग विभाजक अलङ्कार हैं—

'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रिया।'–(काव्यादर्श, २.२)

दण्डी ने इन दसों गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा और गौड मार्ग में उनका अभाव माना है।

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने गुण और रीति के मध्य एक प्रकार से अभेद सम्बन्ध स्वीकार किया है। उनके मतानुसार, गुण की स्थिति से ही रीति में श्रेष्ठता आती है। उनके मत में, सभी गुणों की विद्यमानता के कारण ही वैदर्भी रीति को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

रुद्रट ने गुण को रीति का विभाजक धर्म नहीं माना है। उनके अनुसार रीति का मुख्य तत्त्व रस है न कि गुण।

भोजराज ने श्लेष आदि नौ गुणों को रीति का मुख्य तत्त्व माना है।

आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित सङ्घटना को अन्य आचार्यों की रीति कहना असङ्गत नहीं है। ध्वनिकार के मत में संघटना गुणों पर आश्रित है—

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।'

साथ ही गुण और सङ्घटना अन्योन्याश्रित हैं—ऐसा ध्वनिकार का मानना है—

'गुणाश्रया सङ्घटना, सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति॥'

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यों द्वारा रीति के साथ गुण का अविच्छिन्न सम्बन्ध मान्य किया गया है।

लोक की भाँति काव्य में भी औचित्य का महत्त्व असन्दिग्ध है। काव्यगुणों का गुणत्व भी औचित्य पर निर्भर होता है। औचित्य के कारण दोष भी गुण और औचित्य के अभाव में गुण भी दोष हो सकता है। भामह द्वारा काव्य दोष विवेचन के प्रसङ्ग में गुण और औचित्य का सम्बन्ध आभासित होता है। काव्य दोषों को अनित्य कहने में उनका अभिप्राय यही है कि स्थिति-विशेष में दोष भी गुण बन जाते हैं। स्पष्टतः भामह औचित्य को गुणत्व का मानदण्ड मानते हैं। इस सन्दर्भ में दण्डी की मान्यता भी भामह के सदृश है। राजशेखर के मत में सभी गुण और दोष अनित्य हैं। उनका कथन है कि अनौचित्य के कारण गुण भी दोष और औचित्य के कारण दोष भी गुण बन जाते हैं—

'अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेः दूषणं भूषणायते॥'–(काव्यमीमांसा, १८)

वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण वा आत्मा) मानने वाले कुन्तक के अनुसार काव्य शोभा के सभी तत्त्वों का आधार औचित्य ही है। क्षेमेन्द्र के अनुसार अलङ्कार का अलङ्कारत्व और गुण का गुणत्व औचित्य पर ही निर्भर है। औचित्य के बिना अलङ्कार और गुण, सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते—

औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः ।।

आनन्दवर्धन के अनुसार, गुण रस का धर्म है। उन्होंने रसानुकूल गुण योजना को गुण औचित्य कहा है। चूंकि रस की सत्ता में औचित्य महनीय भूमिका का निर्वहण करता है अतः वह (औचित्य) गुण का भी नियमन करता है।

मम्मट ने भी काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में किन्हीं दोषों के गुण में परिवर्तित होने की पृष्ठभूमि में औचित्य को स्वीकार किया है। विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ की एतद्विषयक मान्यता भी आनन्दवर्धन से मिलती है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गुण और दोष औचित्य सापेक्ष हैं। औचित्य के सद्भाव में दोष भी गुण और अभाव में गुण भी दोष बन जाता है। इस प्रकार औचित्य ही गुण का नियामक है।

भरत, दण्डी, वामन, भोज, रुद्रट, विद्यानाथ आदि ने गुण को शब्दार्थगत माना है। यदि इन आचार्यों के मतों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ के मत में गुण का सम्बन्ध रस से हो ही जाता है। रस को नाट्य का मूल तत्त्व मानने वाले आचार्य भरत के शब्दार्थाश्रित गुणों को क्या रस से पृथक् किया जा सकता है? दण्डी तथा वामन आदि आचार्यों की बात ही अन्य है जो काव्य में गुण को रस से भी अधिक महत्त्व देते हैं। गुण को शब्दार्थगत मानने वाले भोजराज ने भी स्वप्रतिपादित चौबीस गुणों को तीन वर्गों में रखा है— रसारम्भक, रसभाव आरब्ध और शुद्ध शब्दार्थगत। इनमें से प्रथम दो वर्गों के गुणों का रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से गुण की रसधर्मता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने ध्वनिकार के इस गुणविषयक सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित किया। गुण की रसनिष्ठता विषयक सिद्धान्त में गुण की शब्दार्थनिष्ठता औपचारिक या गौण है। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुण के विषय का निर्धारण भी किया है। तदनुसार रसविशेष में गुणविशेष की स्थिति होती है। सामान्यतः आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए भी मम्मट के मत में मौलिकता

परिलक्षित होती है। मम्मट के अनुसार, माधुर्य गुण सामान्यतः शृङ्गार (सम्भोग) में रहता है परन्तु करुण, विप्रलम्भ (शृङ्गार) तथा शान्त रसों में वह क्रमशः (उत्तरोत्तर) चमत्कार जनक होता है--

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥'

ओजो गुण की स्थिति साधारणतया वीररस में होती है। परन्तु वीभत्स और रौद्र रसों में वह विशेष चमत्कारजनक होता है—

'दीप्त्यात्मविस्तरतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
वीभत्सरौद्ररसस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥'

प्रसाद गुण की स्थिति सभी रसों में होती है।

उक्त छः रसों के अतिरिक्त, हास्य, अद्‌भुत और भयानक—इन तीन रसों में माधुर्य तथा ओज—दोनों गुणों की स्थिति सम्भव होने से मम्मट ने इन तीनों रसों में गुण विशेष की स्थिति का उल्लेख नहीं किया है।

उक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट है कि अलङ्कार एवं रीतिवादी दोनों ही सम्प्रदायों में गुण की शब्दार्थनिष्ठता स्वीकार करके गुण को प्रधान तथा रस को गौण बनाया गया है। इसके ठीक विपरीत, ध्वनि सम्प्रदाय में रस को काव्य का प्रधान (अङ्गी) तथा गुण को रसधर्म मानकर उसे गौण स्थान प्रदान किया गया है। भोजराज आदि आचार्य तो गुण को शब्दार्थनिष्ठ और रसनिष्ठ—दोनों ही मानते हैं।

वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चारुव्यङ्ग्य ही 'ध्वनि' कहा जाता है। इस ध्वनि के तीन भेद-वस्तु, अलङ्कार और रसादि होते हैं। इन तीनों में भी वस्तु और अलङ्कार तो वाच्य भी होते हैं और व्यङ्ग्य भी किन्तु रसभावादि ध्वनि प्रत्येक दशा में व्यङ्ग्य ही होते हैं। इस प्रकार गुणों के रसनिष्ठ होने से असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यरूप रसादि ध्वनि में गुण की स्थिति अपरिहार्य है।

वक्रोक्ति के साथ गुण के सम्बन्ध के सन्दर्भ में वक्रोक्तिकार कुन्तक के मत की समीक्षा करना समीचीन होगा। कुन्तक ने भौगोलिक आधार पर रखे गए प्राचीन नामों के स्थान पर नवीन नामों का प्रचलन किया।

वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों के स्थान पर उन्होंने क्रमशः सुकुमारमार्ग, विचित्रमार्ग और मध्यममार्ग नाम रखा। गुण-विषयक उनकी मान्यता भी मौलिक है। उन्होंने गुणों को द्विधा वर्गीकृत किया— सामान्य गुण भी दो प्रकार के हैं—औचित्य और सौभाग्य। इसी प्रकार विशिष्ट गुण चार प्रकार के हैं—माधुर्य, लावण्य, प्रसाद और आभिजात्य। सामान्य गुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मार्ग से होता है जबकि विशिष्ट गुण प्रत्येक मार्ग में भिन्न-भिन्न होते हैं। उनके स्वरूप तथा कार्य में भिन्नता होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुणों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में रस, अलङ्कार, रीति, औचित्य, वक्रोक्ति एवं ध्वनि—सभी से है। सबके साथ सम्बन्ध के स्वरूप में अन्तर अवश्य है। जहाँ तक गुणों की आश्रयता का प्रश्न है, अलङ्कार एवं रीतिवादी दोनों सम्प्रदायों में गुण की शब्दार्थनिष्ठता को स्वीकार करके गुण को प्रधान तथा रस को गौण स्थान प्रदान किया गया है। इसके विपरीत ध्वनिसम्प्रदाय में रस को काव्य का प्रधान (अङ्गी) तथा गुण को रसधर्म मान कर उसे गौण स्थानीय बनाया गया है। इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त भोज आदि आचार्यों का एक ऐसा वर्ग भी है जो गुणों को शब्दार्थनिष्ठ और रसनिष्ठ—दोनों मानता है। वस्तुतः गुणों की शब्दार्थनिष्ठता और रसनिष्ठता—ये दोनों ऐसे तत्त्व हैं जिनमें परस्पर विरोध सा प्रतीत होता है। रस को काव्य का आत्मतत्त्व या अङ्गी मानकर उसमें गुणों की आश्रयता स्वीकार करने वाले आचार्य भी उपचारतः गुणों को शब्दार्थाश्रयी मानते ही हैं। उनके मत में भी शब्द तथा अर्थ काव्य का अङ्ग अर्थात् शरीर है। ऐसी स्थिति में गुण द्वारा रस के उत्कर्षाधान में शब्दार्थ का साहाय्य होता ही है। इसी प्रकार गुण को शब्दार्थनिष्ठ मानने वाले आचार्य भी कतिपय गुणों का सम्बन्ध किसी न किसी रस से जोड़ते ही हैं। आत्मभूत रस (या भाव) का उत्कर्ष हो अथवा शरीररूप शब्द-अर्थ का, दोनों के उत्कर्ष को पृथक् करके देखना सङ्गत नहीं है क्योंकि दोनों ही परस्पर किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य रहते हैं।

गुणों को चाहे रसनिष्ठ माना जाय अथवा शब्दार्थनिष्ठ, दोनों ही स्थितियों में उसकी महत्ता का अपलाप उसी प्रकार नहीं किया जा

सकता जिस प्रकार लोक में लौकिक गुणों की महत्ता की प्रख्यायिका 'गुणाः पूजास्थानम्' उक्ति को उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः जिस प्रकार लोक में गुणी व्यक्ति आदर का पात्र बनता है उसी प्रकार अलौकिक काव्यजगत् में भी गुणमण्डित काव्य समादृत होता है। यही कारण है कि अलङ्कार-रीति आदि सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों ने जहाँ काव्यलक्षण में गुणों का अपरिहार्य सन्निवेश किया—

'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते'—(वामन)

'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्'—। (हेमचन्द्र)।

शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम्'—(वाग्भट)।

गुणालङ्काररहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ'—(विद्यानाथ)।

वहीं ध्वनिवादी मम्मट आदि ने भी अपने काव्यलक्षण में गुण को अपरिहार्यरूप से स्थान दिया—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'-(मम्मट)।

गुण, रीतियों के विधायक हैं। गुणों के कारण ही रीति ग्रहणीय-स्पृहणीय बनती है। अलङ्कार की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए गुण, काव्य के नित्य शोभाकारक धर्म के रूप में मान्य है। औचित्य गुण का विधायक होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० ऊषा सिंह के शोध प्रबन्ध का परिष्कृत रूप है। सम्पूर्ण ग्रन्थ उपसंहार समेत पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में काव्यलक्षण, काव्यभेद एवं काव्यधर्म का प्रतिपादन अत्यन्त स्पष्ट तथा सारगर्भित है। वस्तुतः यह अध्याय इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत है। काव्यगुणों के सम्यक् विवेचन के लिए इस अध्याय की महती भूमिका है। इस अध्याय के अन्त में काव्यगुणों की आश्रयता की संक्षिप्त मीमांसा भी पृष्ठभूमि की महती कड़ी है। द्वितीय अध्याय में 'गुण' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसकी अनेकार्थता का प्रतिपादन कर विभिन्न शास्त्रों में उसके (गुणों के) स्वरूप की विभिन्नता पर प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से गुण-विवेचन के संदर्भ में भरत से लेकर परवर्ती आचार्यों के काव्यगुण-लक्षण की विवेचना सर्वतोभावेन श्लाघ्य है। तृतीय अध्याय में विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यगुणों की संख्या विवेचित है। चतुर्थ अध्याय कई दृष्टियों

से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें काव्यगुणों के महत्त्व तथा अलङ्कार आदि के साथ उनके सम्बन्ध का सर्वाङ्गपूर्ण विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय में लेखिका की प्रतिभा, अध्यवसाय तथा मौलिकता के पदे-पदे दर्शन होते हैं। उपसंहार अति संक्षिप्त है परन्तु उसकी उपयोगिता तथा महत्त्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

ग्रन्थ की लेखिका डॉ० ऊषा सिंह एक प्रतिभाशाली, अध्यवसायी, तथा विद्याव्यसनी महिला हैं। छात्रजीवन में ही उनके उक्त गुण दृष्टिगोचर हुए थे। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य काव्यशास्त्रीय है। काव्यशास्त्रीय विषय की गम्भीरता तथा कठिनता को वही व्यक्ति समझ सकता है। जिसमें उक्त गुणों का सहजतः सन्निवेश हो। अपने उक्त गुणों के कारण ही डॉ० ऊषा सिंह ने प्रस्तुत ग्रन्थ को इतने भव्य एवं सर्वाङ्गपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है। संस्कृतालङ्कार-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य के विविध पक्षों का मनन, चिन्तन, विवेचन तथा विश्लेषण किया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि आचार्यों के उक्त प्रकार के सारस्वत अध्यवसाय को आधुनिक भाषाओं में, विशेषतः राष्ट्रभाषा हिन्दी में, प्रकाश में लाया जाय जिससे आज के जिज्ञासुवृन्द की तद्विषयक जिज्ञासा की शान्ति हो सके। मेरी सम्मति में प्रस्तुत ग्रन्थ में कावगुणों से सम्बद्ध अधिकांश विषयों का तात्त्विक चिन्तन हुआ है। साथ ही अपेक्षित तुलनात्मक विवेचन के द्वारा निष्कर्ष को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता निःसंदिग्ध है।

कतिपय विषयों की विवेचना इस ग्रन्थ में नहीं की जा सकी है, पर इसके बावजूद यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय, विशेषकर संस्कृत काव्यशास्त्र जगत् को महती आवश्यकता की निःसंदेह पूर्ति करेगा। मेरा पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ पाठकों की काव्य-गुण-विषयक जिज्ञासा को शान्त कर महनीय यश का भागी बनेगा। एतदर्थं ग्रन्थ की लेखिका डॉ० सिंह बधाई की पात्र हैं।

गीता जयन्ती

२८ नवम्बर १९९०

राजदेव मिश्र
पूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

प्राक्कथन

लोकविश्रुत देववाणी संस्कृत विश्व को समस्त भाषाओं की शिरोमुकुट, उदात्त एवम् उज्ज्वल विचारों की मनोरम मञ्जूषा, प्राचीन भारत के साहित्यिक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की कमनीय कुंजिका तथा पुरुषार्थ-चतुष्टय की निर्मल मुकुर है। इस भूमण्डल पर सर्वाधिक प्राचीन कही जाने वाली यही आर्यों की गीर्वाणवाणी है। वह हमारे देश भारत की एक अमूल्य एवम् अद्वितीय निधि है। संसार के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद की ऋचाओं का अभिव्यञ्जन और उच्चारण सर्वप्रथम इसी भाषा में हुआ था। आध्यात्मिक रहस्यों से ओत-प्रोत उपनिषदों की व्यञ्जना इसी (देववाणी) में हुई थी। संस्कृत-साहित्य भारत का राष्ट्रीय गौरव है, वह भारतीय संस्कृति का निर्मल दर्पण है। उसमें हमें अपने गौरवमय अतीत की झाँकी देखने को मिलती है।

संस्कृत-साहित्य परा तथा अपरा विद्याओं का महनीय कोष है। उसकी व्यापकता तथा सर्वाङ्गपूर्णता सर्वविदित है। एक ओर जहाँ वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, आरण्यक आदि ने उसके विग्रह को पावन बनाया है; वहीं दूसरी ओर आदिकवि वाल्मीकि, भास, कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति, बाणभट्ट जैसे अलौकिक काव्यजगत् स्रष्टा मनीषी महाकवियों ने अपनी कमनीय रचनाओं से उसे स्पृहणीय बनाया है। आदिकवि वाल्मीकि ने जिस अलौकिक कविता-कामिनी की सृष्टि की, उसकी परम्परा आगे अव्याहत गति से बढ़ती ही गयी। परिणामस्वरूप संस्कृत-साहित्य काव्य की नाना विधाओं से विभूषित हो गया और आज भी उसकी सर्जनात्मक गतिशीलता अक्षुण्ण है।

कोई भी सृष्टि जब प्रकाश में आकर गतिशील होती है, तब वह तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि का विषय बनती है। इस तथ्य के अनुसार 'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः' इस प्रशस्ति के अधिकारी, महाकवियों की अलौकिक काव्यसृष्टि आलोचकों की दृष्टि में आकर आलोच्य बन गयी और फलस्वरूप अलंकारशास्त्र अथवा आलोचनाशास्त्र ने जन्म लिया। भरत, भामह, दण्डी, वामन, मम्मट आदि साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने

कविकर्मभूत काव्यजगत् के प्रत्येक अंग का आलोचन एवं परीक्षण किया तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी अनेकानेक सिद्धान्तों की स्थापना की।

वस्तुतः संस्कृत में काव्यजगत् जितना सर्वाङ्गपूर्ण एवं व्यापक है, उतना ही काव्यशास्त्र जगत् भी सर्वतोभावेन व्यापक तथा परिपूर्ण है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा संस्कृत-साहित्य में काव्य सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्याओं का गम्भीर विवेचन हुआ है। काव्य के रहस्य के पर्यालोचन के कारण विभिन्न सम्प्रदायों को उद्भावना हुई है। आचार्यों के समक्ष काव्यात्मतत्त्वान्वेषण एक महत्त्वपूर्ण विषय था। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' इस उक्ति के अनुसार आचार्यों ने अपनी-अपनी रुचि एवं मति के अनुसार काव्यात्मतत्त्व का विश्लेषण किया। इसी विश्लेषण का परिणाम यह हुआ कि संस्कृत-साहित्यशास्त्र में मुख्यतः छः सम्प्रदायों ने अस्तित्व ग्रहण किया फलतः रस, अलंकार, गुण (रीति), ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य आदि का सम्यक् विवेचन हुआ। यों तो काव्य में उक्त सभी का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसीलिए मैंने छात्र जीवन में सबका यथासम्भव अध्ययन भी किया, परन्तु एम० ए० उत्तरार्द्ध में अध्ययन करते समय मेरी अभिरुचि काव्यगुणों के प्रति विशेष रूप से हुई। मेरी इस अभिरुचि के प्रादुर्भाव में मम्मटप्रतिपादित काव्यगुणों के अध्ययन ने विशेष भूमिका निभायी। मैंने मन ही मन संकल्प ले लिया कि यदि मुझे शोधकार्य करने का अवसर मिला तो मैं निश्चय ही काव्यगुणों पर कार्य करूँगी। मैंने इस संकल्प को उसी समय अपने पूज्य गुरुवर्य डा० राजदेव मिश्र जी, तत्कालीन अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद के समक्ष प्रकाशित भी किया और उन्होंने 'देखा जायेग' ऐसा कहकर एक प्रकार से अपनी मौन सहमति भी दे दी।

काव्यगुणों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन अति गम्भीर एवं विशाल है। अतः सम्पूर्ण का आकलन मेरे सामर्थ्य के बाहर था। इसीलिए मैंने पूज्य गुरुवर्य के आदेश से अपने ग्रन्थ-विषय को काव्यगुणविमर्श तक ही सीमित रखा। विषयनिर्धारण के पश्चात् संकल्प कर लेने पर मेरा शोधकार्य प्रारम्भ तो हो गया परन्तु अनेक पारिवारिक एवम् अन्य उत्तरदायित्वों के निर्वाह के प्रति व्यस्तता के कारण लम्बे समय तक भी

मेरे इस कार्य का सम्पादन न हो सका। सौभाग्यवश मुझे अपने पूज्य गुरुवर डॉ० मिश्र का कृपाभात्र तथा सहयोग दोनों प्राप्त था। फलतः विघ्नों के बावजूद शोधकार्य सम्पन्न हो गया।

पूज्य गुरुवर तथा मेरे पति की यह हार्दिक इच्छा थी कि उक्त शोध-प्रबन्ध ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो। परिणामस्वरूप वह सम्प्रति ग्रन्थ के रूप में विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ के द्वारा यदि जिज्ञासु पाठकों की किञ्चिन्मात्र भी जिज्ञासा की शान्ति हो सकी तो मैं अपने प्रयास को सार्थक मानूंगी।

प्रस्तुत महनीय कार्य पूज्यपाद गुरुवर्य डॉ० राजदेव मिश्र, पूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। अनेक प्रशासनिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने जिस अत्मीयता के साथ सुरुचिपूर्ण ढंग से मेरा मार्गदर्शन किया है, वह मुझे सदा स्मरण रहेगा। आदरणीय आचार्य जी के सान्निध्य में ही मैंने संस्कृत एम० ए० की शिक्षा प्राप्त की थी और उनकी विद्वत्ता, अध्यापन-पटुता तथा शिष्यों के प्रति अनुकम्पा भाव ने ही मुझे इस प्रकार प्रेरित किया कि मैं इस कार्य में प्रवृत्त होने का साहस कर सकी। वस्तुतः इस गुरुतर कार्य की सम्पन्नता का सारा श्रेय उन्हीं को है। यह मेरा परम सौभाग्य है कि पूज्य गुरुवर का कृपाभाव आज भी मुझे प्राप्त है। मेरे अनुरोध पर उन्होंने इस ग्रन्थ का 'आमुख' लिखकर एक प्रकार से उसी कृपाभाव का प्रकाशन किया है। वस्तुतः उनके इस कृपाभाव से ग्रन्थ को गौरववृद्धि हुई है। मैं उनके प्रति सच्चे हृदय से कृतज्ञता एवम् आभार प्रदर्शित करती हूँ।

इस अवसर पर में अपने पूज्य पिता स्व० श्री रामशकल सिंह, एडवोकेट, ममतामयी माता स्व० श्रीमती शान्ती देवी एवं सम्मानीय अग्रजों के प्रति भी श्रद्धावनत हूँ, जिन्होंने मुझे इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सतत प्रेरणा दी और उनके शुभ आशीर्वाद से यह कार्य सम्पन्न हो सका। इसी प्रसंग में आदरणीय पति श्री दिग्विजय सिंह, एडवोकेट का योगदान भी प्रशंसनीय है, क्योंकि उन्होंने समय-समय पर मेरी अनेक समस्याओं का समाधान करके मेरे इस कार्य को सम्पन्न कराया। उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन मात्र औपचारिकता है। डॉ० (कु०) कमला चौहान,

प्राचार्या, राजमोहन गर्ल्स कालेज, फैजाबाद का सक्रिय सहयोग भी अविस्मरणीय है। एतदर्थ में उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

अपने ग्रन्थ को सम्पादित करने के लिए मुझे अलंकार-शास्त्रीय मूल-ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के अनेक ग्रन्थरत्नों का आश्रय लेना पड़ा है। उनके अभाव में इस कार्य का सम्पन्न होना सम्भव नहीं था। मैं उन ग्रन्थों के रचयिता, आचार्यों, महाकवियों तथा आलोचकों के प्रति भी हृदय से आभार प्रदर्शित करती हूँ।

अनेक प्रयासों के बावजूद भी प्रस्तुत ग्रन्थ में कोई न कोई न्यूनता अवश्य रह गयी होगी। तदर्थ मैं विनीत भाव से क्षमा याचना करती हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सहृदयजन मेरी इस कृति को अपना स्नेह प्रदान करेंगे।

वसन्त पञ्चमी,
९ फरवरी १९९२

निवेदिका—
ऊषा सिंह

प्रथम अध्याय

काव्य-लक्षण, काव्य-भेद एवं काव्यधर्म

काव्य

'कुङ् शब्दे' धातु से उणादि के 'इ' प्रत्यय का योग करने से 'कवि' शब्द व्युत्पन्न होता है। 'कवि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'शब्द करने वाला' अर्थात् 'वर्णन करने वाला'। 'कवि' शब्द के विविध निर्वचनों और परम्पराप्राप्त उसके स्वरूप पर दृष्टिपात करने से उसका सर्वमान्य अर्थ निकलता है—प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति से युक्त वर्णन कला में प्रवीण वह व्यक्ति जो शब्द के माध्यम से भाव एवम् अर्थ का वर्णन (अभिव्यक्ति) करता है। ऐसे कवि का भाव (व्यापार) ही काव्य कहा जाता है।

कवि शब्द से 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' सूत्र के अनुसार कर्म अर्थ में (कवेः कर्म) 'ष्यञ्' प्रत्यय का योग करने पर 'काव्य' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार निष्पन्न 'काव्य' का अर्थ है—कवि का कर्म अर्थात् रचना। काव्य की इस व्युत्पत्ति का समर्थन कोषकारों एवं काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भी किया है।[1] आन्तरिक एवं बाह्य प्रेरणाओं से विनोदित होकर, लौकिकालौकिक अर्थ को स्वभाव से युक्त करके कवि, प्रतिभा और वर्णन-कौशल के बल पर जो व्यक्त करता है वही 'काव्य' के नाम से जाना जाता है।

'कवि' और 'काव्य' शब्द का प्रयोग सम्भवतः उतना ही प्राचीन है जितना वाङ्मय (शब्दार्थसाहित्य)। भारतीय मनीषा के आद्युदाहरणभूत वेद को 'देव का अमर काव्य' कहा गया है—देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।"[2] अपौरुषेय वेद के मन्त्रों का ऋषियों ने प्रत्यक्षदर्शन किया था,

---

१. अ—कवेरिदं कार्यं भावो वा (ष्यञ्)।—हलायुधकोश, हिन्दी समिति, उ० प्र०, पृ० २२३

ब—काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म।—काव्यप्रकाश, १.२ की वृत्ति

स—कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्।—एकावली, पृ० १७

२. अथर्ववेद, १०.८.३२

निर्माण नहीं। वेद का निर्माता तो परमात्मा है, जिसके लिए वेदों और तदनुवर्ती वाङ्मय में अनेकत्र 'कवि' पद का प्रयोग किया गया है।[१] इससे उसकी सर्वज्ञता[२] और असाधारण क्षमता[३] का निदर्शन होता है।

व्यापक अर्थों में वाङ्मय, साहित्य और काव्य को परस्पर पर्याय माना जा सकता है। अंग्रेजी भाषा का Literature शब्द भी वाङ्मय के अर्थ में प्रसिद्ध है। लिटरेचर शब्द Letteris से बना है अतः जितना भी शब्द-प्रपंच है, वह सब लिटरेचर कहा जाता है। इस प्रकार अंग्रेजी का यह शब्द वाङ्मय का पर्याय है। विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि 'वाङ्मय' की धारणा 'साहित्य' की अपेक्षा अधिक व्यापक है, जिसके अन्तर्गत समग्र सर्जनात्मक तथा ज्ञानात्मक साहित्य आ जाता है। यहाँ सर्जनात्मक साहित्य का अभिप्राय 'काव्य' से है और ज्ञानात्मक साहित्य से दर्शन, अर्थशास्त्र, आयुर्विज्ञान, विज्ञान तथा अन्य सभी ज्ञान की विधाओं का ग्रहण होता है।

राजशेखर के अनुसार वाङ्मय के दो प्रकार हैं—शास्त्र एवं काव्य—'इह हि वाङ्मयमुभयथा यथा शास्त्रं काव्यं च।'' उनकी दृष्टि में काव्य केवल छन्दोबद्ध रचना ही नहीं, अपितु वह साहित्य मात्र का पर्याय है। गद्य-पद्य में से किसी भी शैली में विरचित साहित्य, 'काव्य' होता है। काव्य के लिए उन्होंने स्पष्टतः 'साहित्यविद्या' का प्रयोग किया है।[४] शास्त्र के अन्तर्गत वेद एवं वेदाङ्गादि अपौरुषेय शास्त्र आते हैं। काव्य-निर्मिति के लिए यद्यपि शास्त्रज्ञान आवश्यक है फिर भी भारतीय दृष्टि से काव्य ही सम्पूर्ण विद्या का निष्पन्द है।[५] इतना ही नहीं, राजशेखर के मतानुसार, काव्य, चौदह विद्यास्थानों १४ वेद+६ वेदाङ्ग+४ शास्त्र के अतिरिक्त पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है। वह

१. ऋग्वेद, ५.५७.८; ५.५८.८; ७.५९.११ इत्यादि; ''कविर्मनीषी परिभूः ...।''—ईशोपनिषद्, ८
''कविः पुराणमनुशासितारम्''''''''गीता, ८.९

२. कवयः क्रान्तिदर्शिनः। तत्र कविः यत्र न रविः।

३. अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥—ध्वन्यालोक, ३.४३ की वृत्ति।

४. पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।—काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय पृ० १०

५. सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्पन्दः।—वही, पृ० १०

अपनी गद्य-पद्यमयता, कविकर्मत्व और हितोपदेश के कारण सभी शास्त्रों का अनुकरणीय बनता है।[१]

वस्तुतः 'साहित्य' शब्द का प्रयोग, व्यापक और संकीर्ण—इन दो अर्थों में किया गया है। संस्कृत भाषा (वाङ्मय) में भी साहित्य के दोनों अर्थों का ग्रहण किया गया है—"साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।"[२] यहाँ 'साहित्य' पद का प्रयोग अपने व्यापक अर्थ में हुआ है और साथ ही साहित्य के इस व्यापक तथा संकीर्ण भेद (काव्य) से उसका पार्थक्य भी स्पष्ट है। किन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही 'साहित्य' शब्द अपने संकीर्ण अर्थ रूप 'काव्य' के पर्याय के रूप में भी प्रचलित है।[३]

यदि हम 'साहित्य' की व्युत्पत्ति को ध्यान से देखें तो यहाँ हमें काव्यलक्षण की अवधारणा का मूल विद्यमान दृष्टिगोचर होता है, जिसका पल्लवन आगे चलकर काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अपने काव्यलक्षणों में किया है। 'साहित्य' पद, 'सहित' शब्द से भाव में 'ष्य' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया जाता है। हितेन सह सहितम्, सहितयोः (शब्दार्थयोः) भावः साहित्यम्। यहाँ यह शंका होनी स्वाभाविक है कि यह शब्द और अर्थ का 'साहित्य' क्या है? काव्य के अतिरिक्त भी शास्त्रादि में शब्द और अर्थ साथ-साथ रहते हैं। फिर यहाँ (काव्य में) कोई विशेष बात है क्या ? इसका समाधान राजशेखर ने काव्यमीमांसा में किया है—"शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य-विद्या।"[४] इससे यह साफ पता चलता है कि साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव समान रूप से (तुल्यकक्षत्वेन) अपेक्षित है। शब्द और अर्थ की

---

१. 'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्"—इति यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वाद् हितोपदेशकत्वाच्च तद्धि शास्त्राण्यनुधावन्ति।
—काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय पृ० ९

२. विक्रमाङ्कदेवचरित, १.११।

३. (क) साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः ……। भर्तृहरिः, नीतिशतक, श्लोक १२

(ब) व्याकरणमीमांसातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात्।—मुकुलभट्ट, अभिधावृत्तिमातृका।

४. काव्यमीमांसा।

तुल्यकक्षता ही साहित्य को वाङ्मय की अन्य विधाओं से पृथक् करती है। शास्त्रों में शब्द के माध्यम से अर्थ का व्यक्तीकरण ही एकमात्र लक्ष्य होता है किन्तु साहित्य में शब्द के अनुरूप अर्थ और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना आवश्यक है। रुय्यक ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है—"न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनन्यूनातिरिक्तत्वम्।"[1]

'काव्य' और 'साहित्य' की व्युत्पत्ति और प्रयोग का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'काव्य' में कर्तृपक्ष का प्राधान्य है और साहित्य में शब्द और अर्थ के परस्पर परिणमन का। इस प्रकार काव्य, कवि के वैयक्तिक उपादान की प्रधानता की ओर संकेत करता है और साहित्य कवि-रचना के कथा शरीर की ओर। अतः दोनों ही परस्पर पर्याय होते हुए भी सूक्ष्म रूप से कुछ विशेषताओं के कारण भिन्न माने जा सकते हैं।

काव्य-लक्षण—

आचार्य भरत के बाद होने वाले काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से काव्य का लक्षण किया है। इनमें से अधिकांश आचार्यों ने शब्दार्थयुगल को काव्य माना है किन्तु कुछ आचार्यों ने केवल शब्द को ही काव्य माना है। पहली मान्यता वाले आचार्यों की काव्यधारणा के अनुसार काव्य न केवल शब्दसौष्ठव का फल है और न केवल अर्थ की रमणीयता का विलास अपितु विशिष्ट रूप में उपस्थित हुए शब्दार्थयुगल का परिपाक है। आचार्यों की इस श्रेणी में भामह, वामन, रुद्रट, विद्यानाथ, मम्मट आदि आचार्यों की संख्या अधिक है। दूसरी मान्यता वाले आचार्यों का आग्रह शब्द मात्र पर ही है। उनके अनुसार काव्य में शब्द का ही प्राधान्य रहता है; अर्थ तो शब्द के साथ गौण रूप से उपस्थित ही रहता है। इस श्रेणी में अपेक्षाकृत कम आचार्य हैं और उनमें से दण्डी, अग्निपुराणकार, विश्वनाथ, जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रमुख हैं।

काव्यलक्षणों का विवेचन करने से उनके दो प्रकार दृष्टिगत होते हैं—बहिरङ्ग निरूपक और अन्तरङ्ग निरूपक। काव्य के स्वरूप का बोध कराने के प्रयोजन से, जिसमें काव्य के बाहरी चिह्नों (तत्त्वों) की उल्लेखपूर्वक योजना

१. व्यक्तिविवेक।

की जाय, वह बहिरङ्ग लक्षण और जिसमें आन्तरिक तत्त्वों का अन्वयन किया जाय वह अन्तरङ्ग लक्षण कहा जाता है । संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्य के बहिरङ्ग निरूपक लक्षणों का अन्तरङ्ग निरूपक लक्षणों के सापेक्ष्य बाहुल्य है । बहिरङ्ग लक्षण करने वाले आचार्यों में भामह, दण्डी, रुद्रट, विद्यानाथ, मम्मट, आदि हैं; जबकि अन्तरङ्ग लक्षण करनेवाले आचार्य हैं—वामन, आनन्दवर्धन, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ आदि । प्रस्तुत अध्याय में हम काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षणों का विवेचन करने के पश्चात् काव्य-भेदों का विश्लेषण करेंगे । तदनन्तर काव्य के बाह्य एवम् आन्तरिक धर्मों के सम्बन्ध में विचार करना इष्ट होगा । अतः सर्वप्रथम काव्य-लक्षणों का विवेचन प्रस्तुत है—

भामह—

आचार्य भामह, काव्यशास्त्र के प्रथम ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है । किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भामह के पूर्व इस प्रकार का कोई प्रयास हुआ ही न था । भामह के पूर्व भी काव्य के सम्बन्ध में दो धारणायें प्रचलित थीं, जिसका संकेत कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में किया है । कुन्तक के उल्लेख के अनुसार कुछ (आचार्यों) का मत है कि कविकौशल से कल्पित सौन्दर्यातिशयशाली केवल शब्द ही काव्य है और कुछ का मत है कि रचनावैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है ।[1] आचार्य भामह ने इनका परीक्षण किया और यह पाया कि ये दोनों ही मत एकाङ्गी और अतिवादी हैं । अतएव उन्होंने दोनों का समन्वय प्रस्तुत किया—"शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।"[2] भामह का अभिप्राय यह है कि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार, दोनों का स्वरूप और प्रयोजन भिन्न-भिन्न होने से हमें दोनों का समन्वय ही अभीष्ट है ।

श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ने 'काव्यालङ्कार' की भूमिका में 'काव्यलक्षण' पर विचार करते हुए[3] "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" को भामह कृत अभीष्ट

---

१. केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यम् इति, केषांचिदवाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यम् इति ।—वक्रोक्तिजीवित १.७ की वृत्ति ।

२. काव्यालंकार, १।१५

३. आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा सम्पादित काव्यालंकार, भूमिका, पृ० ३–६

काव्यलक्षण मानने में अपनी असहमति व्यक्त की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो तर्क दिया है वह यह है कि इस तथाकथित लक्षण में काव्यत्व के व्यवच्छेदक किसी भी धर्म का निर्देश नहीं है; शब्द और अर्थ के सहभाव मात्र को काव्य मानना, वाणी के समस्त प्रपंच को काव्य मानना है और यह एक ऐसी अतिव्याप्ति है, जिसकी आशा भामह जैसे आचार्य से नहीं की जा सकती। तब प्रश्न यह उठता है कि भामह ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" क्यों कहा ?[1] इसका उत्तर देते हुए श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि भामह का यह कथन, उपर्युक्त आलङ्कारिकों के परस्पर विरोधी दो मतों का समन्वयसाधक वाक्य है। शर्मा जी के अनुसार न तो केवल शब्दालंकार के संनिवेश से काव्य में रमणीयता आती है और न केवल अर्थालंकार के संनिवेश से। उसके लिए दोनों की अपेक्षा है और इसके लिए भी दोनों की अपेक्षा है। इसी को उन्होंने स्पष्टतः घोषित किया—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।" यहाँ शब्द और अर्थ केवल शब्द और अर्थ के वाचक ही नहीं, उनके चारुत्वहेतुओं के प्रत्यायक हैं।

परम्परया यद्यपि प्रायः सभी समालोचकों ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" को ही भामहकृत काव्यलक्षण स्वीकार कर उल्लेख किया है, किन्तु श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इससे अपनी असहमति व्यक्त करते हुए अपना जो तर्क प्रस्तुत किया, उसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ने कुन्तक और समुद्रबन्ध[2] का आश्रय लेते हुए तर्क दिया है कि विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य माना जा सकता है। इसलिए यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि भामह की दृष्टि में वह वैशिष्ट्य क्या है ? अर्थात् चमत्कार का निष्पादक तत्त्व कौन सा है ? वह जहाँ निर्दिष्ट हो उसे ही काव्य का लक्षण मानना न्याय होगा। इस प्रकार—वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।"[3]—भामहसम्मत काव्यलक्षण है।

वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलंकार माना जाता है। यहाँ 'अलंकृति' शब्द, शोभा या चमत्कार का वाचक है। तात्पर्य यह कि

१. ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोः न कथंचिदपि साहित्यविरहः, सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्।—वक्रोक्तिजीवित पृ० २५

२. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्।—अलंकारसर्वस्व, समुद्रबन्धकृत टीका, पृ० ४

३. भामह, काव्यालंकार, १।३६

शब्द और अर्थ की वक्रता से चमत्कार आता है। चमत्कारपूर्ण वाणी ही काव्य है उसका निष्पादक तत्त्व है—शब्द और अर्थ की वक्रता। इस प्रकार परिनिष्ठित लक्षण हुआ—वक्रता समन्वित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। काव्य के प्राणभूत इस तत्त्व (वक्रोक्ति) का निर्देश भामह ने अनेकत्र आग्रह पूर्वक किया है।[1]

इस प्रकार भी श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्मा ने भामह द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षण के संबंध में अपना मत उपस्थित किया है। यह कहना तो वस्तुतः उचित ही है कि केवल शब्द और अर्थ ही मिलकर काव्य नहीं बन जाते और भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर अपने पूर्ववर्ती आलंकारिकों की काव्यधारणा के समन्वय का प्रयत्न किया है। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भामह ने 'शब्दार्थौ काव्यम्' नहीं कहा है। यदि उन्हें मात्र शब्द और अर्थ ही काव्य के रूप में अभीष्ट होते, तो वे "शब्दार्थौ काव्यम्" कहकर ही छुट्टी पा लेते। 'साहितौ' पद, विशेषण के रूप में प्रयुक्त करने की आवश्यकता ही क्या थी ? इस पद के प्रयोग का तो अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि भामह केवल शब्द और अर्थ को काव्य नहीं कह रहे है अपितु शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को काव्य कहते हैं। यह तो एक सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि कोई बालक भी यदि कुछ कहना चाहता है तो सार्थक शब्दों का प्रयोग करता है फिर किसो कवि का तो कहना ही क्या ? कवि तो अपने अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्दों का चयन करके ही उनकी योजना करता है। कवि के अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाली यह योजना ही तो काव्य के रूप में परिभाषित की गई है। अतः मूलरूप में (प्रथमतया) 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहने में अनुपपत्ति किस बात की ? 'सहितौ' पद का प्रयोग ही 'शब्दार्थौ' के चारुत्व की व्यंजना करता है। अतः श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा का यह कथन कि इसमें काव्यत्व के किसी व्यवच्छेदक धर्म का निर्देश नहीं है—उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, आगे चलकर भामह ने अवश्य ही काव्य के प्राणभूत तत्त्व वक्रोक्ति पर विशेष बल दिया है। अतः भामह की काव्यधारणा अवश्य ही ऐसी थी, जिसमें वे वक्रतासमन्वित शब्द और अर्थ को काव्य मानते थे।

---

१. (अ) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥—काव्या०, २।८५
(ब) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।—वही, ५।६६

वामन—

आचार्य वामन ने काव्यालंकारसूत्रों की रचना करके उन सूत्रों पर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है। उन्होंने अलंकार का प्रयोग सर्वमान्य सौन्दर्य के लिए किया है।[1] उनका कहना है कि वह काव्य अलंकार से ग्राह्य अर्थात् उपादेय होता है अर्थात् सौन्दर्य से युक्त काव्य ही वस्तुतः ग्राह्य होता है। उन्होंने प्रथम सूत्र 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' तो लिख दिया किन्तु स्वतन्त्र रूप से किसी सूत्र के द्वारा काव्य का लक्षण नहीं प्रस्तुत किया। ऐसी स्थिति में प्रायः सभी लोग वामन के काव्यलक्षण के रूप में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' को ही उद्धृत करते हैं। किन्तु यह काव्य का लक्षण है नहीं। इसमें तो वामन ने काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में रीति को मान्यता प्रदान की है। जब शरीर ही न हो, प्राण प्रतिष्ठित कहाँ होगा?[2] इससे निष्कर्ष निकलता है कि 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखने से पूर्व ही वामन ने काव्यशरीर का निरूपण अवश्य किया होगा। किन्तु जैसा कि हमने अभी कहा, किसी भी सूत्र में काव्य का लक्षण दृष्टिगोचर न हुआ। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' सूत्र की वृत्ति करते हुए वामन ने लिखा है कि जैसे शरीर में आत्मा होता है उसी प्रकार यह रीति भी काव्य का आत्मा है।[2]

वामन ने 'काव्य' को अपने प्रथम सूत्र 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' की वृत्ति में, परिभाषित किया है। काव्य के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देते हुए वामन ने लिखा है—"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।"[3] अर्थात् गुण और अलंकार से संस्कृत (साधुतया युक्त) शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से काव्य कहे जाते हैं। गौण रूप से शब्दार्थ मात्र को भी काव्य कहा जा सकता है।

वामन के इस काव्यलक्षण की समीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि गुण और अलंकार से समन्वित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है—"सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्।" इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन ने काव्य में गुण और अलंकार की स्थिति

---

१. सौन्दर्यमलंकारः। —काव्यालंकारसूत्राणि, १.१.२

२. रीतिर्नामयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः।—काव्यालंकार-सूत्राणि १.२.६ की वृत्ति।

३. काव्यालंकारसूत्राणि, १.१.१ की वृत्ति

को आवश्यक माना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अलंकार से वामन का अभिप्राय सौन्दर्य से है। किन्तु साथ ही वे इससे उपमादि शब्दालङ्कार और अर्थालंकार का भी ग्रहण करते हैं। चूँकि उन्होंने सगुण शब्दार्थ को काव्य कहा है अतः वे काव्य में हर दृष्टि से सौन्दर्य को वांछित मानते हैं; क्योंकि उनकी मान्यता है कि शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य में शोभा (सौन्दर्य) उत्पन्न करते हैं, गुण कहे जाते हैं।[1] गुणों द्वारा उत्पन्न की गई इस काव्यशोभा को जो अतिशयित करे वह (उपमादि) अलंकार है।[2] यही कारण है कि वामन ने काव्य के प्रति सहृदयावर्जक तत्त्व के रूप में अलंकार को सर्वोपरि माना।

वामन ने काव्य को परिभाषित करते हुए उसके साथ जो गुण और अलंकार का समन्वय किया उसमें उनकी यह भावना परिलक्षित होती है कि काव्य के बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के चारुत्वहेतु रूप धर्मों का विनिवेश हो जाय। अलंकार को उन्होंने काव्य के बाह्यसौन्दर्य के रूप में उपन्यस्त किया और गुण को आन्तरिक सौन्दर्य के हेतु के रूप में समाविष्ट करते हुए रीति से सम्बद्ध कर दिया, जिसे कि उन्होंने काव्य के आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। विशिष्ट पद रचना को उन्होंने रीति बताया[3] और वह विशेषता उन पदों के साथ सम्बद्ध गुण के रूप में रहती है।[4]

भामह ने शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य मानते हुए चारुत्व के लिए उसे वक्रोक्ति युक्त माना था। यहाँ वामन ने भी शब्द और अर्थ के मेल को काव्य माना है किन्तु उन शब्दार्थ के साथ गुणों और अलंकारों का होना आवश्यक माना है। गुण काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं और अलंकार उसे बढ़ाते हैं। पदों की गुणयुक्त रचना को रीति कहते हैं, जो काव्य का आत्मा है। अतः वामन ने गुण को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया है।

निष्कर्षतः वामन द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षण इस प्रकार है—"गुणालंकार युक्त शब्दार्थ काव्य है।"

---

१. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।— काव्यालंकारसूत्राणि ३.१.१

२. तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।—वही, ३.१.२

३. विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषवती पदानां रचना रीतिः।—वही, १.२.७ की वृत्ति

४. विशेषो गुणात्मा।—वही, १.२.८

दण्डी—

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण प्रदर्शित किया है। काव्य लक्षण करने के लिए भूमिका बाँधते हुए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा भी काव्यलक्षण किए जाने का उल्लेख किया है—

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।
तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः॥[१]

अर्थात् लोकव्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर आचार्यों ने विचित्र मार्गों से युक्त काव्यवाणी के रचना प्रकारों का वर्णन किया है। उनके द्वारा काव्य शरीर और अलंकार भी प्रदर्शित किए गए।

दण्डी ने उपर्युक्त कारिका में सम्भवतः अपने निकटवर्ती और पहले होने वाले आचार्य भामह की काव्यपरिभाषा की ओर संकेत किया है। आचार्य भामह काव्यशास्त्र के पितामह माने जाते हैं। उन्होंने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' लिखकर स्पष्टरूप से काव्य-शरीर (संरचना) का उल्लेख किया था। उनके पूर्ववर्ती आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में यद्यपि काव्य के मूलतत्त्वों का संकेत किया है तथापि काव्य को परिभाषित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। भामह ने न केवल काव्य को परिभाषित किया अपितु "काव्य-शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" कहकर काव्य के अलंकारादि धर्मों का निरूपण भी किया।

भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' लिखकर काव्यशरीर को शब्दार्थमय स्वीकार किया था। किन्तु उक्त लक्षण में आए हुए 'सहितौ' पद की व्याख्या नहीं की गई थी। दण्डी ने इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न, अपने काव्य-लक्षण को प्रस्तुत करके, किया। दण्डी द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षण इस प्रकार है—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।"[२] अर्थात् इष्ट (मनोरम हृदयाह्लादक) अर्थ से युक्त पदावली (शब्दसमूह) काव्यशरीर है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि दण्डी ने 'पदावली शरीर' कहकर शब्दसमूह को काव्य का

---

१. काव्यादर्श, १.९–१०
२. काव्यादर्श, १.१०

शरीर स्वीकार किया। किन्तु क्या केवल शब्द-समूह को काव्य माना जा सकता है ? केवल शब्द-समूह तो वाक्य भी नहीं हो सकता। वाक्य बनने के लिए भी आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि—इन तीन शर्तों की पूर्ति होनी अनिवार्य है। कहने का तात्पर्य है कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि युक्त पदसमूह ही वाक्य हो सकता है। इसीलिए दण्डी ने 'पदावली' के विशेषण के रूप में 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना' का प्रयोग किया। अर्थात् वह पदावली जो काव्यशरीर कही जा रही है, इष्टार्थ से युक्त हो। यहाँ 'इष्टार्थ' से दण्डी का क्या आशय है ?—इस प्रश्न के उत्तर में दो दृष्टियों का समन्वय है। प्रथम तो काव्यरचना करने वाले कवि की दृष्टि और द्वितीय, पाठक या श्रोता की दृष्टि। कवि अपने द्वारा दृष्ट अर्थ को शब्दों के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है। यह इष्ट अर्थ उसका अपना भाव (प्रतिभाव्युतपन्न कल्पनादि) हो सकता है अथवा कोई लौकिक अर्थ हो सकता है। स्वाभाविक है कि वह अपने इष्ट अर्थ को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्दों की योजना करता है। ऐसा करने में यह भाव के साथ ही सौन्दर्य का समावेश करता है। इस प्रकार वह शब्दयोजना इष्टार्थ युक्त पदावली के रूप में काव्य का स्वरूप ग्रहण करती है। दूसरी ओर पाठक या श्रोता भी काव्य से आह्लाद (आनन्द) प्राप्त करने की इच्छावाला होता है। अतः वह सुन्दर पदावली से व्यक्त सुन्दर अर्थ प्राप्त करने की अपेक्षा रखता है। अतः उसका इष्टार्थ है—आनन्द या लोकोत्तर आह्लाद। इस प्रकार दोनों दृष्टियों का समन्वय करने से 'इष्टार्थ' का अभिप्राय है— 'लोकोत्तर आह्लादजनक सुन्दर अर्थ।" अतः दण्डी की उक्त परिभाषा को हम इस प्रकार कह सकते हैं—लोकोत्तर आह्लादजनक सुन्दर अर्थ से युक्त शब्दसमूह को काव्य कहते हैं।"

निष्कर्ष रूप में यह कहना उचित होगा कि आचार्य दण्डी ने सर्व प्रथम काव्य में शब्द का प्राधान्य स्वीकार करते हुए शब्द को ही काव्य माना है। हाँ, उन्हें यह अवश्य अभिमत है कि वह शब्दसमूह इष्टार्थ युक्त हो। भामह की ही तरह दण्डी ने भी काव्य के शरीर का विचार तो किया किन्तु उसके आत्मा (प्राणभूत तत्त्व) का विचार नहीं किया। वामन ही, जैसा कि हम देख चुके हैं, ऐसे प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यशरीर का विचार करने के साथ ही उसके आत्मा के सम्बन्ध में भी विचार किया है।

रुद्रट—

रुद्रट के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' है। रुद्रट ने काव्यालंकार में काव्य का जो लक्षण दिया है, वह नितान्त सरल है। उन्होंने काव्य का लक्षण करते

हुए लिखा है—ननु शब्दार्थौ काव्यम् ।[1] रुद्रट शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों, जिन्होंने काव्यलक्षण किया है, की अपेक्षा रुद्रट का यह काव्यलक्षण सबसे संक्षिप्त है । इसमें रुद्रट ने काव्य के किसी व्यवच्छेदक धर्म का उल्लेख नहीं किया है । भामह ने भी जो काव्यलक्षण किया था उसमें 'शब्दार्थौ' के साथ 'सहितौ' लगाया था । फिर भी, जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा, उसे भामह का अभीष्ट काव्यलक्षण मानने को तैयार नहीं हैं । यदि हम शर्मा जी की दृष्टि से रुद्रट के काव्यलक्षण पर विचार करें, तो यह कथमपि काव्य का लक्षण नहीं बनता । शर्माजी के शब्दों में, यह लक्षण तो अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है और शब्दार्थमय कहने से तो केवल काव्य ही नहीं समस्त वाङ्मय का ग्रहण हो जाता है ।

रुद्रट के पूर्व भामह, दण्डी, वामनादि अनेक आचार्य काव्य का लक्षण कर चुके थे और प्रायः सबने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यलक्षण का अनुशीलन करके, उसकी कमियों की पूर्ति करते हुए तथा अपने लक्षण को उत्कृष्टतर बनाते हुए ही काव्यलक्षण किए हैं । फिर क्या रहस्य है कि रुद्रट ने सबकी ओर से आँख मूँदकर शब्दार्थमात्र को काव्य कह दिया । यदि यह कहा जाय कि वे अतिसंक्षिप्त और प्रपञ्चरहित लक्षण करना चाहते थे और व्यर्थ के झमेले से दूर रहना चाहते थे, तो यह भी कहा जा सकता है कि फिर काव्य का लक्षण करने की उन्हें आवश्यकता ही क्या थी ? यदि यह कहा जाय कि 'काव्यम्' के द्वारा उन्हें काव्य के व्युत्पत्तिलभ्य लक्षण को अन्तर्भुक्त मानना इष्ट था और कवि की रचना (निपुणकर्म) के द्वारा चमत्कारयुक्तता अथवा आह्लादजनकता स्वयंसिद्ध है; तो यह भी कहा जा सकता है कि फिर 'शब्दार्थमय' कहने की क्या आवश्यकता ? कवि की रचना होने से उसकी शब्दार्थमयता भी स्वयंसिद्ध है । कवि ईंटपत्थर से काव्य तो बनायेगा नहीं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रुद्रट को यद्यपि काव्य में शब्द और अर्थ का समभाव तो अभीष्ट है किन्तु उनका यह काव्य लक्षण स्पष्टता की दृष्टि से नितान्त अपूर्ण और अतिव्याप्ति दोष से युक्त है ।

आनन्दवर्धन—

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने शब्दार्थ या शब्दमात्र को काव्य का शरीर कहा था । साथ ही वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर काव्य

१. काव्यालङ्कार, २ १

आत्मा के सम्बन्ध में भी अपना मत व्यक्त कर दिया था। अतः अब आचार्यों का ध्यान काव्यशरीर के साथ-साथ काव्य के आत्मा के सम्बन्ध में भी आकृष्ट हुआ। काव्यलक्षण के सम्बन्ध में अपनी पूर्ववर्ती स्थिति की समीक्षा करते हुए ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है—कुछ लोग कह सकते हैं कि शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है। यह तो निर्विवाद है। 'तावत्' द्वारा इस विषय में ध्वनिवादी सहित सबकी सहमति सूचित की गई है। काव्य के शरीर-भूत शब्दार्थ के चारुत्वहेतु दो प्रकार के हो सकते हैं। एक स्वरूपगत और दूसरा सङ्घटनागत। उनमें शब्दगत चारुत्व हेतु अनुप्रासादि शब्दालंकार और अर्थगत चारुत्व हेतु उपमादि अर्थालंकार प्रसिद्ध ही है। साथ ही वर्णसङ्घटनाधर्म जो माधुर्यादि गुण हैं, वे भी प्रतीत होते हैं। उन अलंकार और गुणों से अभिन्न जो उपनागरिकादि वृत्तियाँ भी किन्हीं के द्वारा प्रकाशित की गई हैं, वे भी सुनी गई हैं और माधुर्यादिगुणों से अभिन्न वैदर्भी आदि रीतियाँ भी किन्तु उन सबसे भिन्न यह ध्वनि कौन सा पदार्थ है ?"[1] इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य के सम्बन्ध में अपने पूर्व प्रचलित मान्यताओं का उल्लेख किया है। इसका विश्लेषण करने पर हम यह देखते हैं कि आनन्दवर्धन भी शब्द और अर्थ को काव्यशरीर के रूप में स्वीकार करते हैं। 'शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्'—में प्रयुक्त 'तावत्' आनन्दवर्धन का स्वीकृतिसूचक है। 'तावत्' पद के प्रयोग के द्वारा ध्वनि-कार ने भी शब्दार्थ को काव्य-शरीर स्वीकार किया। इसके साथ ही उन शब्द और अर्थ के चारुत्वहेतुभूत शब्दालंकार और अर्थालंकार और गुणों को भी मान्यता प्रदान की है किन्तु उपनागरिकादि वृत्तियों और वैदर्भी आदि रीतियों को उन्होंने अलंकार-गुण से अभिन्न मानते हुए उसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत काव्यशरीर की धारणा यह है कि वे गुणालंकारयुक्त शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानते हैं। शब्दार्थ को काव्यशरीर मानने की स्वीकारोक्ति की पुष्टि वे आगे चलकर आठवीं

---

१. तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। तत्र शब्दगताश्चारुत्व-हेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुप-नागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भी-प्रभृतयः। तदव्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, प्रथम कारिका की वृत्ति।

कारिका और उसकी वृत्ति में करते है। उनका कथन है कि वह (प्रतीयमान) अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द इन दोनों को पहचानने का प्रयत्न महाकवि को करना चाहिए।[1] इसी को वृत्तिभाग में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह व्यंग्य अर्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द ही है, शब्दसामान्य नहीं अर्थात् सभी शब्द नहीं। अतः महाकवि को वही शब्द और अर्थ अच्छी तरह पहचानना चाहिए।[2]

इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का प्राथमिक काव्यलक्षण 'शब्दार्थ-शरीरं तावत् काव्यम्' ही है।

चूंकि काव्यात्मा का प्रश्न ही वामन के द्वारा काव्यस्वरूप की विचारसरणि में स्थान प्राप्त कर चुका था अतः आचार्य आनन्दवर्धन के समक्ष भी काव्य के आत्मा के निर्धारण का महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। जैसा कि हम देख चुके हैं, गुणों और अलंकारों को उन्होंने शब्दार्थ के चारुत्व का हेतु माना और वृत्तियों तथा रीतियों को उनसे अभिन्न मानते हुए उन्हें केवल सङ्घटनाधर्म के रूप में देखा, अतः इनमें से कोई भी काव्य के आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सका। इस प्रकार उन्होंने रीति को काव्य का आतमा मानने के वामन के सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया।

अतएव आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' को काव्य का आत्मा स्वीकार करते हुए दृढ़तापूर्वक उसके सम्भावित विरोध का परिहार किया तथा ध्वनि का निरूपण किया। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि वे अपने मत से नहीं अपितु प्राचीन अलिखित परम्परा के आधार पर ध्वनि को काव्य का आत्मा मानते हैं—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥[3]

---

१. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ — ध्वन्यालोक, १.८

२. स व्यंग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ।—वही, १.८ की वृत्ति।

३. ध्वन्यालोक, १,१

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार "ध्वनि" ही काव्य का जीवन धारक आत्मभूत तत्त्व है। उस आत्मरूप ध्वनि के बिना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव शरीर के समान अग्राह्य हैं। सुकवि द्वारा इष्ट अर्थ रूप वह ध्वनि चाहे वस्तुध्वनि हो, अलंकारध्वनि हो या रसध्वनि हो, आनन्दवर्धन ने सहृदय-श्लाघ्य इसी इष्टार्थ रूप ध्वनि को काव्य के आत्मा के रूपमें प्रतिष्ठित किया है।[1] इनमें से भी वे रसध्वनि को विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं।[2]

इसप्रकार आनन्दवर्धन की दृष्टि में, गुणालंकार युक्त शब्दार्थ काव्य है जिसका आत्मा ध्वनि है।

राजशेखर—

काव्यमीमांसा राजशेखर का अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें राजशेखर ने विलक्षण शैली में काव्यशास्त्र के विषयों का प्रतिपादन किया है। राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्य के शरीर, आत्मा, अलंकार, गुण, वृत्ति एवं प्रवृत्ति आदि का रूपक बाँधा था। किन्तु सभी की अपनी अलग-अलग मान्यताएँ थीं और आचार्यों की कल्पना में जो काव्य (पुरुष) था, उसका स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं था। राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की इस कल्पना को विशदतया साकार किया। काव्यमीमांसा में उन्होंने 'काव्यपुरुष' का वर्णन करते हुए लिखा—

"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरौ मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर प्रवाह्लकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति। भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति।"[3] अर्थात्,

"शब्द और अर्थ तुम्हारा शरीर है। संस्कृत-भाषा मुख है। प्राकृत भाषायें भुजायें हैं। अपभ्रंश भाषा जांघें हैं। पैशाची भाषा पैर है और मिश्र भाषायें वक्षःस्थल हैं। तुम सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी हो। तुम्हारी वाणी वक्रोक्ति के विलास से रम्य है। रस तुम्हारा आत्मा है और छन्द

१. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः—वही, १.२

२. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥—वही, १.५

३. काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय

तुम्हारे रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली आदि तुम्हारी वाक्क्रीडायें हैं। अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार तुम्हारी शोभा बढ़ाते हैं। भावी अर्थों को बताने वाली श्रुति भी तुम्हारी प्रशंसा करती है।"

'काव्यपुरुष' के सम्बन्ध में बाँधे गए इस रूपक के आधार पर हम राजशेखर की काव्यस्वरूप सम्बन्धी धारणा का अनायास ही ज्ञान कर करते हैं। अपने पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के समान ही राजशेखर भी शब्दार्थं को काव्य का शरीर अर्थात् बाह्य लक्षण स्वीकार करते हैं। काव्य का शरीरभूत वह शब्दार्थ गुणों और अलंकारों से युक्त हो तथा वक्रोक्ति का उसमें विशिष्ट सन्निवेश हो। ऐसे सुन्दर काव्य का आत्मा रस हो। हमने अभी देखा है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य का आत्मा माना था। किन्तु राजशेखर ने और अधिक स्पष्टता तथा रुचि प्रदर्शित करते हुए उस आत्मतत्त्व को और अधिक निश्चित कर दिया। उन्होंने तीनों प्रकार की ध्वनियों में से वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का त्याग कर केवल रस (ध्वनि) को ही काव्य का आत्मा स्वीकार किया।

इस प्रकार राजशेखर के अनुसार, "गुण और अलंकार से रुचिर चारु वक्रोक्ति से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है, रस जिसका आत्मा है"—यह काव्य का लक्षण स्थिर होता है।

कुन्तक —

कुन्तक का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' नाम से विख्यात है। ग्रन्थ के नामकरण से ही परिलक्षित होता है कि इन्होंने भामह द्वारा स्वीकृत काव्यचारुत्वहेतु रूप वक्रोक्ति को काव्य का जीवित अर्थात् प्राण माना है। इसी मान्यता को दृष्टि में रखकर उन्होंने काव्य का लक्षण किया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥[1]

आगे वृत्ति भाग में इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है—

"शब्दार्थौ काव्यं वाचको वाच्यं चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन चेत्केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि

१. वक्रोक्तिजीवित, १.७

काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। यस्माद् द्वयोरपि प्रत्येकं प्रतितिलामिव तैलं सद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्। तस्मात् स्थितमेतत् न…… शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्येति। तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्।''[1]

सारांशतया, कुन्तक का अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य होते है; न तो केवल शब्द काव्य होता है और न मात्र अर्थ ही काव्य होता है अपितु दोनों सम्मिलित रूप से ही काव्य होते हैं।

कुन्तक ने काव्य का जो लक्षण किया है, उसमें उनके पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों द्वारा किए गए लक्षणों का समावेश है। भामह का काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' स्पष्टतया कुन्तक के काव्यलक्षण में समाहित है। 'तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ' के द्वारा दण्डी की 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' और वामन की 'रीति' दोनों का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार 'वक्रकविव्यापारशालिनि' में आनन्दवर्धन की 'ध्वनि' और राजशेखर के 'रस' दोनों का अन्तर्भाव दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार कुन्तक ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के काव्यलक्षणों के मूलभूत तत्त्वों का कौशलपूर्वक समावेश अपने काव्यलक्षण में कर लिया है।

निश्चय ही कुन्तक ने अपने काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'सहितौ' पद को आचार्य भामह से लिया है। आचार्य भामह ने 'सहितौ' के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा था और न ही अब तक किसी ने उस 'सहितौ' की व्याख्या की थी। कुन्तक ने इस 'सहितौ' अर्थात् शब्द और अर्थ के 'साहित्य' का स्पष्टीकरण यहाँ किया है। उनका कहना है कि शब्द और अर्थ इन दोनों के सम्मिलित रूप में 'काव्य' मानने पर यदि कहीं इन दोनों में से किसी एक की थोड़ी सी भी न्यूनता हो जाय तो काव्यव्यवहार कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर देते हुए कुन्तक का कथन है कि 'सहितौ' का तात्पर्य है—सहित के भाव अर्थात् साहित्य से अवस्थित। यद्यपि यह सत्य है कि वाच्यवाचक (अर्थ और शब्द) सम्बन्ध के विद्यमान होते हुए इन दोनों का 'साहित्यविरह' किसी भी प्रकार नहीं हो सकता फिर भी यहाँ विशिष्ट ही साहित्य अभिप्रेत है। वह कैसा ? वह इस प्रकार का कि जिसमें उत्कर्ष हो। जिस प्रकार, सभी समान गुणों से युक्त दो मित्र परस्पर साथ रहते हैं, इसी प्रकार एक दूसरे की

१. वक्रोक्तिजीवित, १.७ की वृत्ति

शोभा के उत्कर्ष के लिए शब्द और अर्थ का साथ-साथ रहना साहित्य कहा जाता है।[1]

शब्द और अर्थ के इस साहित्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कुन्तक ने लिखा है—

"शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते॥
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥[2]

अर्थात् शब्द और अर्थ तो प्रतीति में सदैव साथ-साथ ही भासित होते हैं। फिर 'सहितौ' के द्वारा उनमें कौन अपूर्व विशेषता दिखाना अभीष्ट है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि शब्द और अर्थ के साहित्य का अभिप्राय काव्यसौन्दर्य के लिए उसकी न्यूनता या अधिकता से रहित मनोहर स्थिति होनी चाहिए। इसी को शब्द और अर्थ का साहित्य कहते हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा काव्यलक्षण को और अधिक विशद बनाने का प्रयत्न किया है। कुन्तक के अनुसार वह काव्य-लक्षण इस प्रकार कहा जा सकता है—"वक्रोक्ति समन्वित कवि की व्यञ्जना-व्यापारप्रधान तथा सहृदयों को आनन्दित करने वाली रचनाओं में व्यवस्थित शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य है।"

क्षेमेन्द्र—

काव्यशास्त्र में अपने 'औचित्यसिद्धान्त' की स्थापना के कारण क्षेमेन्द्र अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। 'औचित्यविचारचर्चा' नामक प्रख्यात ग्रन्थ में उन्होंने

---

१. एवमवस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्रन्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहारः प्रवर्तेतेत्याह—सहिताविति। सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ। ननु च वाच्यवाचकसंबंधस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथंचिदपि साहित्यविरहः, सत्यमेतत्। किंतु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम् वक्रताविचित्रगुणालंकारसंपदां परस्परस्पर्धाधिरोहः। तेन—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥

—वक्रोक्तिजीवित १.७ की वृत्ति।

२. वही, १.१६.१७

अपने इस सिद्धान्त की स्थापना की है। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अभीष्ट का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ।।
काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ।।
अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।।"[1]

अर्थात् काव्य की सुन्दर अनुभूति में चमत्कार उत्पन्न करने वाले, रस के प्राणस्वरूप औचित्य का विचार करते हैं।

जिस काव्य में विचार करने पर भी काव्य के प्राणस्वरूप औचित्य का दर्शन न हो, उस काव्य के अलंकारों से क्या (लाभ) ? और व्यर्थ में गुणों की गणना करने से क्या (प्रयोजन) ?

अलंकार तो अलंकार है और गुण भी गुण ही होते हैं। (किन्तु इन सबसे बढ़कर) रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन (प्राणभूत तत्त्व) तो औचित्य ही होता है।

जो जिसके योग्य होता है, वह उसके उचित कहा जाता है। कोई वस्तु एक स्थान पर उचित होती है तो वही वस्तु दूसरे स्थान पर अनुचित हो जाती है। इस उचित के भाव को ही 'औचित्य' कहते हैं (उचितस्य भावः औचित्यम्)। औचित्य सदैव सापेक्ष होता है। इसकी कोई स्वतंत्र प्रासंगिकता नहीं होती। यह सापेक्षता देश, काल, वस्तुप्रकृति, प्रकरण, प्रयोजन आदि रूप से अनेक प्रकार की हो सकती है। सापेक्ष होते हुए भी 'औचित्य' अत्यन्त व्यापक है। जिस प्रकार लोक में वस्तुविन्यास अथवा उक्ति प्रयोग में सदैव औचित्य का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार काव्य में भी औचित्य का अपना अलग अलग महत्त्व है। इसे बताते हुए क्षेमेन्द्र का कथन है कि—

उचित स्थान पर विन्यास होने से ही अलंकारों को अलंकार कहा जाता है। इसी प्रकार औचित्य से अपरिच्युत गुण ही गुण होते हैं। वस्तुतः उचित स्थान पर विन्यास होने पर ही अलंकार सुशोभित होते हैं और शोभा उत्पन्न

---

१. औचित्यविचारचर्चा, ३.४.५

करते हैं अन्यथा उन्हें अलंकार नाम ही नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार औचित्य से अपरिच्युतगुण ही गुणता प्राप्त करते हैं अन्यथा वे अगुण ही रहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

कण्ठ में मेखला, कमर में चंचल हार, हाथ में नूपुर तथा पैरों में केयूर धारण करने से, शरणागत के ऊपर पराक्रम दिखाने से तथा शत्रु के ऊपर दया दिखाने से भला कौन पुरुष हँसी का पात्र नहीं बनता? अस्तु, औचित्य के बिना न अलंकार और न ही गुण रमणीयता को प्रकट करते हैं।[1]

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य का महत्त्व और उसकी अनिवार्यता प्रदर्शित की है। अपनी काव्यधारणा के साथ इस औचित्य का अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए उनका कथन है—'परस्परोपकारकरुचिरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्योपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालंकारास्ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवदलंकारा एव बाह्यशोभाहेतुत्वात्। येऽपि काव्यगुणाः केचन तल्लक्षणविचक्षणैः समाम्नातास्तेऽपि श्रुतसत्यशीलादिवद्गुणा एव आहार्यत्वात्। औचित्यं त्वग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्। रसेन श्रृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्यैव यज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः।[2]

अर्थात् एक दूसरे का उपकार करने वाले शब्दों और अर्थों (सहभाव) रूप काव्य के बाह्यशोभा का हेतु होने के कारण उपमा, उत्प्रेक्षादि अनेक अलंकार कटक, कुण्डल, केयूर, हार आदि शरीर को सुशोभित करने वाले आभूषणमात्र होते हैं। काव्यलक्षणज्ञों ने जिन काव्यगुणों की गणना की है,

---

१. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः॥
अलंकृतिरुचितस्थानविन्यासादलंकर्तुं क्षमा भवति अन्यथा त्वलंकृतिव्यपदेशमेव न लभते। तदौचित्यादपरिच्युता गुणाः गुणतामासादयन्ति अन्यथा पुनरगुणा एव। यदाह—कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा

पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया मायान्ति ते हास्यता—
मौचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

—औचित्यविचारचर्चा, ६ एवं वृत्ति।

२. वही, १.५ की वृत्ति।

वे भी अस्थिर होने से किसी व्यक्ति में पाये जाने वाले श्रुत-सत्य-शीलादि के समान गुणमात्र होते हैं। किन्तु, औचित्य, काव्य का स्थिर एवम् अविनाशी प्राण (आत्मा) होता है। क्योंकि औचित्य के बिना गुणालंकारयुक्त भी काव्य निर्जीव होता है। जिस प्रकार रसायनों से पुष्ट व्यक्ति का जीवन स्थिर होता है उसी प्रकार शृंगारादि रसों से प्रसिद्ध हुए काव्य का स्थायी (नित्य) जीवन (आत्मा या प्राण) औचित्य होता है।

क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त प्रतिपादन से हम काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में निष्कर्ष इस प्रकार निकाल सकते हैं—

१. काव्य परस्पर उपकार करने वाले सुन्दर शब्दार्थमय शरीर वाला होता है।
२. अलंकार, उस काव्य के बाह्य शोभाकारक होते हैं।
३. उस काव्य के (अन्तः शोभाकारक) गुण भी अस्थिर होते हैं।
४. औचित्य उस काव्य का प्राण अर्थात् आत्मा है।
५. वह औचित्य काव्य में रससापेक्ष होता है अर्थात् रस के ही आधार पर उचित-अनुचित का निर्धारण होता है।

अनेक विद्वान्, क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षण के रूप में 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' अर्थात् रससिद्ध काव्य का स्थिर प्राण (आत्मा) औचित्य है, को उद्धृत करते हैं। किन्तु उनका ऐसा करना एकाङ्गी अतः असङ्गत है। वस्तुतः क्षेमेन्द्र ने काव्यलक्षण में उसके बाह्य और आन्तरिक दोनों तत्त्वों का समावेश किया है। उन्होंने परस्पर उपकारक (साहित्य भाव से युक्त) सुन्दर शब्दार्थ को काव्य का शरीर माना है। उसके शोभाधायक धर्मों, गुणों और अलंकारों को भी मान्यता प्रदान की है। ये मान्यतायें पारस्परिक हैं और क्षेमेन्द्र ने इन्हें अविकलरूप में स्वीकार किया है। इसके साथ ही वे काव्य को रससम्पृक्त मानते हैं और उसके प्राणभूत तत्त्व औचित्य के बिना अलंकार गुण आदि को व्यर्थ मानते हैं।

अतः क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य का लक्षण इस प्रकार है—गुणालङ्कार युक्त शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है और उस सरस काव्य का आत्मा औचित्य है।

अग्निपुराण—

अग्निपुराणकार ने काव्य का लक्षण करते हुए लिखा है—'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्।' अर्थात् इष्ट (सरस) अर्थ से

युक्त शब्दसमूह को काव्य कहते हैं। यहाँ इस लक्षण में यह बात विशेष रूप से कही गई है कि अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कम से कम किन्तु उपयुक्त शब्दों का चयन करके विरचित संक्षिप्त वाक्य द्वारा की जाय। प्रकारान्तर से अग्निपुराणकार ने कम से कम शब्दों द्वारा अधिक से अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति के कथन से काव्य में व्यञ्जनावृत्ति के प्राधान्य की ओर संकेत किया है।

अग्निपुराणकार का यह काव्यलक्षण निश्चय ही आचार्य दण्डी के लक्षण से प्रभावित है। प्रायः वही शब्दावली प्रयुक्त की गई है और काव्य की धारणा भी वही है। दण्डी के लक्षण की अपेक्षा यदि इस लक्षण में कोई मौलिकता है, तो मात्र 'संक्षेपाद् वाक्यम्' की योजना ही है। इसके द्वारा अग्निपुराणकार सम्भवतः काव्य में ऐसे वाक्यों की योजना को महत्त्व देना चाहते हैं जिसमें कम से कम शब्दों का प्रयोग करके अधिक से अधिक अर्थों की अभिव्यक्ति की जाय। निश्चय ही ऐसा कहते हुए वे काव्य में व्यञ्जनावृत्ति के प्राधान्य को सूचित करते हैं।

भोजराज—

भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के प्रारम्भ में काव्य का लक्षण किया है। वहाँ उन्होंने जिस कारिका की योजना इस अभिप्राय से की है, उसका स्वरूप ही विचित्र है। वस्तुतः वहाँ काव्य स्वरूप और प्रयोजन का मिश्रित रूप दृष्टिगोचर होता है। अन्य आलंकारिकों के समान न तो स्पष्टरूप से काव्य का लक्षण ही प्रतिपादित किया है और न ही काव्य का प्रयोजन ही सम्यग्रूपेण निर्दिष्ट है। वह कारिका इस प्रकार है—

"निर्दोषगुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति ॥"[1]

मजे की बात यह है कि चित्रमीमांसा में अप्पयदीक्षित ने इस कारिका को अग्निपुराण की मानते हुए उदधृत किया है। वस्तुस्थिति जो भी हो, यह कारिका सरस्वतीकण्ठाभरण में (भोजविनिर्मित) प्राप्त होती है और रत्नेश्वर ने इस कारिका के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई टिप्पणी किए बिना टीका भी की है। हो सकता है, भोजराज ने अग्निपुराण से इसे यथावत् ग्रहण कर लिया हो। फिर भी जैसा कि सभी विद्वान् मानते हैं, हम भी इसे भोजराज कृत काव्यलक्षण और काव्यप्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं। इस कारिका

१. सरस्वतीकण्ठाभरण १.२

का अर्थ है—'दोषहीन, गुणयुक्त, अलंकारों से विभूषित एवं सरस काव्य (की रचना) करता हुआ कवि यश और आनन्द प्राप्त करता है। वस्तुतः भोजराज का इस कथन से यह अभिप्राय परिलक्षित होता कि कवि तभी यश और आनन्द प्राप्त कर सकता है, जब उसका काव्य निर्दोष, गुणयुक्त, अलंकार-युक्त और रसान्वित हो। हमारी दृष्टि से भोजराज के इस कथन में हमें कहीं भी उनकी यह भावना नहीं दृष्टिगोचर होती कि वे काव्य का लक्षण करने जा रहे हैं। उनकी मुख्य दृष्टि काव्यप्रयोजन पर ही है। यह मानना अनुचित नहीं होगा कि उन्होंने काव्यलक्षण करने की ओर ध्यान नहीं दिया है। हाँ, यह बात दूसरी है कि उनके पूर्ववर्ती और समकालिक आचार्यों ने काव्य की जो विशेषतायें बताई थीं, उनका समन्वित संकलन भोज की उपर्युक्त कारिका में प्रसंगतः हो गया, जिन्हें भोज ने यहाँ 'काव्य' के विशेषण के रूप में समायोजित किया है। वहाँ भोजराज का मन्तव्य यह है कि कवि इन-इन विशेषताओं से युक्त काव्य का निर्माण करके ही यश और आनन्द प्राप्त कर सकता है।

ध्यातव्य और कौतूहलपूर्ण तथ्य यह है कि भोज ने काव्य की शब्दमयता, अर्थमयता या शब्दार्थमयता में से किसी का भी उल्लेख नहीं किया है। इस पक्ष पर ध्यान देने पर यह स्मरण हो जाना स्वाभाविक ही है कि भोजराज से पूर्व ही काव्यशरीर के सम्बन्ध में दो विचारधारायें समानान्तररूप से प्रवाहित हो रही थीं। कुछ आचार्य काव्य को शब्दमय मानते थे और कुछ आचार्य शब्दार्थमय मानते थे। भोजराज ने काव्य के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए ऐसा चातुर्य दिखाया कि इस प्रपंच से साफ निकल गए। उन्होंने केवल काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है। यदि हम उपर्युक्त कारिका में से भोज की काव्यविषयक धारणा जानना चाहें, तो इसका निष्कर्ष अवश्य निकल सकता है कि 'कवि का वह कर्म, जो उसे यश और आनन्द प्राप्त कराये, काव्य कहा जाता है।' किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि भोज की दृष्टि में काव्यशरीर क्या है—शब्द अथवा शब्दार्थ।

इस प्रसंग में तनिक भोजराजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण के मंगलाचरण[1] पर ध्यान देना आवश्यक है। वहाँ भोजराज ने ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य,

---

१. ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१

यह वाणी (वाङ्मय) का चार सूक्ष्म भेद किया है। कालिदासादि की तरह शब्द और अर्थ के नित्यसम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है।[1] किन्तु रत्नेश्वर ने सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका में यहाँ स्पष्टत: साहित्य को शब्दार्थ से सम्बद्ध कहा है। उन्होंने उक्त कारिका (मंगलाचरण) पर टीका करते हुए यह स्पष्ट किया है कि अर्थ तो लोक प्रसिद्ध है। अतः मुख्य रूप से शब्द के ही सम्बन्ध में संकेत किया गया है।[2]

यद्यपि भोजराज ने काव्यलक्षण में न तो शब्द का और न ही अर्थ का स्पष्टतः ग्रहण किया किन्तु साहित्य तो वाङ्मय ही है और मंगलाचरण मे ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य रूपा वाग्देवी की उपासना की गई है अतः शब्द का ग्रहण स्पष्ट ही है। अब रही अर्थ की बात। शब्द और अर्थ का नित्य-सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। यद्यपि लोक में शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं किन्तु काव्य में अर्थ तो शब्दात्मक ही होता है। किसी भी शब्द का अर्थ भी तो साहित्य में शब्द ही होगा, भले ही लोक में वह वस्तु या व्यापार (क्रिया) हो। अतएव प्राधान्य तो शब्द का ही होगा। भोजराज ने अर्थ की सत्ता स्वीकार न की हो, ऐसी बात भी नहीं है। उन्होंने स्पष्टतः ही अर्थालंकार मानते हुए उनके भेदों का विवेचन किया है। काव्य की जिन विशेषताओं की गणना की है उनमें 'अलंकारैरलंकृतम्' भी है। इस प्रकार काव्य में अलंकार (शब्दालंकार + अर्थालंकारादि) को स्वीकार करने वाले भोजराज अर्थ को भला कैसे अस्वीकार कर सकते हैं। किन्तु जैसा अभी हमने ऊपर कहा, काव्य में शब्द के प्राधान्य को स्वीकार करते हुए उन्होंने अर्थ के उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं समझी। साथ ही काव्य तो वाङ्मय ही है अतः शब्द को अलग से कहने की क्या आवश्यकता ? इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि भोजराज ने काव्य के शरीर को शब्दमय ही माना है।

---

१. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥—रघुवंश १.१

२. साहित्यं च शब्दार्थयोः सम्बन्धः। तत्र शब्द एव क इत्यपेक्षायामयं विभागे ध्वनिरित्यासि। अर्थस्तु स्तम्भकुम्भादिलक्षणो लोके शास्त्रे च प्रसिद्धः। संबंधः कश्चिदनादिः। सर्वस्वायमानस्तु सम्बन्धी नान्यत्रेत्यस्मिन्नायते।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१ पर रत्नेश्वरकृत टीका।

भोजराज रसवादी आचार्य हैं। यही कारण है कि उन्होंने काव्य में अलंकार की अपेक्षा गुण को ही वरीयता दी है।[1] क्योंकि गुण का रस से नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार के काव्य में अलंकार की स्थिति आवश्यक तो मानते हैं किन्तु अनिवार्य नहीं। इसी प्रकार रसहीन वाक्य उन्हें काव्य के रूप में सर्वथा अस्वीकार्य है।[2]

इस प्रकार भोजराज की काव्यधारणा का अनुशीलन करने के पश्चात् भोजसम्मत काव्यलक्षण को हम निष्कर्षरूप में इन शब्दों में कह सकते हैं—

"दोषहीन, गुणयुक्त, अलंकारभूषित सरस वाक्य, काव्य कहा जाता है।"

मम्मट—

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य का लक्षण प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'[3] काव्य का लक्षण है। यह 'तद्' सर्वनाम पद 'काव्य' का परामर्शक है। इस प्रकार 'शब्दार्थौ तत्' का अर्थ 'शब्दार्थौ काव्यम्' हुआ। मम्मटकृत काव्यलक्षण का अर्थ हुआ—'दोषों से रहित गुणसमन्वित और कदाचित् अलंकार रहित भी शब्द और अर्थ (सम्मिलित रूप से) काव्य कहे जाते हैं।' उक्त कारिकांश में प्रयुक्त 'अलङ्कृती पुनः क्वापि' के आशय को स्पष्ट करते हुए वृत्ति में मम्मट ने कहा है कि 'क्वापि' इस पद से यह कहा जा रहा है कि शब्द और अर्थ यद्यपि सब जगह (काव्य में) अलंकार सहित होना चाहिए किन्तु कहीं स्पष्ट रूप से अलंकार की सत्ता न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।[4]

---

१. अलंकृतमपि श्राव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्। गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकार-योगयोः।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.५

२. पश्यति स्त्रीति वाक्ये हि न रसः प्रतिभासते।
विलोकयति कान्तेति व्यक्तमेव प्रतीयते ॥४॥
नवोऽर्थः सूक्तिरग्राम्या श्रव्यो बन्धः स्फुटा श्रुतिः।
अलौकिकार्थयुक्तिश्च रसमाहर्तुमीशते ॥७॥—वही, ५.४ एवं ५.७

३. काव्यप्रकाश, १.४

४. क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः—वही, १.४ की वृत्ति।

मम्मट ने अत्यन्त ही स्पष्टतापूर्वक काव्यलक्षण का प्रतिपादन किया है। इससे उनकी काव्यस्वरूप विषयक धारणा का अनायास ही पता चलता है। सर्वप्रथम तथ्य तो यह है कि मम्मट ने काव्य को शब्दार्थमय स्वीकार किया है। केवल शब्द या केवल अर्थ, इनमें से कोई भी अकेले काव्य नहीं है। अपितु शब्द और अर्थ, ये दोनों मिलकर काव्य पद वाच्य होते हैं। इसीलिए मम्मट ने 'शब्दार्थौ' का प्रयोग किया है।

काव्यलक्षण में इस 'शब्दार्थौ' के तीन विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं— (१) अदोषौ, (२) सगुणौ और (३) पुनः क्वापि अनलंकृती। इससे मम्मट का अभिप्राय यह है कि (१) वे शब्द और अर्थ दोषरहित हों। (२) वे दोनों (शब्द और अर्थ) गुणयुक्त हों। उन्हें माधुर्यादि गुणों से युक्त होना चाहिए और (३) साधारणतया वे अलंकारों से युक्त भी हों किन्तु जहाँ काव्य में रसादि की प्रतीति हो रही हो, वहाँ यदि अलंकार नहीं भी है, तो कोई हानि नहीं है। इस प्रकार इन तीन विशेषताओं से युक्त शब्द और अर्थ की समष्टि को 'काव्य' कहते हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट के इस काव्यलक्षण का परवर्ती कुछ आचार्यों ने खण्डन भी किया है। इनमें आचार्य विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ और जयदेव प्रमुख हैं। अतः इस सम्बन्ध में भी विमर्श कर लेना उचित होगा तभी मम्मट के काव्य लक्षण का सही परीक्षण सम्भव है।

१. विश्वनाथकृत आलोचना—

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण में' मम्मटकृत काव्य-लक्षण में आये हुए 'शब्दार्थौ' के तीन विशेषणों 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का खण्डन किया है।

(क) 'अदोषौ' का खण्डन करने के लिए विश्वनाथ ने जो युक्तियाँ दी हैं, उनका सारांश यह है कि यदि दोषरहित शब्दार्थ को ही काव्य माना जाय तो इस प्रकार का नितान्त दोषरहित काव्य दुर्लभ है। किन्तु विश्वनाथ ने जिस भावना से 'अदोषौ' का खण्डन किया है, वह भावना ही अनुचित है। 'अदोषौ' में 'नञ्' समास है और 'नञ्' का प्रयोग ६ अर्थों में किया जाता है—नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः। अतः यहाँ 'अदोषौ' से दोष का नितान्त अभाव अभिप्रेत नहीं है। वस्तुतः कोई भी दोष स्वरूपतः एकान्तरूपेण दोष नहीं होता अपितु

जब वह रसापकर्षक होता है तभी दोष माना जाता है। रौद्रादि रस में जिन्हें हम गुण मानते हैं, वहीं श्रृंगार में दोष हो जाते हैं। अतएव काव्यप्रकाशकार का मात्र यही अभिप्राय है कि जो दोष प्रबल होने के कारण रसानुभूति में बाधक हों, उन दोषों के रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती। स्वयं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी इस बात को स्वीकार किया है—

"कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।[1]"

अर्थात् कीटानुविद्ध रत्न भी रत्न ही कहा जाता है, वैसे ही स्फुट रस की अनुभूति कराने वाले काव्य भी साधारण दोषों से युक्त होते हुए भी काव्य ही कहे जाते हैं। निःसन्देह आचार्य मम्मट का अभिप्राय इससे भिन्न नहीं है।

(ख) 'सगुणौ' का खण्डन करते हुए विश्वनाथ का कहना है कि गुण तो रस के धर्म हैं और रसाश्रित होते हैं। वे शब्द और अर्थ के धर्म तो होते नहीं। इसलिए उसमें कैसे रह सकते हैं ? ऐसी स्थिति में रस ही सगुण कहा जा सकता है, शब्द और अर्थ नहीं। अतः 'शब्दार्थौ के विशेषण के रूप में 'सगुणौ' का प्रयोग उचित नहीं है।

किन्तु विश्वनाथ का यह आक्षेप निराधार है। मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में गुण को रसधर्म ही स्वीकार किया है तथापि गौणवृत्ति से उसे शब्द और अर्थ से भी सम्बद्ध माना है। वहाँ अष्टम उल्लास में गुणों के सम्बन्ध में विचार करते हुए वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं—

गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।"[2]

इसीलिए उन्होंने सगुणौ को शब्दार्थौ का विशेषण बनाकर कुछ भी अनुचित नहीं किया।

(ग) विश्वनाथ का अन्तिम आक्षेप इस प्रसंग में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' पर है। मम्मट ने इसके उदाहरण के रूप में, "यः कौमारहरः.....इत्यादि जो श्लोक दिया है, विश्वनाथ ने उसमें खींचतान कर विभावना और विशेषोक्ति निकाल कर दिखाया है। विश्वनाथ ने जैसे इन दोनों अलंकारों की उक्त श्लोक में सत्ता सिद्ध की है, उसे मम्मट न जानते रहे हों ऐसा सम्भव नहीं। किन्तु

---

१. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

२. काव्यप्रकाश, ८.७१।

विश्वनाथ ने भी इन दोनों अलंकारों को अभावमुखेन निकाला है, भावमुखेन नहीं। इसीलिए मम्मट ने स्फुटालंकारविरह में काव्यत्व की हानि नहीं मानी।

२. पण्डितराज जगन्नाथकृत आलोचना—

रसगंगाधर में पण्डित जगन्नाथ ने भी आचार्य मम्मट के इस काव्यलक्षण का खण्डन किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण विश्वनाथ से सर्वथा भिन्न है। विश्वनाथ ने लक्षण में प्रयुक्त विशेषणों पर आपत्ति की है, जबकि पण्डितराज ने केवल विशेष्य अर्थात् "शब्दार्थौ" को अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है। उनकी आपत्ति यह है कि काव्यत्व, शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में नहीं रहता और न तो दोनों की व्यष्टि में ही पृथक्-पृथक् रहता है अपितु शब्द मात्र में ही काव्यत्व रहता है—"ननु प्रांचः शब्दार्थौ काव्यमित्याहुः, तत्र विचार्यते × × × अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तं प्रत्येक-पर्याप्तं वा।....... एको न द्वौ इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यत्व-मिति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।"[1]

पण्डितराज की युक्ति का सारांश यह है कि काव्यत्व, शब्द और अर्थ दोनों में मिलकर रहता है या प्रत्येक में अलग-अलग भी रह सकता है—यही विचारणीय है। इन दोनों में से पहला पक्ष नहीं बन सकता क्योंकि वैसी स्थिति में 'एको न द्वौ' की तरह यह श्लोक वाक्य तो है परन्तु काव्य नहीं—ऐसा व्यवहार होने लगेगा। दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं तभी, 'यह दोनों है'—ऐसा व्यवहार होता है और जब उनमें से एक ही उपस्थित रहता है, तब 'यह दो नहीं एक ही है'—इस प्रकार व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'यह श्लोक वाक्य है, काव्य नहीं' यह व्यवहार होने लगेगा। इसलिए काव्य को 'व्यासज्यवृत्ति' धर्म नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काव्यत्व को 'प्रत्येकपर्याप्त' अर्थात् शब्द और अर्थ में अलग-अलग रहने वाला धर्म भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वैसा होने पर एक ही श्लोक वाक्य में शब्द और अर्थ की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व हो जायगा। इस तरह एक ही पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होगा। फलतः काव्यत्व केवल शब्दनिष्ठ धर्म है।

पण्डितराज की इस आलोचना (खण्डन) का उत्तर नागेशभट्ट ने रसगंगाधर की स्वकृत टीका में दे दिया है। उनका तर्क है कि काव्यत्व का प्रयोजक जो

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन।

रसास्वादव्यंजकत्व है, वह शब्द अथवा अर्थ दोनों में सामान्य रूप से रहता है। काव्य को पढ़ा, काव्य को सुना, काव्य को समझा, इस प्रकार काव्यव्यवहार भी दिखाई पड़ने से शब्द और अर्थ दोनों की काव्यता प्रतीत होती है। अतः काव्य लक्षण दोनों में रहता है, एक में नहीं। काव्यत्व को व्यासज्य वृत्ति धर्म मानने पर ही 'तदधीते तद्वेद" (पाणिनि ५.२.५९) के भाष्य में भगवान् पतंजलि ने जो वेदत्व आदि को व्यासज्यवृत्ति धर्म माना है, उसकी संगति लगती है। इस प्रकार काव्यत्व तो मुख्यतः व्यासज्यवृत्ति धर्म है किन्तु लक्षण से केवल शब्द या केवल अर्थ में भी काव्यत्व माना जा सकता है। इसलिए 'एको न द्वौ' की तरह 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्'—इस प्रकार के व्यवहार का कोई अवसर नहीं आता। अतः अनुपहसनीय काव्यप्रकाशोक्त काव्यलक्षण को मानने में कोई बाधा नहीं है।[1]

३. जयदेवकृत आलोचना—

चन्द्रालोककार जयदेव ने काव्य का लक्षण करने के पश्चात् काव्यप्रकाशकार के द्वारा अनलंकृत शब्दार्थ को काव्य मानने पर कड़ी आपत्ति की है—

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥"[2]

अर्थात् अलंकाररहित शब्दार्थ को भी जो काव्य मानते हैं वे (मम्मटादि) (काव्यलक्षण करने वाले) चतुर व्यक्ति अग्नि को अनुष्ण (तापरहित) क्यों नहीं मान लेते। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अनुष्ण (तापरहित) अग्नि की कल्पना भी नहीं की जा सकती उसी प्रकार अलंकार रहित

---

१. आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदकधर्मत्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यतावच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितं, काव्यं श्रुतं, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अतएव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते तद्वेद' इति सूत्रस्थो भगवान् पतंजलिस्संगच्छते। लक्षणयान्तरस्मिन्नपि तत्त्वात् "एको ने द्वौ" इतिवत् न तदापत्तिः तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।

—रसगंगाधर में काव्यलक्षण की नागेशकृत टीका।

२. चन्द्रालोक, १.८

शब्दार्थ भी काव्य कैसे हो सकता है।' अतः काव्य को अलंकारयुक्त होना ही चाहिए। उसे अलंकाररहित मानना अनुचित है।

वस्तुतः जयदेव अलंकारों के पक्षपाती थे। तभी उनका ऐसा दुराग्रह था। उन्होंने काव्य में अलंकार की अनिवार्यता का जो तर्क दिया है उसका भी कोई औचित्य नहीं है। उष्णता तो अग्नि की शक्ति है, वह एक मात्र ऐसा धर्म है जिसकी समाप्ति के साथ ही धर्मी अर्थात् अग्नि भी समाप्त हो जाती है। अग्नि और उष्णता की परस्पर अभेदस्थिति होती है। अग्नि के बिना उष्णता नहीं और उष्णता के बिना अग्नि नहीं। अग्नित्व और उष्णत्व में भेद हैं ही कहाँ ? क्या ऐसी स्थिति काव्य और अलंकार की है ? इन दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है और सम्बन्ध भी दोनों में 'संयोग' से है न कि समवाय से। जैसे शरीर पर आभूषण धारण किये जाते हैं और नहीं भी किए जाते तो भी शरीर, शरीर ही रहता है, उसी तरह शब्दार्थ भी अलंकृत किए जाँय या न किए जाँय, उनके काव्यत्व को कोई हानि नहीं होती। अतः अनुष्ण अग्नि और निरलंकार काव्य-दन दोनों की परस्पर तुलना ही नहीं बनती। इस प्रकार जयदेवकृत यह आक्षेप निराधार एवं व्यर्थ है।

उपर्युक्त तीनों आचार्यों द्वारा किए गए आक्षेपों का समाधान प्रदर्शित करके समालोचकों ने सिद्ध कर दिया है कि काव्यप्रकाश के इस काव्यलक्षण का खण्डन उन आचार्यों के निजी पूर्वाग्रह का परिणाम है और उनकी कोई सार्थकता नहीं है।

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किए गए लक्षणों की अपेक्षा उनका यह काव्यलक्षण—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" अधिक परिमार्जित प्रतीत होता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने तत्तल्लक्षणों में काव्य के शब्दार्थ शरीर उसका आतमा रस, रीति या ध्वनि और उसके अलंकारों का निवेश तो किया किन्तु गुणदोष की कोई चर्चा ही नहीं की थी। आचार्य मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में 'अदोषौ' और 'सगुणौ' पद जोड़कर एक नया दृष्टिकोण तो प्रस्तुत किया ही, उस कमी को पूरी भी किया। काव्य कितना भी सरल और सुन्दर क्यों न हो किन्तु यदि उसमें कोई एक भी उत्कट दोष आ जाता है तो उस काव्य का गौरव ह्री क्षीण या समाप्त हो जाता है। मम्मट ने 'अदोष' को सर्वप्रथम रखकर काव्य में उसकी महत्ता को प्राधान्य दिया हैं। जैसे शरीर संस्कार में सर्वप्रथम दोषापनयन करने के बाद ही गणा-

धान और अलंकरण किया जाता है उसी प्रकार काव्यसंस्कार में भी सर्वप्रथम दोषापनयन आवश्यक है तदनन्तर गुणाधान। गुणाधान हो जाने पर यदि अलंकार नहीं भी होता तो व्यक्ति के शरीर की ही तरह, काव्य शरीर की भी कोई क्षति नहीं होती। किन्तु सदोष और निर्गुण व्यक्ति भी किस काम का ? भले ही उसका सारा शरीर आभूषणों के भार से दबा हो। इसीलिये मम्मट ने काव्य में अदोषता और सगुणता की अपरिहार्यता का प्रतिपादन किया है और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिखकर अलंकार की गौणता सूचित की है।

इस प्रकार स्वल्प शब्दों में भावगाम्भीर्य द्वारा मम्मट ने अपने काव्यलक्षण को सुन्दर और उपादेय बना दिया है।

वाग्भट—

आचार्य वाग्भट ने अपने ग्रन्थ वाग्भटालंकार में किंचित् शब्दान्तर के साथ मम्मट द्वारा किए गए काव्यलक्षण को ही उपस्थापित कर दिया है—

"शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम्।"[1] अर्थात् दोषरहित, गुण से युक्त तथा प्रायः अलंकारों से युक्त शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से काव्य कहे जाते हैं। यहाँ वाग्भट ने मम्मट के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' को 'प्रायः सालंकारौ' के रूप में उपस्थित किया है। दोनों के ही भाव समान हैं। इस प्रकार मम्मट और वाग्भट के काव्यलक्षणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है और वाग्भट ने इसे मम्मट से यथावत् ग्रहण कर प्रस्तुत कर दिया है।

जयदेव—

जयदेव प्रसिद्ध आलंकारिक थे। काव्य में अलंकारों के प्रति उनके अत्यधिक आग्रह को हम मम्मट कृत काव्यलक्षण के विमर्श प्रसंग में देख चुके हैं। जयदेव ने चन्द्रालोक में अपना अभीष्ट काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है। वे वाक्य को काव्य मानते हैं। इस दृष्टि से वे शब्दार्थवादी न होकर शब्दवादी सिद्ध होते हैं। उनके द्वारा किया गया काव्य-लक्षण इस प्रकार है—

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥"[2]

---

१. वाग्भटालंकार, पृ० १४

२. चन्द्रालोक, १.७

अर्थात्, सभी प्रकार के काव्यदोषों से रहित, अक्षरसंहत्यादि लक्षणों से युक्त, रीतियों समेत, गुणों से विभूषित, अलंकार समन्वित तथा वृत्तियों से युक्त सरस वाणी (वाक्य) काव्य कही जाती है ।

जयदेव के उपर्युक्त काव्य-लक्षण को देखने से प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने काव्यलक्षण को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की पूर्ण चेष्टा की है । जयदेव के काव्यलक्षण में कई ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जिनका आज तक किसी भी आचार्य ने अपने काव्यलक्षण में प्रयोग नहीं किया था । जयदेव की निर्दोषता तो मम्मट जैसी हैं । मम्मट ने शब्दार्थ को काव्य माना था किन्तु जयदेव ने शब्द को हो काव्य कहा है । उन्होंने निर्दोष शब्द और अर्थ को समन्वित रूप से काव्य माना था किन्तु जयदेव निर्दोष शब्दावली को ही काव्य मानते हैं । जयदेव मम्मट की ही तरह गुण और अलंकारों को भी काव्य में आवश्यक मानते हैं । जैसा कि हम देख चुके हैं, काव्य में अलंकारों की स्थिति अनिवार्यतः होनी चाहिए—ऐसा जयदेव का विशेष आग्रह है किन्तु मम्मट ने अलंकारों की अनिवार्य स्थिति नहीं मानी है । जयदेव ने काव्य की जिन सर्वथा नवीन विशेषताओं का ग्रहण किया है, वे हैं—लक्षण-युक्त होना, रीतियुक्त होना और अनेक वृत्तियों से युक्त होना । कई आचार्यों ने काव्य में रीति की स्थिति को स्वीकार किया है जिनमें से आचार्य वामन ने तो रीति को काव्य का आत्मा ही माना था । किन्तु लक्षणों और वृत्तियों को किसी भी प्रमुख आचार्य ने अपनी काव्यपरिभाषा में अब तक स्थान नहीं दिया था । भरत ने नाट्यशास्त्र में लक्षणों और वृत्तियों की चर्चा की है । जयदेव ने भी काव्य के लक्षणों (चिह्नों) का वर्णन चन्द्रालोक के तृतीय मयूख में किया है । जिस प्रकार सामुद्रिकशास्त्र में कथित विशिष्ट शारीरिक लक्षणों को देखकर व्यक्ति के गुण भाग्य स्वरूप का निश्चय किया जाता है, वैसे ही काव्य के इन विशिष्टलक्षणों को देखकर उसके स्वरूप का निश्चय किया जाता है । भरतोक्त छत्तीस लक्षणों में से जयदेव ने केवल अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, हेतु आदि दस लक्षणों का ही वर्णन किया है । जयदेव ने इन लक्षणों को काव्य में आवश्यक माना है । उनका कहना है कि "जिस प्रकार स्वर्ण के समान देदीप्यमान ललाट का होना आदि चक्रवर्ती राजा के सूचक होते हैं, उसी प्रकार काव्यमर्मज्ञ महर्षियों ने काव्य के अनेक लक्षण बताए हैं ।"[१] यहाँ (काव्यमर्मज्ञ) महर्षियों से आशय निश्चय ही भरत से है ।

१. इत्यादि लक्षणं भूरि काव्यमाहुर्महर्षयः ।
स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वप्रभृतीव महीभुजः ॥—चन्द्रालोक, ३.११

लक्षणों की ही तरह जयदेव ने वृत्तियों की स्थिति भी काव्य में आवश्यक मानी है। वृत्तियाँ तीन मानी गई हैं। प्रथम, नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त अभिनयों से सम्बद्ध कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती वृत्तियाँ। द्वितीय, शब्दशक्तियों से सम्बद्ध अभिधा, लक्षणा और व्यंजना वृत्तियाँ। तृतीय, चन्द्रालोक के षष्ठमयूख में जयदेव द्वारा वर्णित मधुरा, परुषा, ललितादि वृत्तियाँ।[1] काव्य के लक्षण में जयदेव द्वारा 'अनेकवृत्ति' कहे जाने का अभिप्राय यह है कि ये तीनों प्रकार की वृत्तियाँ काव्य में रहनी चाहिए।

इस प्रकार शब्दावली को काव्य मानते हुए जयदेव ने दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुवर्तन किया है। काव्य को निर्दोष, सगुण और सरस, सालंकार और रीतिमान् मानने में वे अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों से सहमत हैं किन्तु काव्य में लक्षणों एवं वृत्तियों का समन्वय, यह जयदेव की अपनी उद्भावना है। इस प्रकार जयदेव ने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करते हुए भी लक्षण और वृत्ति को समन्वित करके अपने काव्यलक्षण में मौलिकता लाने का प्रयास किया है।

विद्याधर—

यद्यपि विद्याधर ने एकावली में काव्यस्वरूप के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं तथापि उन्होंने अपने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति एकत्र और निश्चित अर्थ वाले किसी काव्यलक्षण का प्रतिपादन नहीं किया है। उन्होंने एक स्थान पर काव्य की व्युत्पत्तिपरक परिभाषा अवश्य दी है और कहा है कि कवि का कर्म काव्य कहा जाता है। कवि उसे कहते हैं जो वर्णन करे।[2] काव्य की ऐसी ही व्युत्पत्ति मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में प्रदर्शित की है। किन्तु उसके साथ ही उन्होंने सुसंस्कृत काव्य-लक्षण भी प्रतिपादित किया है। विद्याधर ने भी काव्य का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वह स्पष्टतः आनन्दवर्धन और मम्मट की काव्यमान्यताओं का अनुवर्तन करता है।

काव्य के सम्बन्ध में अपनी मान्यता व्यक्त करते हुए विद्याधर का कथन है—'ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मितमोरितम्।
शब्दार्थौ गुणतां नोत्वा व्यंजनप्रवणं यतः॥''[3]

---

१. चन्द्रालोक, ६.२३-२८

२. कवयत इति कविः। तस्य कर्म काव्यम्—एकावली, १.९ के पश्चात्।

३. एकावली, १.६।

अर्थात् ध्वनि प्रधान काव्य को कान्तासम्मित (उपदेश) कहा गया है क्योंकि उसमें शब्द और अर्थ गौण हो जाते हैं और व्यंजना व्यापार ही प्रधान हो जाता है।

जिस प्रकार प्रियतमा अपने कटाक्षादि से पुरुष को आह्लादित करती हुई व्यंजना व्यापार से ही स्वाभिमत सभी कार्य करा लेती है उसी प्रकार काव्य भी शब्दार्थोभयशक्तिमूल व्यंजनावृति के द्वारा सहृदयों को आनन्दित करते हुए सरसता सम्पादित करते हुए उन्हें कर्तव्यबोध कराते हैं।

आगे चलकर विद्याधर ने स्पष्ट रूप से काव्य के शरीर और आत्मा का प्रतिपादन किया है। उन्होंने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर तथा ध्वनि को उसका आत्मा माना है। वस्तुतः विद्याधर का काव्य लक्षण यही है।[१] इस काव्यलक्षण में मम्मट और आनन्दवर्धन के काव्यलक्षण का सुन्दर समन्वय हुआ है। यद्यपि उन्होंने काव्यलक्षण की अपेक्षा से दोष, गुण, रीति और अलंकारादि का कोई उल्लेख नहीं किया है किन्तु एकावली में उन्होंने इन सबका यथोचित निरूपण किया है। इससे प्रतीत होता है कि काव्य में उन्हें शब्दार्थ की निर्दोषता, सगुणता और समालंकारता अभीष्ट थी। रीतियों का निर्वाह भी उन्हें स्वीकार था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्याधर ने ध्वनिवादी आचार्यों की परम्परा में शब्दार्थ के सम्मिलित रूप को काव्य शरीर स्वीकार करते हुए उसके आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित किया है।

विद्यानाथ—

विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के काव्य प्रकरण के प्रारम्भ में काव्य-स्वरूप का निरूपण किया है। काव्य का लक्षण करने में उन्होंने प्रायः मम्मट का अनुसरण किया है। विद्यानाथ कृत काव्यलक्षण इस प्रकार है—

"गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ॥"[१]

अपने इस लक्षण को संक्षेप में ही और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने वृत्तिभाग में लिखा है—

---

१. [अ] शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभिधार्थध्वनिः।-वही, १.१३
[ब] शब्दार्थयोरेव काव्यत्वम्।—वही, द्वितीय उन्मेष का प्रारम्भ।
२. प्रतापरुद्रयशोभूषण, २.१

अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यमिति काव्यसामान्यलक्षणम् । अर्थात् "दोषरहित, गुणसहित, अलंकार युक्त शब्द और अर्थ (सम्मिलित रूप से) काव्य कहे जाते हैं—" यह काव्य सामान्य का लक्षण है ।

विद्यानाथ ने अपने काव्यलक्षण में 'शब्दार्थौ' के विशेषण के रूप में जिन तीन पदों का प्रयोग किया है उनके क्रम को देखने से यह ज्ञात होता है कि वे काव्य में शब्दार्थ की निर्दोषता को बहुत महत्त्व देते हैं । इसीलिए उसे प्रधानता दी है । निर्दुष्ट शब्दार्थ की योजना करने के अनन्तर उसमें गुणाधान करना उचित है । गुणों की युक्तता के द्वारा उन्होंने काव्य की रसमयता का भी आख्यान दिया है । अलंकारों के सम्बन्ध में विद्यानाथ की रुचि मम्मट जैसी ही प्रतीत होती है । क्योंकि इसे उन्होंने दोष और गुण के बाद तीसरे स्थान पर रखा है ।

काव्य सम्पत्ति के कथन द्वारा विद्यानाथ ने काव्य के समग्रस्वरूप को उसकी विशेषताओं के साथ प्रतिपादित किया है ।[1] उन्होंने शब्दार्थ को काव्य-शरीर के रूप में स्वीकार किया है और व्यंग्यवैभव अर्थात् ध्वनि को काव्य का जीवित (अर्थात् प्राण या आत्मा) कहा है । काव्य में अलंकारों की स्थिति गौण मानी गई है और विद्यानाथ ने शरीर पर हारादि की भाँति ही काव्य में अलंकारों की स्थिति स्वीकार की है। किन्तु गुणों की स्थिति अलंकारों से भिन्न है । वे आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले शौर्यादि की तरह माने गए तथा उन्हें आत्मोत्कर्ष का हेतु बताया गया है । रीतियों का कथन काव्य के स्वभाव के रूप में किया है । इसी प्रकार वृत्तियों, शय्या और पाक को भीं काव्य का आवश्यक तत्त्व बताया गया है । इनसे काव्यशोभा में वृद्धि होती है ।

---

१. शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यंग्यवैभवम् ।
हारादिवदलंकारास्तत्र स्युरुपमादयः ।।
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः ।
आत्मोकर्षावहास्तत्र स्वभावा इव रीतियः ।।
शोभामाहार्षिकीं प्राप्ता वृत्तयो वृत्तयो यथा ।
पदानुगुण्या विश्रान्तिः शय्या शय्येव संमता ।।
रसास्वादप्रभेदाः स्युः पाकाः पाका इव स्थिताः ।
प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसम्पदः ।।—प्रतापरुद्रयशोभूषण २.२–५

इस प्रकार यद्यपि काव्यसम्पत्ति के रूप में अनेक तत्त्वों का समावेश विद्यानाथ ने किया है तथापि मुख्यरूप से वे काव्य का शरीर शब्दार्थ को तथा आत्मा ध्वनि को मानते हैं। उनके अनुसार दोषरहित, गुणसहित और अलंकार युक्त शब्द और अर्थ (समवेततया) काव्य कहे जाते हैं।

विश्वनाथ—

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण प्रतिपादित किया है। स्वसम्मत काव्यलक्षण करने से पूर्व उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा लिए गए काव्यलक्षणों की समीक्षा की है और तदनन्तर अपनी दृष्टि से निर्दुष्ट लक्षण का प्रतिपादन किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों में से सर्वप्रथम मम्मट के काव्यलक्षण का जमकर खण्डन किया है। तत्पश्चात् वामन और आनन्दवर्धनादि के काव्यलक्षणों को भी अनुचित सिद्ध किया है। केवल कवि कर्म को ही काव्य मानने का निषेध करते हुए ध्वनिकार के मत को उद्धृत किया है कि कवि जो कुछ भी लिख दे, वह सब काव्य नहीं हो जाता। यदि कवि इतिहास ही लिख दे तो उस ग्रन्थ (इतिहास) को काव्यपद प्राप्त नहीं हो जाता। पूर्व आचार्यों के काव्यलक्षणों का खण्डन वहीं प्रथम परिच्छेद में द्रष्टव्य है। इस विवेचन में विश्वनाथ ने कुछ आचार्यों की 'काव्य-पुरुष-धारणा' से सहमति व्यक्त की है। जिसमें कहा गया है कि 'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रसादि आत्मा है, माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, दोष काणत्वादि की तरह, रीतियाँ अंगसंरचना की तरह और अलंकार, कटक-कुण्डल के समान होते हैं'।[1]

विश्वनाथ ने प्राचीन आचार्यों के काव्यलक्षणों का सम्यक् परीक्षण करने के पश्चात् स्वाभिमत काव्यलक्षण का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम् दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः॥[2]

अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य होता है। दोष उसके अपकर्षक होते हैं। गुणों, अलंकारों और रीतियों को काव्य के उत्कर्ष का हेतु कहा जाता है। हम

१. उक्तं हि-काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणः शौर्यादिव, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतियोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, इति—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

२. साहित्यदर्पण, १.३

देखते हैं कि विश्वनाथ की इस कारिका में पूर्वोक्त 'काव्यपुरुष' की धारणा का पूर्णतः समावेश दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त कारिका में से 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—' इतना ही अंश मुख्य रूप से काव्यलक्षण का प्रयोजक है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, 'सार अर्थात् सर्वप्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवनभूत (अर्थात् आत्मा) है, वह वाक्य रसात्मक कहा जाता है। क्योंकि रस के विना वाक्य के काव्यत्व का अभाव हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अर्थात् रस विहीन वाक्य को काव्य नहीं माना जा सकता। यहाँ इससे केवल शृंगारादि ही विवक्षित नहीं है अपितु उससे रस, रसाभास, भाव और भावाभासादि का भी ग्रहण है।'[१]

इस प्रकार विश्वनाथ ने 'सरस वाक्य को काव्य' स्वीकार किया है। अपने इस काव्य-लक्षण का प्रतिपादन करने से पूर्व ही वे इस शंका का निवारण कर चुके हैं कि महाकाव्यादि के अन्तर्गत आने वाले नीरस पद्यों की क्या स्थिति होगी।[२] वे काव्य माने जायेंगे या नहीं। विश्वनाथ का समाधान है कि जिस प्रकार सरस पद्य के कुछ नीरस पद उसी पद्य के रस से रसवान् माने जाते हैं, उसी प्रकार प्रबन्ध के रस से नीरसपद्यों में रसवत्ता मानी जाती है।[२] ध्यातव्य है कि यहाँ पद्य को गद्य का भी उपलक्षक मानना चाहिए अन्यथा 'गद्य काव्य' यह व्यवहार न हो सकेगा।

प्रबन्धों को महावाक्य मानने से[३] उनकी काव्यता सिद्ध ही है। विश्वनाथ ने काव्यलक्षण में रसात्मक वाक्य को काव्य माना है। अतः वाक्य क्या है— यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। इसीलिए द्वितीय परिच्छेद के आरम्भ में ही वाक्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है—

---

१. रस एवात्मा सारूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।—साहित्यदर्पण,

२. ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं। न स्यादिति चेत्, न। रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेनैव तेषां रसवत्ताया अंगीकरात्।—वही, १.३ से पूर्व वृत्ति।

३. वाक्योच्चयो महाकाव्यम्—वही, २.१ एवं वृत्ति

'वाक्य स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः' ।[1]

अर्थात् योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं। वस्तुतः वाक्य से अर्थ की सम्यक् प्रतीति के लिए ही इन तीनों विशेषताओं का होना अनिवार्य है अन्यथा सार्थक पदों का समूह भी निरर्थक होकर वाक्य नहीं बन सकेगा। जैसे राम, घर, पेड़, पानी, घोड़ा, अर्जुन जाता। यद्यपि यहां सार्थक पदों का समुदाय है। किन्तु इन्हें वाक्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आसत्त होनेपर भी ये पद परस्पर योग्यता, आकांक्षा से रहित हैं। अतएव इसका कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता।

जो पदार्थ जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधित न हो उसे योग्य कहते हैं। अतः पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध की बाधा के अभाव को योग्यता कहते हैं। वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा कहलाता है। आकांक्षा के बिना वाक्यार्थ ज्ञान का पर्यवसान नहीं होता। यह आकांक्षा भावरूप होती है, अभावरूप नहीं। इसी प्रकार प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के अविच्छेद अर्थात् अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं। आसत्ति का दूसरा नाम 'सन्निधि' भी है। प्रकरण से सम्बद्ध प्रयुज्यमान पदार्थों के बीच में स्थान या काल का व्यवधान न होना आसत्ति कहा जाता है। ये सभी—योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति, किसी भी पद समूह को वाक्य का स्वरूप प्रदान कर अर्थ की प्रतीति में आवश्यक एवं सहायक होते हैं। अतः निरर्थक पदसमूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अर्थ की प्रतीति कराने वाला पदसमूह ही वाक्य कहा जाता है। ऐसे ही सरसवाक्य काव्यपद को प्राप्त होते हैं।

अब चूंकि सार्थक पदसमूह ही वाक्य होता है अतः शब्द और अर्थ की नियत उपस्थिति हो गयी। अतः वाक्य वही है जो एक निश्चित अर्थ का बोध कराये। इस प्रकार विश्वनाथ ने भी वाक्य के कथन द्वारा प्रकारान्तर से शब्दार्थ को ही काव्य स्वीकार किया है। यही कारण है कि उन्होंने मम्मट के 'अदोषौ, सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का खण्डन किया किन्तु विशेष्य पद 'शब्दार्थौ' को स्पर्श भी नहीं किया।

---

१. साहित्यदर्पण—२.१

हेमचन्द्र—

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के प्रथम अध्याय में काव्य को परिभाषित किया है। सर्वप्रथम उन्होंने काव्य की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा प्रदर्शित की है—'कवि का लोकोत्तर कर्म काव्य कहा जाता है।' जैसा कि नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा कहीं गयी है। ऐसी प्रतिभा से अनुप्राणित और जीवन्त-वर्णन करने में दक्ष (व्यक्ति) कवि कहा जाता है। ऐसे कवि का कर्म ही काव्य कहा गया है।'[1]

आचार्यमम्मट ने भी काव्यप्रकाश में काव्य की यह व्युत्पत्तिपरक परिभाषा दी है।[2] उसका पूर्णप्रभाव हेमचन्द्र की इस काव्यपरिभाषा पर परिलक्षित होता है।

हेमचन्द्र ने मम्मट का ही सर्वतोभावेन अनुसरण किया है। यह उनके व्यवस्थित काव्यलक्षण को देखने मात्र से ज्ञात हो जाता है। हेमचन्द्र के अनुसार काव्य का लक्षण इस प्रकार है—

'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।'[3]

अर्थात् दोषरहित, गुणसहित और अलंकार से युक्त शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से काव्य कहे जाते हैं। लक्षण भाग में आये हुए 'च' को स्पष्ट करते हुए वृत्ति भाग में हेमचन्द्र का कथन है—'चकारो निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थः।' अर्थात् अलंकार रहित शब्दार्थ भी कहीं कहीं काव्य होते हैं—यही 'च' का अर्थ है। निश्चित रूप से हेमचन्द्र यहाँ मम्मट के—'अनलंकृती पुनः क्वापि को ही दुहरा रहे हैं।

'निरलंकारयोः' कहने से उसका अभिप्राय यह है कि गुणों के समान अलंकारों की काव्य में उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। अलंकार रहित होने पर भी काव्य गुणों के सद्भाव से अत्यधिक आनन्द प्रदान करता है किन्तु इसके विपरीत गुणरहित होने पर अलंकृत भी काव्य सुन्दर नहीं होता।

इस प्रकार हमने देखा कि आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षणों में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों ने प्रायः एक ही जैसे शब्दों का

१. काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय पृ० ३
२. काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणंकविकर्म।—काव्यप्रकाश, १.२ की वृत्ति
३. काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय, पृ० १९

प्रयोग करते हुए काव्यस्वरूप के सम्बन्ध में समान विचार प्रकट किए हैं। दोनों ही मुख्य रूप से 'शब्दार्थं' को काव्य मानते हैं। निश्चित ही हेमचन्द्र ने मम्मट के काव्यस्वरूप की धारणा को स्वीकार किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ—

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में जिस प्रकार काव्यप्रकाशकार के काव्य-लक्षण[1] का खण्डन किया है, इसे हम 'मम्मटकृत काव्यलक्षण' के प्रसंग में पहले ही देख चुके हैं। वहाँ उनका आक्षेप मूलतः 'शब्दार्थौं पर है। उनका कहना है कि शब्दार्थयुगल को काव्य नहीं मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। काव्य जोर से पढ़ा जाता है, काव्य से अर्थ जाना जाता है, काव्य सुना तो किन्तु उसका अर्थ नहीं समझ सका, इत्यादि विश्वव्यापी व्यवहारों से 'शब्दविशेष' ही काव्य सिद्ध होता है, न कि शब्दार्थयुगल।[2]

आगे पण्डितराज ने विश्वनाथ कृत काव्यलक्षण का भी खण्डन किया हैं। उनका कहना है कि साहित्यदर्पण में जो निर्णय किया गया कि रसवत् (वाक्य) ही काव्य है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि वाले (वाक्य) काव्य कहे ही नहीं जा सकेंगे। यदि कहें 'नहीं' तो हमारा स्वाभीष्ट कथन ही विरुद्ध हो जायगा। ऐसी स्थिति में महाकवियों का सम्प्रदाय ही उच्छिन्न हो जायगा। क्योंकि नदियों के वर्णन में उनके जल, प्रवाह, वेग से गिरने और आवर्तादि कवियों द्वारा वर्णित हैं। इसी प्रकार बन्दरों और बालकों की चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। यदि कहें कि इन वर्णनों में परम्परा प्राप्त रस है, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो 'गाय चलती है', 'मृग दौड़ता है'—इनमें भी परम्परया रस मानना पड़ेगा। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो किसी न किसी रस का विभाव, अनुभाव या संचारी

---

१. रसगंगाधर में उद्धृत लक्षण, 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्' वस्तुतः आचार्य हेमचन्द्र कृत काव्यलक्षण है।

२. शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्। मानाभावात्। काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च।—रसगंगाधर प्रथम आनन, पृ० २२

भाव न होता हो अतः ऐसा मानना काव्यत्व का प्रयोजन हेतु नहीं बन सकता ।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त रीति से पण्डितराज ने मुख्यतः काव्य को शब्दार्थ युगल मानने वाले आचार्यों तथा सरसवाक्य को काव्य मानने वाले आचार्य विश्वनाथ के काव्य लक्षणों की असाधुता प्रदर्शित कर उनका निषेध किया। यह सब खण्डन करने के पूर्व ही वे स्वाभिमत काव्य लक्षण का प्रतिपादन कर चुके थे—

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।"

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द, 'काव्य' कहा जाता है। यहाँ प्रतिपादक का अर्थ है प्रतिपत्तिजनक । क्योंकि जब तक रमणीय अर्थ के ज्ञान कराने वाले शब्द को नहीं जानेंगे, तब तक किस शब्द को काव्य कहेंगे। इसलिए लक्षण में आये 'शब्द' पद की लक्षणा 'शब्दज्ञानविषय शब्द' अर्थ में हुई। इस प्रकार रमणीय अर्थ के प्रतिपत्तिजनक शब्दजन्य ज्ञान के विषयभूत शब्द को काव्य कहते हैं। 'शब्द' का इसलिए ग्रहण किया गया अन्यथा रमणीय अर्थ के प्रतिपादक कटाक्ष-चेष्टादि में भी काव्यत्व की अतिव्याप्ति हो जाती। इस प्रकार मूलतः पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्दमात्र को काव्य स्वीकार किया।

चूँकि रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा, अतः रमणीय अर्थ क्या है – इस जिज्ञासा में रमणीय अर्थ (अर्थ की रमणीयता) का प्रतिपादन करते हैं—'जिस अर्थ का ज्ञान होने पर लोकोत्तर (अलौकिक) आह्लाद (आनन्द) मिले, वह अर्थ रमणीय है।' लौकिक आनन्द से विलक्षण, काव्य का आनन्द है। दोनों प्रकार के आनन्द का भेदक है यह लोकत्तरत्व। इस लोकोत्तरत्व को हम चमत्कारत्व से अनुभव कर सकते हैं जैसे—'तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ', 'तुम्हें धन

---

१. यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतं तन्न । वस्त्वलंकार-प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः (न चेष्टापत्तिः) महाकविसम्प्रदाय-स्याकुलीभावप्रसंगात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कवि-भिर्वर्णितानि । कपिबालादि विलासितानि च । न च तत्रापि यथाकथंचित्प-रम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम् ईदृशरसस्पर्शस्य, 'गौश्चलति', 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्य-भिचार्यन्यतमत्वादिति दिग् ।

रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ४४-४६

दूंगा' इत्यादि वाक्यार्थों से भी आनन्द होता है। किन्तु इसे हम लोकोत्तर आनन्द नहीं कह सकते। इसलिए इन वाक्यों में काव्यत्व नहीं है।'[१]

आगे पण्डितराज ने न्यायशैली पर काव्य का निष्कृष्ट लक्षण प्रतिपादित किया है उनके अनुसार, 'जिस आनपूर्वी वाले शब्द के अर्थ की भावना का धर्म भावनात्व चमत्कारजनकता का अवच्छेदक हो, ऐसे भावनात्व से विशिष्ट भावना के विषय अर्थ के प्रतिपादक उस आनपूर्वी वाले शब्द को काव्य कहते हैं।' संक्षेप में इस काव्यलक्षण को पुनः प्रस्तुत करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है—

'स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।'[२]

इस प्रकार निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि पण्डितराज जगन्नाथ ऐसे शब्द को काव्य मानने के पक्षपाती हैं जो अतिशयचमत्कारजन्यता के कारण अर्थ की रमणीयता अर्थात् लोकोत्तर आह्लादकता को उत्पन्न कर सके।

यहाँ हम यह देखते हैं कि विश्वनाथ की ही तरह पण्डितराज ने भी अपने काव्यलक्षण में स्पष्टतः गुण, दोष और अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने विशुद्धतया काव्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। क्योंकि काव्य के लक्षण में काव्यत्व ही प्रधान है। शेष तत्त्व (धर्म) तो गौण हैं। जैसे मानव जीवित होते हुए भी' 'मानवता' के बिना मानव पद वाच्य नहीं है उसी प्रकार आत्मा, गुण, अलंकार से युक्त भी काव्य बिना 'काव्यत्व' के भला काव्य कैसा ? इसीलिए अन्त में निष्कर्षतः पण्डितराज ने अतिशयचमत्कारजन्यता अर्थात् लोकोत्तर आह्लादकता को ही 'काव्यत्व' कहा है।

अभी हमने काव्यस्वरूप पर विचार किया और काव्यशास्त्र के भारतीय आचार्यों की काव्यधारणा की समीक्षा की। यद्यपि कुछ ने काव्य शरीर के रूप में केवल शब्द को ही माना किन्तु अधिकांश ने शब्द और अर्थ दोनों को

---

१. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। 'पुत्रस्ते जातः', 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्। अतो न तस्मिन्वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः।'—रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० १४-१६

२. वही, पृ० १८-१९

सम्मिलित रूप से काव्य शरीर के रूप में मान्यता प्रदान की है। वस्तुतः शब्द और अर्थ का नित्यसम्बन्ध होता है और एक के ग्रहण करते ही दूसरा स्वयम् उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि जो अर्थ होता है वह भी साहित्य में शब्दरूप में ही अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार महाकवि कालिदास की भावना के अनुरूप[1] हम भी शब्द और अर्थ को परस्पर सम्पृक्त मानते हुए कतिपय वैशिष्ट्यों के साथ उसे काव्य स्वीकार करते हैं और उसके आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित मानते हैं।

काव्यभेद

मुख्यरूप से काव्य के दो भेद होते हैं—अनुभूतिपक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष। इन्हें हम क्रमशः भावपक्ष और कलापक्ष भी कह सकते हैं। काव्य में दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। कवि में जबतक नैसर्गिक रूप से भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा नहीं होगी, वह काव्य का निर्माण करने में असमर्थ होगा। कवि अपनी इस प्रतिभा के बल से ही न केवल वर्तमान अपितु अतीत और अनागत, समस्त पदार्थों को सम्यग् देखने-समझने की शक्ति रखता है तथा देखकर वह उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। वह चराचर जगत् के आभ्यन्तर एवं बाह्य स्वरूपों को अपने ज्ञान की परिधि में समेट लेता है। इस दर्शन (अनुभूति) को जब वह रससिक्त वाणी से अभिव्यक्त करता है, तो उसकी वह अभिव्यक्ति ही काव्य कही जाती है और वह कवि कहे जाने का अधिकारी होता है। भट्टतौत की यह उक्ति समीचीन ही है, जिसके द्वारा उन्होंने कवि में दर्शनात्मक तथा वर्णनात्मक सामर्थ्य होना बताया है।[2] इस प्रकार दर्शन, कवि का आन्तरिक तथा वर्णन, कवि का बाह्य गुण है। कवि के लोकोत्तर कर्मभूत काव्य में दर्शन, अनुभूति या भावपक्ष और वर्णन, अभिव्यक्ति या कलापक्ष कहा जायगा।

जब हम काव्य के वर्गीकरण या उसके भेदों के संबंध में विचार करते हैं तब सर्वप्रथम यह प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि इसका आधार क्या है ?[2] चित्त में यह प्रश्न आते ही इसका उत्तर जो सहसा उद्‌बुद्ध होता है, वह यह कि

---

१. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥—रघुवंश, १.१

२. दर्शनाद्‌वर्णनाच्चाथ लोके रूढा कविश्रुतिः।—काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ३७९

इसका मूल आधार तो स्वयं कवि ही है। कवि की अनुभूति भी अभिव्यक्ति-प्रकार के अनुसार ही काव्य का आकार धारण करती है। फलतः कवि के अभिव्यक्ति प्रकार के आधार पर काव्य के अनेक भेद हो जाते हैं। काव्य के विविध तत्त्वों और पक्षों पर विचार करते हुए भारतीय काव्यशास्त्र मनीषियों ने काव्य भेदों की भी सम्यग् मीमांसा की है। समस्त साहित्यशास्त्र का पर्यवेक्षण करने पर काव्य भेदों के मुख्य रूप से ६ आधार दृष्टिगोचर होते हैं—

१. आकृति का आधार। २. बन्ध का आधार।
३. भाषा का आधार। ४. अर्थ की रमणीयता का आधार।
५. इन्द्रियग्राह्यता का आधार। ६. विषय (वस्तु) आधार।

यहाँ हम इनका क्रमशः विवेचन करेगें।

१. आकृति के आधार पर आचार्य भामह, वामन और विश्वनाथ प्रभृति ने काव्य को गद्य और पद्य—दो प्रकार से विभक्त किया है।[1] किन्तु आचार्य दण्डी, वाग्भट, अग्निपुराणकार, भोजराज आदि आचार्यों ने काव्य के तीन भेद—गद्य, पद्य और मिश्र किये हैं।[2]

आचार्यों द्वारा दिये गये लक्षणों के अनुसार गद्य काव्य वह सार्थक पद समूह होता है, जिसमें छन्दोबद्धता नहीं होती। कथा आख्यायिका आदि का परिगणन इसके अन्तर्गत होता है।[3]

पद्य काव्य वह है जिसमें पद छन्दोबद्ध होते हैं।[4] इसके अन्तर्गत महाकाव्य खण्डकाव्य एवं मुक्तकों का परिगणन किया जाता है। मिश्रकाव्य उसे कहते हैं जिनमें गद्य और पद्य दोनों का योग होता है।

यद्यपि विश्वनाथ ने आकृति के आधार पर श्रव्य काव्य के गद्य और पद्य ये दो ही काव्यभेद किये हैं किन्तु उन्होंने 'चम्पू' काव्य को परिभाषित करते हुए उसे गद्य-पद्य-मिश्रित रचना कहा है।[5] हेमचन्द्र ने भी गद्यपद्यमयी रचना को

---

१. काव्यालंकार, १.१६, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.२.३६, साहित्यदर्पण ६.३१३
२. काव्यादर्श, १.११, अग्निपुराण, ३६३, सरस्वतीकण्ठाभरण २.१८ आदि
३. काव्यादर्श, १.२३, साहित्यदर्पण, ६.३३०
४. काव्यादर्श, १.११ साहित्यदर्पण ६. ३१४
५. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।—साहित्यदर्पण, ६.३३६

'चम्पू' कहा है।[1] दण्डी ने यद्यपि रूपकों को मिश्र काव्य माना है किन्तु साथ ही चम्पू को भी मिश्रकाव्य के अन्तर्गत रखा है।[2]

इस प्रकार आकृति के आधार पर श्रव्य काव्य को तीन प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—गद्य, पद्य और मिश्र। यद्यपि दण्डी ने नाटकों को मिश्र काव्य के अन्तर्गत ही माना है। किन्तु यह उचित नहीं है। प्रथमतः तो रूपक श्रव्य नहीं, दृश्य काव्य हैं। द्वितीयतः मिश्र काव्यों के लिए मात्र गद्यपद्यमयता ही आवश्यक नहीं है। ऐसा मान लेने पर तो ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थ मिश्र-काव्य माने जायेंगे। जबकि स्थिति यह है नहीं। रूपकों में गद्य का प्रयोग केवल संवादों के रूप में होता है जबकि मिश्र काव्यों में गद्य का प्रयोग काव्यगत अर्थ-गौरवादि वैशिष्ट्य के विधान के लिए किया जाता है।

२. बन्ध के आधार पर आचार्य दण्डी ने काव्य के सर्गबन्ध, मुक्तक, कुलक कोश और संघात—ये पाँच भेद किये हैं। इन्होंने पद्यकाव्य में सर्गबन्ध महा-काव्य को मुख्य माना है। शेष चार मुक्तक, कुलक, कोश और संघात में से प्रथम दो को महाकाव्य का अंग मानते हुए उनका लक्षण नहीं प्रस्तुत किया है। अग्निपुराण में पद्य काव्य के महाकाव्य, कलाप, पर्यायबन्ध, विशेषक, कुलक, तथा कोश—ये सात भेद प्रदर्शित किये गये हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में पद्यकाव्य के सर्गबन्ध (महाकाव्य), खण्डकाव्य, मुक्तक, युग्मक, सान्दानिकतक, कलापक, कुलक के अतिरिक्त काव्य एवं कोश नामक भेदों का भी उल्लेख किया है।[3] विश्वनाथ ने गद्य के भी चार भेद—उत्कलिकाप्राय, मुक्तक, चूर्णक और वृत्तगन्धि—बन्ध के आधार पर बताये हैं।[4]

३. कतिपय आचार्यों ने भाषा के आधार पर भी काव्य का वर्गीकरण किया है।[5] किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण उचित नहीं है। क्योंकि किसी एक भाषा में विरचित समस्त काव्य जब एक प्रकार का काव्य माना जायेगा, तो उससे

---

१. गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा चम्पू।—काव्यानुशासन पृ० ४०८

२. मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते॥—काव्यादर्श, १.३१

३. साहित्यदर्पण, ३.३१४-१५ एवं ३२९

४. वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
एतदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥—साहित्यदर्पण, ६.३३०-३१३

५. काव्यालंकार, १.१६; काव्यादर्श, १०३२

काव्य की किसी भी विधा का बोध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त जितनी भाषायें है उतने काव्यभेद मानने पड़ेगें। यह अव्यावहारिक है। आपत्ति तो तब होगी जब एक भाषा में विरचित काव्य दूसरी भाषा की दृष्टि से अकाव्य सिद्ध होगा। यह हास्यास्पद है। प्राचीन काल में भी और अधुना भी, किसी एक भाषा में विरचित काव्यों के विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद करके उन्हें काव्य का गौरव प्रदान किया गया। पंचतन्त्र और गीता आदि ग्रन्थों के अनुवाद तो प्रायः विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में हो चुके हैं। हमारे लक्षण ग्रन्थों में प्राकृत-पालि की गाथाओं की संस्कृत-च्छाया देने की परम्परा प्राचीन काल से ही रही है। अतः भाषा के आधार पर काव्य-भेद करना तर्कसंगत नहीं है। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि किसी एक भाषा में विरचित काव्य के समान ही अन्य भाषा में विरचित काव्य की संज्ञा भिन्न हो। जैसे, संस्कृत में रचित 'नाटिका' को ही प्राकृत में रचे जाने से 'सट्टक' कहते हैं।

४. अर्थ की रमणीयता के आधार पर बहुधा आचार्यों ने काव्य का वर्गीकरण किया है। इस प्रकार के वर्गीकरण का भेदक तत्त्व काव्य में व्यंग्यार्थ की स्थिति को माना गया है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में सहृदयाह्लादक काव्यार्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य और प्रतीयमान।[1] आचार्य मम्मट ने इस आधार पर काव्य के तीन भेद माने हैं। जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है, वह उत्तम (ध्वनि काव्य) कहा गया है।[2] जिस काव्य में व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी नहीं होता, उसे गुणीभूत-व्यंग्य (मध्यम) काव्य कहते हैं।[3] जिसमें व्यंग्यार्थ का अभाव होता है वह अधम काव्य—शब्दचित्र और अर्थचित्र—दो प्रकार का होता है।[4]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार काव्य के दो ही भेद—ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूतव्यंग्यकाव्य होते हैं। 'चित्रकाव्य' नामक भेद रसात्मकवाक्य की परिधि में न आने से काव्य नहीं माना जा सकता।[5]

---

१. वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।—ध्वन्यालोक, १.२
२. इदमुत्तममतिशायिनी व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।—काव्यप्रकाश, १
३. अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्।—वही, १
४. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।—काव्यप्रकाश, १
५. काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम्।—साहित्यदर्पण, ४.१

पंडितराज ने उक्त आधार पर काव्य के चार भेद स्वीकार किए हैं-उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम काव्य।[1]

वस्तुतः अर्थ की रमणीयता काव्यगत एक श्लोक, श्लोकांश अथवा गद्यांश में भी रहती है। ऐसी स्थिति में एक काव्य क्या, एक ही श्लोक अथवा गद्यखंड में काव्य के उपर्युक्त दोनों, तीनों या चारों भेद रह सकते हैं। काव्य का यह वर्गीकरण सम्पूर्ण काव्यजगत् को अपनी परिधि में समेट लेता है किन्तु उसके आधार पर काव्य के विभिन्न स्वरूपों का साक्षात्कार नहीं हो पाता।

५. इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर काव्य के दो भेद बनते हैं—दृश्य तथा श्रव्य। दृश्यकाव्य में काव्य की वे समस्त विधायें आ जाती हैं जिनकी अभिनेयता है और जिन्हें 'रूपक' की संज्ञा प्रदान की गयी हैं। 'दृश्य' का अर्थ ही है देखने योग्य। जिस काव्य का आनन्द हम अपने नेत्रों से देखकर प्राप्त कर सकते हैं, वे दृश्य काव्य कहे जाते हैं। दृष्टि (दर्शन) के प्रामुख्य के कारण ही इसे दृश्यकाव्य कहा जाता है, जबकि इसमें श्रवण (श्रव्यता) का भी योग होता है। किसी भी रूपक का पूर्ण आनन्द हमें तब तक नहीं प्राप्त होता जब तक हम रूपकों के दृश्याभिनय को देखने के साथ उसकी विषयवस्तु का श्रवण न करें। इसी आधार पर 'काव्येषु नाटकं (रूपकं) रम्यम्' उक्ति की सार्थकता है। इसके विपरीत, जिस काव्य का आनन्द केवल पढ़कर या सुनकर प्राप्त किया जाय, उसे श्रव्यकाव्य कहते हैं। इसके अन्तर्गत गद्य, पद्य और मिश्र काव्यों की गणना की जाती है।

६. प्रतिपाद्य विषय (वस्तु) के आधार पर भी काव्य का वर्गीकरण किया गया है। आचार्य भामह ने इस आधार पर काव्य के चार भेद किए हैं—१. देवादि के वृत्त से सम्बद्ध (ख्यातवृत्त), २. कल्पितवस्तु से सम्बद्ध, ३. कलाश्रित और ४. शास्त्राश्रित।[2] भामह के द्वारा किए गये उपर्युक्त चारों भेदों में से प्रथम दो भेद पर्याप्त प्रसिद्ध हैं और परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य भी हैं किन्तु अन्तिम दो भेदों को अन्य आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। भामह से अनुसार संगीत आदि कलाओं पर आश्रित तथा व्याकरण आदि शास्त्रों से

---

१. तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।—रसगंगाधर, पृ० ६१

२. वृत्तिदेवादिचरितशांसि चोत्पादयवस्तु च।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः॥—काव्यालंकार, १.१७

सम्बद्ध काव्यों की भी रचना की जा सकती है और इसी आधार पर कलाश्रित एवं शास्त्राश्रित काव्यभेद भिन्न होते हैं। किन्तु भामह ने इस सम्भावना के के अतिरिक्त कोई स्पष्ट प्रामाणिक आधार नहीं दिया और व्यवहारतः भी ऐसे, काव्यभेद उपलब्ध नहीं हो सके। इसीलिए आचार्यों द्वारा ये काव्यभेद समादृत न हो सके। सम्भव है, भामह ने नाट्यशास्त्र और भट्टि काव्य (व्याकरणशास्त्र से सम्बद्ध) को देखकर ऐसी सम्भावना की हो और कलाश्रित तथा ज्ञानाश्रित भेद कल्पित किए हों। परवर्ती साहित्य में शास्त्राश्रित प्रबोधचन्द्रोदय आदि (नाटक) रचनायें अवश्य की गयी हैं।

आचार्य रुद्रट ने वस्तु के आधार पर प्रबन्ध अथवा काव्य के प्रथमतः दो भेद—उत्पाद्य और अनुत्पाद्य करके पुनः उन दोनों के लघु और महान् दो भेद किये हैं।[1]

भोजराज ने भी प्रतिपाद्य विषय के आधार पर श्रव्यकाव्य के ६ भेद किए हैं।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त रीति से संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों द्वारा किये गये काव्यवर्गीकरण को हमने संक्षेप में प्रस्तुत किया। उसमें से भाषा, वस्तु और अर्थ की रमणीयता के आधार पर किए गये वर्गीकरणों में सम्पूर्ण काव्य जगत् अन्तर्मुक्त हो जाता है किन्तु उनके द्वारा काव्यविधाओं का बोध नहीं हो पाता। बन्ध की दृष्टि से किये गये काव्यभेद की परिधि में पद्यकाव्य ही आ पाते हैं। आकृति के आधार पर किये गए वर्गीकरण में गद्य, पद्य एवं मिश्र काव्य आते हैं। आचार्य दण्डी ने इन तीनों काव्यभेदों में से मिश्र के अन्तर्गत नाटकादि (दृश्यकाव्य) का भी ग्रहण कर लिया है किन्तु विश्वनाथादि आचार्यों ने इन तीनों भेदों को केवल श्रव्य काव्य के लिये ही स्वीकार किया है। और मिश्र काव्य के रूप में 'चम्पू' को उद्धृत किया है।

इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर किया गया काव्यभेद—श्रव्य और दृश्य ऐसा है, जिसकी परिधि में समस्त काव्यविधायें आ जाती है। ये दोनों भेद अन्वर्थक

१. रुद्रट काव्यालंकार, पृ० ४१३

२. काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासःशास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण, २.१३९

संज्ञाओं वाले हैं और इनका विस्तृत परिचय पीछे दिया जा चुका है। इन दोनों का अपना अलग-अलग महत्त्व है किन्तु रसास्वादन (आनन्दानुभूति) की दृष्टि से दृश्यकाव्य की रमणीयता और श्रेष्ठता सर्वोपरि है—यह असंदिग्ध है। विश्वनाथ, सागरनन्दी आदि 'दृश्य' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। हेमचन्द्र, भोजराज आदि 'प्रेक्ष्य' का प्रयोग करते हैं। रामचन्द्र ने 'अभिनेय' कहा है जबकि भामह ने उसे 'अभिनेयार्थ' ही प्रयोग किया है।

काव्यधर्म

वस्तुतः काव्य भी एक प्रकार का धर्म ही है। तात्त्विक दृष्टि से कर्म और धर्म को एक दूसरे से अभिन्न माना जाता है। कर्म से धर्म और धर्म से कर्म की प्रवृत्ति होती है। अतः कवि-कर्म अर्थात् कविधर्म को हम काव्य कहते हैं। 'धारणात् धर्मः' की व्युत्पत्ति के अनुसार वे सभी व्यापार, भाव या विशेषतायें, जो वस्तुविशेष से सम्बद्ध होकर उसकी स्थिति का कारण बनती हैं, उस वस्तु के धर्म के रूप में जानी जाती हैं। जिस प्रकार लौकिक जगत् में व्यक्ति के धर्म और उस धर्म के धर्म (विशेषक) होते हैं उसी प्रकार वाङ्मय में भी काव्यरूप धर्म के भी धर्म होते हैं। काव्य का स्वरूप बतलाते हुए आचार्यों ने उसकी विशेषताओं का कथन किया है।[१] वे विशेषतायें ही यहाँ धर्म रूप में ग्रहण की गयी हैं। अतः रस, गुण, अलंकार, औचित्य, रीति आदि को काव्य-धर्म कहा जा सकता है। इनमें से रस और गुण काव्य के अन्तःधर्म तथा अलंकार और रीति काव्य के बाह्य धर्म कहे जा सकते हैं।

'रस्यते इति रसः' के आधार पर काव्य का आस्वाद रूप धर्म रस कहा गया है। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस काव्य में सभी आचार्यों ने स्वीकार किए हैं। किन्हीं आचार्यों ने भक्ति, वात्सल्य आदि अन्य रसों की भी कल्पना की है। आचार्यों ने इन रसों की अभिव्यक्ति का प्रकार भी बताया है और रत्यादि स्थायीभाव ही विभावानुभावव्यभिचारीभावों के संयोग से तत्तद्रसों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह रस, काव्य का प्राण माना गया। इस रस को ब्रह्मानन्दसहोदर माना गया। इस प्रकार रसानुभूति को काव्य के परम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यह काव्य का नित्य धर्म है।

रसों के आश्रय से रहने वाले गुण काव्य के नित्य धर्म हैं। इनका काव्य से नियत सम्बन्ध रहता है। काव्यगुणों की प्रारम्भिक अवधारणा तो काव्य-

शरीर रूप शब्दार्थ के (अतएव बाह्य) धर्म के रूप में हुई किन्तु गुणधारणा के साथ ही उन्हें मुख्य रूप से काव्यात्मकरूप रस का सहचर (आश्रित) धर्म स्वीकार कर काव्य के अन्तःधर्म के रूप में स्वीकार किया गया। किन्तु पारम्परिक मान्यताओं को न छोड़ते हुए, उपचारवशाद् गुणों को शब्दार्थरूप शरीर का भी धर्म माना गया।

गुणों के सद्भाव में काव्यसौन्दर्य को और अधिक उत्कर्ष प्रदान करने वाले धर्म अलंकार हैं। ये अलंकार विशुद्धतया शब्दार्थ रूप काव्यशरीर के ही धर्म माने गये। अतः काव्य के बाह्य धर्म के रूप में स्वीकृत किये गये हैं। इन्हें काव्य का अनित्य धर्म कहा गया है। यही कारण है कि मम्मट आदि आचार्यों के अनुसार काव्य में रस के स्फुट विभाव्यमान होने की दशा में यदि अलंकार न भी हो, तो इस कारण काव्यत्व की कोई हानि नहीं होती। चन्द्रालोककार जयदेवकृत मम्मट की आलोचना और अलंकार को काव्य का नित्यधर्म मानने का आग्रह, उनका अपना सम्प्रदायगत पूर्वाग्रह है। अतएव असमीचीन है। इस प्रकार अलंकार विशुद्धतः काव्य के बाह्य धर्म हैं। भामह आदि के द्वारा प्रतिपादित कुछ गिने गिनाये अलंकारों की संख्या क्रमशः चढ़ते-चढ़ते सौ से अधिक हो गयी। शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार के रूप में स्वीकृत होकर इनके तीन भेद हो गये। सभी आचार्यों ने उभयालंकार नहीं माना है। शब्दालंकारों की संख्या तो प्रायः अपरिवर्तित ही रही किन्तु अर्थालंकार की संख्या और स्वरूपों के विषय में पर्याप्त ऊहापोह हुआ। कुछ विशिष्ट अलंकारों के भेदों का भी विशद निरूपण हुआ। उदाहरणार्थ, आचार्य विश्वनाथ ने उपमा के सत्ताइस भेद करने के बाद भी उपमा अलंकार के कुछ अवान्तर भेदों की भी कल्पना की। कालिदास की पश्चाद्वर्ती साहित्यसृष्टि अलंकारों से अपने को न बचा सकी और अलंकारों के अतिशय बोझ के कारण उसमें कृत्रिमता, दुर्बोधता आने लगी। अलंकारों की इस चकाचौंध में काव्य का वास्तविक सौन्दर्य ही तिरोहित हो गया। औचित्य को भी काव्य के धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। 'उचित का भाव औचित्य' कहा जाता है। क्षेमेन्द्र ने इसे काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया था किन्तु बाद में यह एक अलंकार मात्र बनकर रह गया। वस्तुतः देखा जाय तो रस, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि सभी में औचित्य का सन्निवेश है और वह सबका निर्धारक तत्त्व है। अतः उसे काव्य का अन्तः धर्म माना जाना चहिए।

रीति भी काव्य का एक धर्म है। वामन ने तो रीति को काव्यात्मक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया किन्तु उनकी यह मान्यता समादृत न हो सकी। परवर्ती आचार्यों ने वामन की रीति सम्बन्धी इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार वामन, जो रीति को काव्य का नित्य धर्म बनाना चाहते थे, वह सफल न हो सका। वस्तुतः रीति काव्य-शरीर से सम्बद्ध होकर उसके एक अनित्य और बाह्य धर्म के रूप में स्वीकृत हुई। दण्डी ने इसे मार्ग कहा था। वैदर्भी, गौडी और पांचाली—इसके तीन मुख्य भेद हैं।

उपर्युक्त काव्य-धर्मों के अतिरिक्त वृत्तियों-प्रवृत्तियों के रूप में काव्य के कुछ अन्य धर्मों को भी कतिपय आचार्यों ने स्वीकार किया है। किन्तु काव्य के जो विशिष्ट प्रभावकारी धर्म हैं वे मुख्यतः दो ही हैं—गुण और अलंकार। इसमें से प्रथम काव्य का अन्तः धर्म है और द्वितीय काव्य का बाह्य धर्म है।

गुणों की निष्ठा—

गुणों की निष्ठा के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। भरत और दण्डी ने श्लेषादि गुणों को शब्दनिष्ठ ही माना है। आचार्य वामन ने अपनी गुणधारणा के अन्तर्गत उन्हीं दस गुणों को शब्दनिष्ठ और अर्थनिष्ठ भी माना। बाद में अग्निपुराणकार, भोजराज आदि आचार्यों ने भी शब्दगुणों और अर्थगुणों के साथ उनकी उभयगतता स्वीकार करके उन्हें उभयनिष्ठ भी स्वीकार किया। बाद में ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों को रसाश्रित मानकर उनकी रस-निष्ठता का प्रतिपादन किया। किन्तु उन्होने गुणों की शब्दार्थनिष्ठा का निषेध नहीं किया। उनका कथन है कि पारमार्थिक रूप से गुण तो काव्यात्मक रूप रस के आश्रित होने से रसनिष्ठ ही हैं किन्तु औपचारिक रूप से वे शब्द और अर्थ में भी स्थित होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य की आकृति (डीलडौल) देखकर ऐसा अनुमान होता है कि यह शूर हैं, शौर्य उसी शरीर से सम्बद्ध हो जाता है, उसी प्रकार गुण भी औपचारिक रूप से शब्दार्थ से सम्बद्ध हो जाते हैं। किन्तु यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं हैं कि डीलडौल वाला पुरुष शूर है ही; वह कायर भी हो सकता है, इसके विपरीत दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी शूर हो सकता है क्योंकि शौर्य गुण तो प्रधानतः आत्मा से सम्बद्ध है। इसी प्रकार गुण भी काव्य में शब्दार्थगत हो ही, यह अनिवार्य नहीं है।

इसी लिए मम्मट आदि ने तीसरी भी अर्थात् नीरस काव्य की कोटि निर्धारित की और उसे चित्रकाव्य या अधमकाव्य माना। किन्तु विश्वनाथ जैसे आचार्य जो रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते हैं, वे चित्रकाव्य को स्वीकार नहीं करते। अतः उनके काव्यस्वरूप की धारणा में गुण रस के साथ ही शब्दार्थगत रूप से काव्य में सदैव उपस्थित रहते हैं।

इस प्रकार ध्वनिवादी दृष्टिकोण से सहमत होते हुए हम भी कह सकते हैं कि गुण तो मुख्य रूप से रसगत ही हैं और उपचारतः (गौण रूप से) शब्दगत एवम् अर्थगत भी है। अतएव निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्यगुण एकान्ततः न तो शब्दनिष्ठ है और न ही अर्थनिष्ठ है अपितु एकान्ततः वे रस-निष्ठ ही हैं और उपचारवशाद् उनकी शब्दनिष्ठता और अर्थनिष्ठता भी होती है।

द्वितीय अध्याय

काव्यगुण-लक्षण

गुण—

चुरादिगण की उभयपदी धातु 'गुण्' से 'अच्' प्रत्यय का योग होने पर 'गुण' शब्द निष्पन्न होता है। 'गुण' शब्द के अनेक अर्थ हैं[1]—धर्म, स्वभाव, अच्छी विशेषता, विशिष्टता, उत्कर्ष, श्रेष्ठता, गौरव, उपयोग, लाभ, भलाई, प्रभाव, परिणाम, फल, धागा, डोरी, रस्सी, तन्तु आदि। अनेक शास्त्रों में 'गुण' का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। वहाँ यह शब्द पारिभाषिक रूप में गृहीत है। गुण को पारिभाषिक रूप में ग्रहण करने वाले मुख्य शास्त्र हैं—व्याकरण, दर्शन, गणित, राजनीति एवं साहित्य। यहाँ हम साहित्यशास्त्र के पारिभाषिक 'गुण' का विवेचन करने से पूर्व अन्य शास्त्रों की गुणधारणा का संक्षिप्त अवलोकन कर लेना समीचीन समझते हैं।

व्याकरणशास्त्र में गुण—

(अ) अकार के पश्चात् इ, उ, ऋ, तथा ऌ होने पर दोनों के स्थान पर क्रमश; ए, ओ, अर्, तथा अल् स्वरों का आदेश अथवा अ, ए, ओ, अर् तथा अल् स्वरों का आदेश 'गुण' कहा जाता है।[2]

(ब) संकेतग्रह के आधारभूत शब्दार्थ (शब्द-प्रवृत्तियाँ) चार प्रकार के माने जाते हैं। 'गुण' उनमें से एक है। जैसे गो-व्यक्ति का शुक्लत्व, पीतत्व, श्यामत्व, शबलत्व आदि उसके गुण हैं।[3]

दर्शनशास्त्र में गुण—

सांख्य, वैशेषिक, योग, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में 'गुण' का अवश्य ग्रहण किया गया है। यहाँ गुण का प्रयोग सामान्य और विशिष्ट (पारिभाषिक) अर्थों में मिलता है।

---

१. वी० एस० आप्टे : संस्कृत-हिन्दी-कोश, द्वितीय संस्करण, पृ० ३४६

२. अदेङ् गुणः। पा० १.१.२
आद् गुणः। पा० ६.१.८७

३. यर्त्तांह तत् शुक्ले, नीलः कपिल कपोत इति, स शब्दः नेत्याह, गुणो नाम सः।
—व्याकरण-महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

(अ) सांख्य का 'त्रिगुण' अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रकृति के तीन अवयव सत्त्व, रजस्, तमस्—ये तीनों गुण ही मिलकर 'प्रकृति' कहे जाते हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इन गुणों का स्वरूप तथा प्रवृति सांख्यकारिका-में बताई गई हैं।[१] सांख्यतत्त्वकौमुदीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने गुणों को 'परार्थ' कहा है।[२]

इन्द्रियों के विषय—रूप, रस गन्ध, स्पर्श और शब्द—को भी गुण कहा गया है। ये पांचों गुण, पञ्चमहाभूतों के भी धर्म (गुण) माने जाते हैं, यथा—शब्दगुण वाला आकाश इत्यादि। गुण का यह अर्थ प्रायः सभी दर्शनों में गृहीत है।

(ब) वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थों में गुण की भी गणना की गई है।[३] इन पदार्थरूप गुणों की संख्या चौबीस है।[४] संयोग विभाग के अनपेक्ष कारण से भिन्न, द्रव्य में आश्रित, गुणशून्य पदार्थ को गुण कहते हैं।[५] जैसे द्रव्य अपने सजातीय दूसरे द्रव्य को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार गुण भी दूसरे गुण को उत्पन्न करता है।[६]

(स) इसी प्रकार न्याय, योग, मीमांसा और वेदान्त में भी गुणों का उल्लेख है। ब्रह्म को भी निर्गुण और सगुण माना गया है।

---

१. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥
सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं न रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

—सांख्यकारिका, १२

२. 'गुणाः' इति परार्थाः।—सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका १२

३. धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।—वैशेषिकदर्शन, १।१।४

४. रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथकत्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषे प्रयत्नाश्च गुणाः।—वही, १।१।६

५. द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।

—वही, १।१।१६

६. द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्।—वही, १।१।१०

गणितशास्त्र में गुण—

(अ) आवृत्ति या गुना के लिये 'गुण' का प्रयोग किया जाता है। जैसे—द्विगुण, दशगुण, शतगुण आदि।

(ब) तीन की संख्या के संकेत के लिए भी 'गुण' का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् गुण = ३

(स) ज्यामितीयगणित में वृत्त की सम्पर्क जीवा के लिए भी 'गुण' का प्रयोग किया जाता है।

राजनीतिशास्त्र में गुण—

कार्य करने के समुचित प्रक्रम या सही तरीके (रीति) के लिए भी 'गुण' शब्द व्यवहृत होता है[2]। किसी भी राजा द्वारा व्यवहार्य विदेश राजनीति विषयक छः रीतियों को 'गुण' कहा गया है—सन्धि, विग्रह, यान (शत्रुराज्य पर चढ़ाई करना), आसन (पड़ाव डालना या चढ़ाई करने के बाद छिपकर पुनः आक्रमण के लिये घात लगाना, प्रतीक्षा करना), संश्रय (शत्रु द्वारा पीड़ित होने पर बलशाली राजा की शरण में जाना) और द्वैधीभाव सन्धि करें या न करें ऐसा सोचते हुए प्रत्यक्षतः शत्रु को सन्धि करने की इच्छा का आभास कराकर अपने बल (सेना) को कई भागों में बाँटकर आगे-पीछे से चढ़ाई करना)। अमरकोश[3] और मनुस्मृति[4] में राजनीतिविषयक इस राजव्यवहार को 'गुण' संज्ञा प्रदान की गई है। याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३४६), रघुवंशमहाकाव्य (८।२१) एवं शिशुपालवध महाकाव्य (२।२६) में भी राजनीतिकविषयक इस 'गुण' शब्द की परिभाषिकता के दर्शन होते हैं।

ऊपर कुछ शास्त्रों में 'गुण' के पारिभाषिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया। हमने देखा कि व्युत्पत्ति और शब्दार्थ की दृष्टि से अभिन्न होते हुए भी प्रत्येक उपर्युक्त शास्त्र में गुण का अपना अलग-अलग अभिप्राय है।

---

१. वामन शिवराम आप्टेः संस्कृत-हिन्दी-कोश, द्वितीय संस्करण, पृ० ३४६

२. वही, पृ० ३४६

३. मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्वशुक्लसंध्यादिके गुणः।—अमरकोश, ३।३।४७

४. (अ) संन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥—मनुस्मृति, ७।१६०
(ब) द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यं गुणवेदिभिः ॥—वही, ७।१६७

इस अध्याय के प्रारम्भ में विभिन्न शास्त्रों में गुण का पृथक्-पृथक् पारिभाषिकत्व प्रदर्शित करने का हमारा तात्पर्य मात्र इतना ही है कि जिस प्रकार इन शास्त्रों में गुणों का अपना-अपना विशिष्ट अर्थ है, उसी प्रकार साहित्यशास्त्र या काव्य-शास्त्र में भी गुण की पारिभाषिकता है और अपना स्वतंत्र रूप से एक विशिष्ट अर्थ है। प्रस्तुत अध्याय में हम काव्यशास्त्रीय दृष्टि से गुण के लक्षण (अर्थ अथवा स्वरूप) पर विचार करते हुए विभिन्न आचार्यों द्वारा किए गये लक्षणों की समीक्षा करते हुए उनके औचित्य पर विचार करेंगे।

'गुण' किसी भी वस्तु का वह वैशिष्ट्य है जो व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करता है और उसे अपने से बाँधता है। 'गुणाः पूजास्थानम्' कहने का भाव यही है। 'गुण' अपने सामान्य अर्थ से सर्वत्र व्याप्त है। किन्तु सामान्य अर्थ के साथ ही 'गुण' के कुछ विशिष्ट अर्थ भी गृहीत हैं, जो तत्तत् शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। काव्यशास्त्र में काव्यगुणों पर विस्तृत विचार किया गया है। काव्य में एक अथवा अनेक गुण विद्यमान रहते हैं। इसीलिए प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य का लक्षण करने में, गुण को काव्य का एक आवश्यक (कभी-कभी अनिवार्य) तत्त्व कहा है और गुण को काव्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है।[१] काव्य के आवश्यक तत्त्व के रूप में गुणको स्वीकार करते हुए भी विभिन्न आचार्यों की गुणधारणा भिन्न-भिन्न है। गुण का लक्षण, उसका आश्रय, वर्गी-करण, संख्या आदि के विषय में काव्यशास्त्र के आचार्यगण विभिन्न मतों के प्रवर्तक एवं पोषक हैं। अब हम क्रमशः प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुण-लक्षण पर विचार कर रहे हैं।

---

१. (अ) काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।—(वामन)

(ब) शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम्।—(वाग्भट)

(स) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। — (मम्मट)

(द) अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।—(हेमचन्द्र)

(इ) गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।—(विद्यानाथ)

(ई) वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः॥—(विश्वनाथ)

(उ) शब्दार्थौ ते शरीरम्।.......... समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। —(राजशेखर)

भरत—

आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में काव्यशास्त्र के जिन तत्त्वों का विचार किया है, उनमें काव्य-गुण भी है। यद्यपि भरत से पूर्व भी साहित्य के आचार्यों का उल्लेख मिलता है किन्तु उनकी किसी प्रामाणिक रचना के अभाव में, हम यह स्पष्ट रूप से कहने की स्थिति में नहीं हैं कि उनके द्वारा काव्य-गुणों पर विचार किया गया था अथवा नहीं। काव्यशास्त्र की सर्वप्रथम प्रामाणिक रचना के रूप में भरत का नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध होता है, जिसमें काव्यगुणों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। यह भरत का मौलिक विचार हो, या उन्हें परम्परा से प्राप्त हो; प्रमाणाभावतः हम आचार्य भरत की गुण-धारणा को ही प्रथम काव्यशास्त्रीय गुणधारणा मानते हैं।

आचार्य भरत ने स्पष्ट रूप से काव्य-गुण का लक्षण नहीं दिया है। दस प्रकार के काव्यदोषों का वर्णन करने के पश्चात् उन्होंने उनके 'विपर्यय' को 'काव्यगुण' कहा है।[1] नाट्यशास्त्र के टीकाकार-आचार्य 'विपर्यय' के अर्थ के सम्बन्ध में एकमत न होकर उसका भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार, विपर्यय का अर्थ 'अभाव' है। कुछ आचार्य विपर्यय का तात्पर्य 'अन्यथाभाव' और कुछ 'वैपरीत्य' मानते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने जो अर्थ किया है, उसके अनुसार, आचार्य भरत दोष के अभाव को गुण मानते हैं। आचार्य भरत के द्वारा उल्लिखित दसों काव्यगुणों के स्वरूप का विवेचन करने से ऐसा नहीं लगता कि सभी गुण दोषाभावरूप ही है। ओज, उदारता, सौकुमार्यादि गुण स्पष्ट रूप से भावात्मक हैं। सभी दसों गुणों को तत्तद् दोषों का विपरीतधर्मा भी मानना न्यायसंगत नहीं है। भरत द्वारा बताए गए काव्य-दोष हैं—गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत।[2] इन सबका वैपरीत्य भला गुण कैसे हो सकता है।

---

१. एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥
एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः॥—नाट्यशास्त्र, १६।१५–१६

२. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दशकाव्यदोषाः॥
—नाट्यशास्त्र, १६.८९

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं भरत ने गुणों की परिभाषा में दोषाभाव का उल्लेख नहीं किया है। नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने सभी काव्यगुणों को दोषविपर्ययात्मक न मानते हुए, माधुर्य और औदार्य--केवल इन्हीं दो गुणों में दोषों का अभाव माना है।[१] नाट्यशास्त्र में माधुर्य और औदार्य गुणों के लक्षणों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि किसी दोष के अभाव को गुण-लक्षण का अनिवार्य अंग नहीं माना गया है।

आचार्य भरत ने जिन दस गुणों (काव्यगुणों) का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति औदार्य और कान्ति।[२] इन सभी गुणों को नाट्यशास्त्र में परिभाषित किया गया है।

श्लेष—नाट्यशास्त्र में श्लेष गुण को दो प्रकार से परिभाषित किया गया है। प्रथम लक्षण के अनुसार श्लेष गुण वहाँ हैं, जहाँ कवि द्वारा अभीप्सित अर्थ से उत्पन्न परस्पर संबद्ध पदों की श्लिष्टता हो।[३] द्वितीय लक्षण के अनुसार प्रत्यक्ष रूप से स्फुट प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः जो विचारगहन हो, वह श्लिष्ट (श्लेष) कहा जाता है।[४] आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में ये दोनों कारिकाएँ क्रमशः एक साथ दी गई हैं। उक्त दोनों कारिकाओं को देखने से यह भी प्रतीति होती है कि वस्तुतः भरत ने श्लेष गुण की दो अलग-अलग परिभाषायें न देकर अपितु पूर्व कारिका में श्लेष का लक्षण दिया है। इसमें उन्होंने 'पदों की

---

२. अथ गुणेषु प्रतिजानीते—एषां विपर्ययाद् गुणा भवन्ति, एतद्दोषविधात एव गुणो भवतीत्यर्थः। किमविशेषेण नेत्याह माधुर्यौदार्यलक्षणमंको येषाम्। एतदुक्तं भवति--एतद्दोषविहीनं श्रुतिसुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलंकारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणयोगव्यभिचारीत्युक्तम्।

वही, अभिनवभारती

३. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥

नाट्यशास्त्र, १६।९६

४. ईप्सितेनार्थजातेन संबद्धानां परस्परम्।
श्लिष्टता या पदानां स श्लेष इत्यभिधीयते॥—वही १६।९८

५. विचारगहनं यत्स्यात्स्फुटं चैव स्वभावतः।
स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत्परिकीर्तितम्॥—वही, १६।९९

श्लिष्टता' को ही श्लेष कहा है। अतः उत्तर कारिका में इसी 'पदों की श्लिष्टता' का व्याख्यान किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार उपर्युक्त दोनों श्लोक क्रमशः शब्दश्लेष और अर्थश्लेष को परिभाषित करते हैं।

इस प्रकार भरत के अनुसार, श्लेष गुण वह है जिसमें एक पद दूसरे पद से इस प्रकार सम्बद्ध रहता है कि परस्पर मिले हुए सभी पद कवि के अभिप्राय को व्यक्त कर सकें। देखने में स्पष्ट जान पड़ने वाली किन्तु विचारों की गहनता से युक्त रचना श्लिष्ट रचना कही जाती है। अभिप्राय (अर्थ) की गहनता को महत्त्व देकर श्लेष को अर्थ-गुण तथा अर्थ के अनुरूप पदों की परस्पर सम्बद्धता पर बल देकर इसे शब्द गुण माना गया है।

प्रसाद—जहाँ शब्दों की भी प्रतीति होने लगे, वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है। यह प्रसाद गुण सुबोध शब्द और अर्थ के कारण काव्य में आता है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि स्फुट स्वरूप वाले पृथक्-पृथक् अवस्थित भी शब्द जब काव्य में इस प्रकार प्रयुक्त हों कि अकथित अर्थ की भी प्रतीति होने लगे, तो वहाँ प्रसाद गुण होता है।

इस प्रकार, आचार्य भरत ने प्रसाद गुण के लक्षण में ऐसा शब्द प्रयोग चाहा है, जो संकेततः अनुक्त अर्थ की भी प्रतीति कराये।

समता—नाट्यशास्त्र में समता को परिभाषित करने वाले दो श्लोक (पाठ) के अनुसार अत्यन्त चूर्ण पदों से हीन तथा अनावश्यक एवं दुर्बोध पदों के अभाव से युक्त रचना में समता गुण होता है।[2] समता गुण की इस परिभाषा में प्रयुक्त 'चूर्णपद' को स्पष्ट करते हुए आचार्य भरत ने कहा है कि अर्थानुरूप अक्षर योजना तथा अनियत अक्षरों वाले अनिबद्ध पदों से युक्त रचना 'चूर्णपद' कही जाती है।[3] आचार्य वामन ने दीर्घ समास रहित, अनुद्धत एवं

---

१. अथानुक्तो बुधैर्यत्र शब्दार्थः प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात्प्रसादः परिकीर्त्यते ॥—नाट्यशास्त्र

२. नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः।
दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता ॥—वही

३. अनिबद्धपदच्छन्दस्तथा चानियताक्षरम्।
अर्थापेक्षाक्षरस्यूतं ज्ञेयं चूर्णपदं बुधैः ॥—नाट्यशास्त्र, १८।५२

ललित पदों का ग्रन्थन 'चूर्णपद' कहा है।[१] इस प्रकार आचार्य भरत समता गुण के लिए चूर्णपद अर्थात् असमस्त पदों की उपस्थिति स्वीकार की है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त स्थल अभिनवभारती में कहा है कि शब्दों की समता से ही समता गुण होता है।[२]

दूसरे पाठ के अनुसार, गुण और अलंकार जहाँ एक दूसरे के सदृश हों तथा एक दूसरे को सुशोभित करते हों, वहाँ समता गुण होता है।[३] इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि भरत ने अलंकार और गुण के आश्रय में भेद नहीं माना है। यही कारण है कि उनका परस्पर विभूषणत्व माना गया है। इस आधार पर, जहाँ गुण और अलंकार की योजना इस रूप में की जाय कि वे परस्पर आभूषण बनते हों और उनमें वैषम्य न हो, वहाँ समता गुण होगा। समता गुण की इस व्यापक धारणा के अन्तर्गत वे समस्त रचनायें आ जाएंगी, जिनमें गुण और अलंकार की अविषम योजना होगी।

समाधि—समाधि के लक्षण में कथित श्लोक के भी दो पाठ प्राप्त होते हैं। प्रथम पाठ के अनुसार, जिस रचना में सहृदयों को कोई अपूर्व अर्थ परिलक्षित हो, वहाँ समाधि गुण होता है।[४] आचार्य हेमचन्द्र ने भरत की इस गुणधारणा के विषय में कहा है कि जहाँ अर्थ पर गुणान्तर का आधान होता है, वहाँ भरत के अनुसार समाधि गुण है।[५]

नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ में यह धारणा प्रकट की गई है कि जहाँ उपमा आदि अलंकारों की योजना करके प्रयत्नपूर्वक आधान किए गए अर्थ का वर्णन किया जाय, वहाँ समाधि गुण होता है।[६]

---

१. अनाविद्धान्यदीर्घसमासानि, ललितान्यनुद्धतानि पदानि यस्मिंस्तदनाविद्धललितपदं चूर्णमिति।—वामन, काव्यालंकारसूत्र, १।२।२४, वृत्ति।

२. शब्दानां समत्वात्समः।—अभिनवभारती, १६।

३. अन्योऽन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योऽन्यभूषणः।
अलंकारा गुणाश्चैव समाः स्युः समता मता॥—नाट्यशास्त्र, १६।

४. अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलक्ष्यते।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते॥—वही, १६।१०३

५. अर्थस्य गुणान्तरसमाधानात्समाधिरिति भरतः।—हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृ० २३७।

६. उपमाद्युपदिष्टानामर्थानां यत्नतस्तथा।
प्राप्तानां चापि संक्षेपात्समाधिर्निर्णयो यतः॥—नाट्यशास्त्र, १६।१०३

माधुर्य—भरत के अनुसार, माधुर्य गुण उस रचना में होता है, जिसके वाक्यों को बार-बार सुनने पर अथवा उच्चारण करने पर भी मन उद्विग्न नहीं होता।[1] हेमचन्द्र ने भरत के इस मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि जहाँ अभिहित वाक्य बार-बार सुने जाने पर भी मन को उद्विग्न नहीं करता वहाँ माधुर्यगुण होता है।[2] अभिनवभारती के इस गुण-लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि श्रुत का अर्थ संशय और विपर्यय का साहित्य है। दीर्घ-समास-रचना में संशय और विपर्यय दोनों होते हैं। अतएव माधुर्य गुण ऐसी रचना में ही होता है जो अदीर्घसमासा होती है। यह शब्दमाधुर्य है। साथ ही, जहाँ वचनवैचित्र्य से एक ही अर्थ का बार-बार अभिधान होने पर भी, अर्थ में नीरसता नहीं आती, वहाँ भी माधुर्य गुण होता है। यह अर्थमाधुर्य है।[3] अभिनवगुप्त की व्याख्या वामन के मत से प्रभावित है, जिसे हम आगे देखेंगे। भरत के लक्षण का अभिप्राय यही है कि उन्हें मधुर या कोमल-कान्त पदावली का विन्यास, माधुर्य गुण के लिए, रचना में अभीष्ट था।

ओज—नाट्यशास्त्र के प्राप्त संस्करणों में पाठान्तर के कारण ओजोगुण के भी दो अलग-अलग लक्षण प्राप्त होते हैं। अभिनवगुप्त के जिस पाठ वाले श्लोक की व्याख्या की है, उसके अनुसार, जिस रचना में अत्यधिक समासबहुल और विचित्र पदावली का विन्यास हो, सापेक्ष वर्णों से युक्त, उदारपदों का समावेश हो, वहाँ ओजोगुण होता है।[4] किन्तु उपर्युक्त चारों विशिष्टताओं से युक्त पद एक साथ ही समग्रतया किसी रचना में रहें, यह आवश्यक नहीं है। एक या

---

१. बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्वेजयति यस्माद् हि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥—वही, १६।१०४

२. बहुशो यच्छ्रुतमभिहितं वाक्यमनुद्वेजकं मनस्तन्मधुरमिति भरतः ॥
—काव्यानुशासन, पृ० २३७

३. यदिति यस्माद् हेतोर्वाक्यं श्रुतं संशयविपर्ययोरास्पदं न भवतीति तन्माधुर्यम्। द्राघीयसि समासे ताववश्यं भवत इति तद्विरह एव माधुर्यशब्दगुण इत्युक्तं भवति। पुनः पुनरप्युक्तमर्थजातं यस्माद्हेतोरपनीतमवगाहनेन वैरस्येन तद्वचनवैचित्र्यात्मकं माधुर्यमगुणः वचनान्तराभिधेयतया हि स एवार्थो भवति।
--अभिनवभारती, १६।१०४

४. समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते ॥—नाट्यशास्त्र, १६।१०५

दो प्रकार के पदों के अभाव में भी ओजो-गुण रह सकता है। कारिका में 'सानुरागैः' के स्थान पर 'सा तु स्वरैः' पाठभेद भी प्राप्त होता है। विशेष प्रकार की स्वरयोजना से ध्वनि का विशेष प्रभाव संकेतित होता है। इस प्रकार ध्वनि का विशिष्ट प्रभाव श्रोता में ओजस्वी प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इस प्रकार भरत द्वारा किए गए लक्षण में ओजो गुण का आधान करने के लिए समास बहुल पदों का गुम्फन, वैचित्र्य, औदार्य और ध्वन्यात्मक प्रभावोत्पादकता आवश्यक है।

दूसरे पाठ के अनुसार जहाँ गर्हित अथवा हीन वस्तु भी शब्द एवम् अर्थ के वैभव से उदात्त बन जाती है, उसे ओज कहा गया है।[1] हेमचन्द्र ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि निन्दित या हीन वस्तु में कवि के शब्दार्थवैभव से जो उदात्तता आ जाती है, उसे ओज कहते हैं।[2]

पदसौकुमार्य—सुखपूर्वक उच्चारण किए जाने योग्य शब्दों की योजना वाले, सुश्लिष्ट सन्धियों से युक्त, सुकुमार अर्थ-समन्वित रचना में सौकुमार्य गुण माना जाता है।[3] अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कहीं पद तो स्वतः परुष होते हैं, कहीं सन्धि के कारण उनमें पारुष्य आ जाता है। इसलिए इन दोनों प्रकार के पारुष्य का राहित्य ही सौकुमार्य है। यह शब्दगुण है।[4] हेमचन्द्र ने इसे संक्षेप में कहा है कि भरत के मतानुसार सुखमय शब्दार्थ सुकुमार कहा जाता है।[5] भरत द्वारा किये गए लक्षण से यह स्पष्ट है कि सौकुमार्य को शब्दगत तथा अर्थगत दोनों प्रकार का मानते हैं क्योंकि उन्होंने कारिका की प्रथम पंक्ति में सुकुमार शब्द और द्वितीय पंक्ति में सुकुमार अर्थ पर विशेष बल दिया है।

---

१. अवगीतोऽपि हीनोऽपि स्यादुत्तावभासकः।
यत्र शब्दार्थसम्पत्या तदोजः परिकीर्तितम् ॥—वही, १६।१०६

२. अवगीतस्य हीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थसम्पदा यदुदात्तत्वं निषिन्धन्ति कवयस्तदोजः इति भरतः।—हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृ० २३३

३. सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं यदुच्यते ॥—नाट्यशास्त्र, १६।१०७

४. क्वचित्पदस्य स्वयं पारुष्यं भवति.......... क्वचित्संहिता.......... तदुभयरहितत्वं सौकुमार्यं शब्दगुणः।—अभिनवभारती, १६।१०७

५. सुखशब्दार्थः सुकुमारमिति भरतः।—काव्यानुशासन, पृ० २३७

अर्थव्यक्ति—जहाँ सुप्रसिद्ध धातु का प्रयोग करके संसार की किसी भी वस्तु या व्यक्ति के स्वभाव का यथारूप वर्णन किया जाता है, वहाँ अर्थ-व्यक्ति नामक गुण माना जाता है।[१] अर्थव्यक्ति को परिभाषित करने वाले दो श्लोक (पाठ) नाट्यशास्त्र में प्राप्त होते हैं। उनमें से प्रथम के अनुसार यह लक्षण बताया गया है। इस श्लोक में भी 'सुप्रसिद्धधातुना' के स्थान पर 'सुप्रसिद्धाभिधाना' पाठ प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने 'सुप्रसिद्धाभिधाना' पाठ मानकर व्याख्या की है। अभिनवगुप्त इसे शब्द और अर्थ दोनों का गुण मानते हैं। अभिधान की प्रसिद्धि पर बल होने से यह शब्दगुण है और प्रसिद्ध अर्थ का वर्णन होने से अर्थगत गुण भी है।[२] इस गुण के नाम से स्पष्ट है कि भरत इसे अर्थगुण ही मानते रहे होंगे। भरत की यह गुणधारणा, परवर्ती आचार्यों की स्वभावोक्ति अलंकार की धारणा के समान ही है। यही कारण है कि आचार्य मम्मट ने अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव स्वभावोक्ति अलंकार में मान लिया। विश्वनाथ ने इसे प्रसाद-गुण में अन्तर्भूत कर लिया।

दूसरे पाठ (श्लोक) के अनुसार अर्थव्यक्ति गुण का लक्षण यह है कि जहाँ एक अर्थबोध से पश्चाद्वर्ती प्रयोग भी कल्पित कर लिया जाय, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण कहा जाता है।[३]

उदारता—उदारता गुण के सम्बन्ध में भरत की धारणा व्यापक है। इसकी परिभाषा के भी दो पाठ प्राप्त होते हैं। प्रथम पाठ के अनुसार, उदारता गुण, दिव्यभावों से परिपूर्ण, शृंगार तथा अद्भुत रसों से युक्त और नाना प्रकार के भावों से संवलित होता है।[४] अभिनवगुप्त ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि

---

१. सुप्रसिद्धधातुना तु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ॥—नाट्यशास्त्र, १६।१०६

२. प्रसिद्धमभिधानमभिधाव्यापारो यस्यां काव्यक्रियायां सार्थव्यक्तिः शब्दगुणः।
..................विपर्यये तु किरातादि..............निदर्शनं यच्चार्थो वर्ण्यते
स तथैव लोके प्रसिद्ध इत्यर्थस्य गुणोऽर्थव्यक्तिः।
—वही, अभिनवभारती, १६।१०६

३. यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते।
अनन्तरप्रयोगस्तु सार्थव्यक्तिरुदाहृता ॥—नाट्यशास्त्र, १६।१०७

४. दिव्यभावपरीतं यच्छृंगाराद्भुतयोजितम्।
अनेकभावैस्सुयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम् ॥—नाट्यशास्त्र, १६।१०७

मानवीय भावों का भी दिव्यभाव के रूप में चित्रण, भिन्न रसों (करुणादि) के प्रसंग में भी शृंगार और अद्‌भुत रस का मिश्रण, औदार्य गुणको व्यक्त करता है।[१] आगे अभिनवगुप्त ने लिखा है कि अन्य आचार्यों ने इसी गुण को 'अग्राम्यत्व' भी कहा है।[२] भरत ने औदार्य गुण की इस परिभाषा में रस और भाव पर विशेष जोर दिया है। अतः इसे अर्थगत गुण ही मानना चाहिए।

नाट्यशास्त्र के द्वितीय पाठ के अनुसार अनेक अर्थों वाले विशेषणों की योजना से पूर्ण, सौष्ठवयुक्त (सूक्ष्म अथवा) सूक्त एवं विचित्र अर्थों के योग में उदारता गुण की स्थिति होती है।[३] हेमचन्द्र ने भरत की इस गुण-धारणा का संकेत करते हुए कहा है कि अनेक सूक्ष्म विशेषणों से युक्त रचना उदार गुणयुक्त कही जाती है।[४]

कान्ति—जो चन्द्रमा की भाँति मन और कानों को आह्लादित करे अथवा लीला आदि चेष्टाओं के अर्थ से युक्त हो, उसे कान्तिगुण कहते हैं।[५] मन को आह्लादित करने वाली लीलाओं के अर्थ से युक्त होने के कारण यह अर्थगुण माना जाता है। किन्तु श्रोत्र का विषय शब्द है और श्रोत्र (कान) का भी आह्लादन इस गुण द्वारा होता है, अतः इसे शब्दगुण भी मानना अभीष्ट है। इस प्रकार भरत का यह काव्यगुण शब्दार्थगत (उभयरूप) है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि शृंगार रस के विभावरूप लीलादि चेष्टालंकार से रमणीय काव्यार्थ, जो मन को आह्लादित करे, वह कान्तिगुण-युक्त होता है। अन्य आचार्य इसी को दीप्तरसत्व कहते हैं।[६] आगे वे लिखते

---

१. यत्र मानुषोचितमपि दिव्यतया करुणादियुक्तमपि शृंगारेण विस्मयस्थानमप्यद्भुतेन युक्तं वर्ण्यते तद्गतैर्वा विभावानुभावादिभिः तदुदीर्यं तत्रौदार्यमर्थगुणः।
—अभिनवभारती, १६।१०७

२. एतदेवाग्राम्यमित्यन्यैरुक्तम्।—वही, १६।१०७

३. अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः (सूक्ष्मैः) सौष्ठवसंयुतैः।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तच्च कीर्त्यते॥—नाट्यशास्त्र

४. बहुभिः सूक्ष्मैः विशेषैस्समेतमुदारमिति भरतः।—काव्यानुशासन, पृ० २३८

५. यन्मनः श्रोत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत्।
लीलाद्यर्थोपपन्नां वा तां कान्ति कवयो विदुः॥—नाट्यशास्त्र, १६।१०८

६. यन्मनो विषयमाह्लादयति यथा शृंगारविभावरूपं लीलाश्चेष्टालंकारसुन्दर-काव्यार्थरूपं तत्कान्तिगुणयुक्तं तदेव दीप्तरसत्वमित्युक्तमन्यैः।
—अभिनवभारती, १६।१०८

हैं कि जो काव्य कानों में पहुँचकर आह्लाद उत्पन्न करे, वह कान्ति नामक शब्दगुण होता है।[1] अभिनवगुप्त का कथन है कि यही काव्यलोक में मधुर-काव्य के रूप में जाना जाता हैं और यह गुण माधुर्य के समकक्ष हैं।[2] हेमचन्द्र के अनुसार भरत ने कर्म और मन के आह्लादक गुण को कान्तगुण कहा है।[3]

नाट्यशास्त्र के काशी संस्करण में प्राप्त पाठ के अनुसार भी कान्ति गुण की परिभाषा प्रायः यही है। इस दूसरे पाठ के अनुसार जो काव्य, प्रयुक्त होकर कान और मन के लिए प्रसन्नता का आधान करे, वह कान्तगुणयुक्त कहा जाता है।[4]

आचार्य भरत ने इन दसों गुणों के स्वरूप (लक्षण) को विस्तृत रूप से प्रतिपादित करते हुए भी गुण (सामान्य) की कोई परिभाषा नहीं दी। दोषों का 'विपर्यय' गुण है--यह कथन भी सर्वथा स्पष्ट नहीं है क्योंकि भरत के टीकाकारों में से अनेक ने 'विपर्यय' के भिन्न भिन्न स्वाभिमत अर्थ किए हैं। 'विपर्यय का' 'वैपरीत्य' अर्थ बहुत कुछ भरत की भावना तक पहुँचता है कि दोषों का वैपरीत्य गुण है। किन्तु स्वयं भरत ने गुण के तत्तद् भेदों का लक्षण करने में किसी भी दोष के वैपरीत्य का संकेत तक नहीं किया है। स्थिति जो भी हो, मूलतः वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाने के लिए ही भरत ने गुणों की व्यापक कल्पना की है। इसी में उनके गुणों की सार्थकता है। चूंकि नाटक रसाश्रित होते हैं, अतः वाचिक अभिनय भी रस के अधीन हैं और वाचिक अभिनय को विशिष्टोत्कृष्ट बनाने के साधन गुण भी परम्परया रसाश्रित सिद्ध होते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, भरत की धारणा के अनुरूप गुण का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—

"रसाश्रितः प्रयोगेषु काव्यानन्दविधायकः।
विपर्ययस्तु दोषाणां गुणः स कथितो बुधैः॥"[5]

---

१. श्रोत्रविषयीभूतमिव यदाह्लादि काव्यं तत्कान्तिर्नाम शब्दगुणः।-अभी१६।१०८

२. तदेतल्लोके मधुरकाव्यमिति प्रसिद्धम्। माधुर्यमभ्यस्तपदत्वक्रतत्वम्।
—वही, १६।१०८

३. श्रोत्रमनःप्रह्लादजननं कान्तं भरतः।—हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, २३९

४. यो मनःश्रोत्रविषयः प्रसादजनको भवेत्।
शब्दबन्धः प्रयोगेण स कान्त इति भण्यते॥—नाट्यशास्त्र, १६।

५. मदीयेयं निर्मितिः।

आचार्य भरत ने गुण के जो दस भेद गिनाए हैं, वे सभी नामतः परवर्ती आचार्यों द्वारा गृहीत हुए हैं। चाहे भोजराज के चौबीस गुण हों, अथवा ध्वनिवादी आचार्यों के तीन गुण, नाम की दृष्टि से वे भरत से ही लिए गए हैं। गुणों का नाम यथावत् ले लेने पर भी उत्तरवर्ती आचार्यों के गुणलक्षण, भरत के गुणलक्षण से पर्याप्त भिन्न हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो भरत के ही गुण-लक्षणों की व्याख्या करते हुए, वामन की गुण धारणा से प्रभावित होने के कारण, स्वाभिमत स्पष्टीकरण दिया है। हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में भरत के गुण-लक्षणों को अपने विचारों के अनुरूप संकेतित किया है। भरत के कुछ गुण-लक्षण अपने आप में ही अस्पष्ट हैं। जैसे, अर्थव्यक्ति की दूसरी परिभाषा में एक अर्थ के बोध से 'अनन्तरप्रयोग' की कल्पना का उल्लेख किया गया है। यहाँ 'अनन्तरप्रयोग' की कल्पना का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है।

इन अनेक न्यूनताओं, अस्पष्टताओं आदि के बावजूद आचार्य भरत की गुणधारणा वह अंकुर है, जो परवर्ती काल में आचार्यों की प्रतिभारूपी उर्वर भूमि, जल आदि से संपुष्ट हो पल्लवित-पुष्पित होकर महान् वृक्ष के रूप में परिणित हुआ।

भामह

आचार्य भरत के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य भामह का ही नाम उल्लेख्य है। इन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यालंकार' के द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में तीन गुणों का उल्लेख किया है। उनके द्वारा किया गया गुण-निरूपण इतना संक्षिप्त है कि गुणों के सम्बन्ध में भामह की धारणा स्पष्ट नहीं हो पाती। उन्होंने गुण (सामान्य) का कोई लक्षण नहीं किया है। गुणों के तीन भेदों के अपूर्ण लक्षण और उदाहरण केवल तीन कारिकाओं में देने के अतिरिक्त उन्होंने गुणों के सम्बन्ध में कोई भी महत्त्वपूर्ण जानकारी नहीं दी है। इन तीनों कारिकाओं[1] में माधुर्य, प्रसाद और ओज इन तीनों

---

१. माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवंति भूयांसि न पदानि प्रयुज्यते॥
केचिदोजोऽभिधत्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिंजरितालकाः॥
श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्॥ —काव्यालङ्कार, २।१–३

गुणों का काव्य में आधान करने के लिए कतिपय निर्देश दिए गये हैं। प्रथम कारिका में भामह का कथन है कि काव्य में माधुर्य और प्रसाद (गुण) चाहने वाले सुबुद्ध जन अधिक समासयुक्त पदों का प्रयोग नहीं करते। दूसरी कारिका में ओज का लक्षण-उदाहरण दिया गया है। ओज के लक्षण में भामह का कथन है कि ओजोगुण को काव्य में निविष्ट करने के लिए विद्वान् कवि बहुत से पदों का समास करते हैं। उदाहरण जो उन्होंने इसी कारिका की द्वितीय पंक्ति में दिया है वह समस्तपद होते हुए भी ओजोगुण से युक्त नहीं है। ओज की अपेक्षा उसमें माधुर्य ही अधिक परिलक्षित होता है। तीसरी कारिका में माधुर्य और प्रसाद गुण का लक्षण दिया है। जो काव्य, श्रव्य (सुनने में अच्छा) और समासबहुल नहीं होता, वह मधुर-गुण युक्त तथा जिसे विद्वान् से लेकर बालक-स्त्री तक समझ लें, वह प्रसाद गुण से युक्त होता है।

इस प्रकार आचार्य भामह ने ओजोगुण का लक्षण, समासबहुल होना, माधुर्य-गुण का लक्षण, अधिक समासयुक्त न होना और श्रुतिसुखद तथा प्रसाद-गुण का लक्षण, अधिक समासयुक्त न होना तथा सर्वजनबोध्य होना स्वीकार किया है। इन तीनों गुणों के किये गए लक्षण वस्तुतः काव्यशास्त्र की दृष्टि से बहुल ही स्थूल-धारणा से युक्त एवम् आरम्भिक हैं। इनमें सूक्ष्मता का अभाव है। विचित्र बात तो यह है कि भामह ने उपर्युक्त तीनों को 'गुण' कहा ही नहीं है। भामह की दृष्टि में माधुर्यादि इन तीनों की क्या संज्ञा रही होगी, यह कल्पना करना अत्यन्त दुष्कर है।

अलंकारों के विवेचनक्रम में भामह ने भाविकत्व को प्रबन्ध-विषयक गुण कहा है। जहाँ भूत और भविष्य के अर्थ प्रत्यक्ष (अर्थात् वर्तमान काल) के समान दिखायी पड़े, वहाँ भाविक नामक प्रबन्ध-गुण की कल्पना की गई।[1] भामह ने इसके हेतु के रूप कई गुणों (भावों) का उल्लेख किया है—अर्थ की चित्रता, उदात्तता और अद्भुतता, कथा की अभिनेयता और शब्दों की अनाकुलता।[2] ये सब मिलकर भाविक प्रबन्ध गुण को निष्पन्न करते हैं। हेतु

---

१. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥ —काव्यालङ्कार, ३।५३

२. चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वाभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते॥ —वही, ३।५४

रूप उल्लिखित उपर्युक्त अर्थचित्रता आदि गुणों की स्वतन्त्र रूप से कोई परिभाषा नहीं दी गई।

भामह ने रीतियों का विवेचन करते हुए कतिपय गुणों का उल्लेख किया है। रीतियों के महत्त्व के सम्बन्ध में उन गुणों का पर्याप्त योग है। भामह के मतानुसार, निरपेक्ष रूप से यह मानना कि अमुक रीति अमुक रीति से श्रेष्ठ है, न्यायोचित नहीं। किसी भी रीति का महत्त्व और उसकी श्रेष्ठता, उसमें उपस्थित प्रसन्न, सरल, सुकुमार, श्रुतिसुखद, अग्राम्य और अनाकुल (स्वच्छ) शब्दार्थ के कारण होती है। यदि गौड़ी रीति इन गुणों से युक्त है तो वह भी सुन्दर और श्रेष्ठ है अन्यथा (इन गुणों के अभाव में) वैदर्भी रीति भी सुन्दर नहीं है।[1]

निस्सन्देह भामह का गुण-विवेचन मौलिक है। उन्होंने आचार्य भरत से प्राप्त दस गुणों की धारणा से अप्रभावित रहते हुए तीन गुणों को स्वीकार किया। किन्तु न तो इन्होंने गुण सामान्य का कोई लक्षण दिया और न ही गुणों के स्पष्ट भेद ही किए। गुण परम्परा में स्वीकृत माधुर्यादि जिन तीन का उल्लेख किया भी, उन्हें 'गुण' कहा ही नहीं। इनका लक्षण उदाहरण भी अस्पष्ट और अधूरा है। यही कारण है कि विद्वान् समालोचक भामह की गुण-धारणा के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निष्कर्ष निकालने में असमर्थ रहे।

दण्डी

काव्यादर्श में गुणसम्बन्धी विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। कालक्रम की दृष्टि से विद्वान् प्रायः दण्डी को भामह का उत्तरवर्ती मानते हैं। किन्तु गुण विवेचन के प्रसंग में दण्डी भामह से सर्वथा अप्रभावित हैं और उन्होंने आचार्य भरत की विचारसरणि का अनुसरण किया है। दण्डी ने भरत के ही समान गुणों की संख्या दस मानी है तथा गुणों के नामों को भी यथावत् स्वीकार कर लिया है। इतना होने पर भी यत्र-तत्र दण्डी की मौलिकता के दर्शन होते हैं। यद्यपि गुणों का लक्षण भी दण्डी ने भरत के ही आधार पर किया है तथापि किन्हीं

---

१. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिदेशजम्॥
अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयामपि साधीयः वैदर्भमपि नान्यथा॥ —वही, १।३४-३५

गुणों में जहाँ भरत ने शब्द पर जोर दिया है, वहीं दण्डी ने अर्थ पर बल दिया है। फलस्वरूप भरत द्वारा स्वीकृत कुछ शब्दगुण दण्डी के मतानुसार अर्थगुण में परिवर्तित हो गए। दण्डी ने काव्य शैलियों, जिन्हें वे 'काव्यमार्ग' कहते हैं, के निरूपण के क्रम में, उन मार्गों का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने हेतु दस गुणों का उल्लेख किया है और उन्हें वैंदर्भ मार्ग का प्राण कहा है।[1] साथ ही उनका यह कथन भी है कि गौड मार्ग में इनका विपर्यय होता है।[2] कारिका में 'प्राय:' पद का प्रयोग करके दण्डी ने यह संकेत करने की चेष्टा की है किसी भी दशा में इन सभी गुणों का विपर्यय होना सम्भव नहीं है। कई गुणों की सत्ता समान रूप से वैंदर्भ और गौड मार्ग में स्वीकार की गई है। साथ ही दोनों ही मार्गों में कतिपय दोषों से बचने की सलाह दी गई है जिनमें ग्राम्यत्व दोष[3] और नेयार्थदोष[4] प्रमुख हैं।

इन मार्गों के विभाजक तत्त्वों के रूप में गुणों के रहने पर भी मार्ग-विशेष में किसी गुण-विशेष का प्राधान्य हैं—इस धारणा के आधार पर अपना-अपना मत व्यक्त करते हुए भी टीकाकार एवं अन्य आचार्यगण सर्वसम्मत निष्कर्ष नहीं प्रस्तुत कर सके। सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका में भट्ट नृसिंह ने लिखा हैं कि दण्डी के सौकुमार्य और ओज—ये दो गुण असाधारण हैं और शेष गुण सर्व-साधारण हैं। सौकुमार्य वैंदर्भ मार्ग का प्रधान गुण है और ओज, गौड मार्ग का।[5]

यहाँ दण्डी द्वारा स्वीकृत दस गुणों का स्वरूप क्रमश: प्रस्तुत किया जाता है—

श्लेष

गुणों की गणना में दण्डी ने सर्वप्रथम श्लेष का कथन किया है। दण्डी के अनुसार, श्लेष गुण की सत्ता शैथिल्य रहित रचना में रहती है। शिथिलता को

---

१. श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज: कान्तिसमाधय: ॥
इति वैंदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा: स्मृता ॥—काव्यादर्श १।४१-४२

२. एषां विपर्यय: प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।—वही, १-४२

३. एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि ॥—वही, १.६७

४. नेदृशं बहुमन्यते मार्गयोरुभयोरपि ।—वहीं, १.७५

५. डॉ० वी० राघवन : भोज का श्रृंगारप्रकाश, पृ० २८९

परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि जहाँ अल्पप्राण वर्णों का बाहुल्य हो, वहाँ शैथिल्य माना जाता है।[१] इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी रचना में संयुक्ताक्षरों का अभाव अथवा उनकी स्वल्पता होनी चाहिए। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि दण्डो के अनुसार महाप्राण वर्णों तथा संयुक्ताक्षरों से युक्त रचना में श्लेष गुण रहता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी दण्डी की इस मान्यता का उल्लेख किया है।[२] आचार्य भरत की श्लेषगुण सम्बन्धी मान्यता का दण्डी ने आदर नहीं किया है। भरत ने पदों की श्लिष्टता पर ही जोर दिया था और वे शब्दश्लेष —इस प्रकार का विभाजन भी स्वीकार करते थे किन्तु दण्डी ने श्लेष में वर्णों की महाप्राणता पर जोर दिया और अर्थश्लेष को तो सर्वथा छोड़ ही दिया। बाद में दण्डी की इस धारणा को देखते हुए कुछ आचार्यों ने उसे ओज से अभिन्न मान लिया।[३] किन्तु ओज की परिभाषा उसे स्पष्ट रूप से श्लेष से अलग करती है। ओज में पदगत समासबाहुल्य के प्रति आग्रह है किन्तु श्लेष में महाप्राण और संयुक्त वर्णों की योजना पर।

प्रसाद

आचार्य दण्डी ने उस वाक्य को प्रसादगुणयुक्त माना है, जो प्रसिद्ध अर्थवाला हो और इसी कारण जिसका अर्थबोध सहजतया हो जाता हो।[४] यदि किसी वाक्य में ऐसे पदों का प्रयोग हो, जिनका अर्थ प्रसिद्ध हो, तो उस वाक्य का अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। अतः ऐसे वाक्य प्रसादगुणयुक्त कहे जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जहाँ श्रवणमात्र (या पठनमात्र) से ही अर्थबोध करा देने वाले शब्दों की योजना की गई है, वहाँ प्रसादगुण होता है। चूंकि दण्डी द्वारा परिकल्पित वैदर्भ मार्ग में ऐसे प्रसिद्धार्थक शब्दों का प्रयोग होता है, अतः वैदर्भमार्ग की रचनाओं में प्रसादगुण रहता है किन्तु यदि गौड़ मार्ग में प्रयुक्त अप्रसिद्ध अर्थवाले शब्द भी व्युत्पत्तियुक्त हों, तो वहाँ भी प्रसादगुण होता है।

---

१. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।—काव्यादर्श, १.४३
२. अशिथिलं श्लिष्टमिति दण्डी।—काव्यानुशासन, पृ० २३५
३. सो यमोजः प्रकार एव।—वही, २३५
४. प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः॥—काव्यादर्श, १.४५

टीकाकारों ने दण्डी के प्रसाद को अर्थगत गुण कहा है।[1] इसका आधार यह है कि प्रसाद गुण में स्पष्टता और नैर्मल्य पर विशेष बल दिया गया है। डॉ० राघवन ने प्रसाद को शब्दगुण माना है। चूँकि प्रसिद्ध अर्थवाले पदों के प्रयोग से ही वाक्यार्थ सुगमतया प्रतीत होता है अतः डॉ० राघवन के मत का भी औचित्य तो है ही। इस प्रकार हमारी दृष्टिमें प्रसाद को शब्दार्थगत गुण मानना चाहिए।

समता

आद्यन्त सम्पूर्ण रचना में एक रीति का निर्वाह करना समता गुण कहा जाता है। रचना का आरम्भ जिस शैली में किया गया है, उसी शैली का निर्वाह अन्त तक करना, यही समता गुण है। यदि कोई रचना आरम्भ में मृदु है तो उसे सर्वत्र मृदु ही रहना चाहिए और अन्त तक इसी शैली का निर्वाह करना चाहिए अन्यथा समता गुण उस रचना में नहीं रह सकेगा। यही बात विकट और मध्य बन्ध (मिश्र) के लिए भी ठीक है। दण्डी ने वर्ण-विन्यास को ही बन्ध की मृदुता, विकटता आदि का कारण माना है।[2] समता गुण में शैली (रीति) के निर्वाह की प्रमुखता के कारण उसे शब्दगत गुण माना गया है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार, दण्डी बन्ध में अवैषम्य को ही समता गुण मानते हैं। अतएव रचना का प्रारम्भ जिस रीति से किया जाय, समाप्ति पर्यन्त उस रीति का पालन करना ही समता का स्वरूप है। समता गुण प्रबन्धगत अथवा मुक्तक, दोनों प्रकार की रचनाओं का गुण है।[3]

वस्तुतः समता गुण का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, वह किसी भी रचना के लिए निरपेक्ष रूप से एकान्ततः गुण नहीं माना जा सकता। सच बात तो यह है कि प्रबन्ध की पारिभाषिकता के अनुसार उसमें आदि से अन्त तक किसी एक ही रीति का निर्वाह न तो उचित ही है और न सुकर ही। हाँ, प्रामुख्येन एक रीति हो तो सकती है किन्तु परिस्थितियों के सही

---

१. अयञ्च प्रसादगुण अर्थगत एव।—वही, प्रभाव्याख्या (रंगाचार्यकृत)

२. समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः॥—काव्यादर्श, १.४७

३. तस्माद् बन्धेष्वविषमं समम्। ······ ····तस्माद्येन रीतिविशेषेणयःक्रमस्तस्या-परित्याग आसमाप्तेरिति समतायाः रूपम्। तन्मुक्तके प्रबन्धे च।
—काव्यानुशासन, पृ० २३५-३६

चित्रण हेतु रचनाकार को अनिवार्यतः रीति परिवर्तन का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ता है। विभिन्न स्थितियों में परिवर्तित भावों के चित्रण के लिये कवि को कहीं कोमल, कहीं कठोर आदि रीतियों का प्रयोग करना ही पड़ता है। ऐसा करना काव्य सौन्दर्य के लिए अपेक्षित भी है। मनोराग के चित्रण में वैसी नहीं। प्रकृति के शान्त और भीषण स्वरूपों के चित्रण में, मैत्री और युद्ध के चित्रण में, संयोग और वियोग के चित्रणों में तो अनिवार्यतः कवि को भिन्न शैलियों का आश्रय लेना पड़ेगा। अतः सर्वत्र समता का निर्वाह कदापि काव्यगुण नहीं माना जाना चाहिए। दण्डी ने भाव के साथ रीति और गुण के सम्बन्धों का परीक्षण भलीभाँति नहीं किया था। उन्होंने केवल देशगत आधार पर रीति का या मार्ग का विभाजन करके उसके साथ गुणों के सम्बन्ध को परखा। यही कारण है कि भावों के चित्रण के सापेक्ष्य समता-गुण के निर्वाह की त्रुटि को वे नहीं समझा पाये।

माधुर्य

आचार्य दण्डी के माधुर्य गुण का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत रस भी समाहित हो जाता है। अन्य सभी आचार्यों ने जिस श्रुत्यनुप्रास को अलंकार माना है, वह भी दण्डी के माधुर्यगुण का एक भेद है। दण्डी ने माधुर्यगुण को रस-स्वरूप ही मान लिया है। आचार्य दण्डी के अनुसार सरस वाक्य मधुर कहा जाता हैं।[1] इस प्रकार रसव्यंजक वर्णों तथा अर्थों (विभावादि) से युक्त वाक्य, दण्डी के अनुसार माधुर्यगुण युक्त होता है। काव्यादर्श के अनुसार इस माधुर्यगुण के दो भेद हैं—

१—अग्राम्यता रूप माधुर्य गुण। दण्डी के अनुसार. यद्यपि सभी अलंकार अर्थ की व्यंजकता में उत्कर्षाधायक हैं; किन्तु यह कार्य सर्वाधिक अग्राम्यता ही करती है।[2] यह रसावह अग्राम्यता माधुर्य अर्थगत गुण है।

२—श्रुत्यनुप्रास रूप माधुर्य गुण। दण्डी के अनुसार, जहाँ एक वर्ण के अनन्तर पश्चाद्वर्ती वर्ण, पूर्व वर्ण से श्रुति में साम्य रखता है, वहाँ श्रुत्यनुप्रास

१. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ —काव्यादर्श, १।५१

२. कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिन्वति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ —वही, १।६२

होता है। यह रसावह होने से माधुर्य गुण है।[1] श्रुत्यनुप्रास रूप माधुर्य गुण एक विशेष प्रकार की वर्णयोजना पर निर्भर रहता है। अतएव यह शब्दगत गुण है। अग्राम्यता माधुर्य को वस्तुरस और श्रुत्यनुप्रास माधुर्य को वाग्रस कहा गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि दण्डी के अनुसार रसवत् मधुर होता है[2]। उन्होंने श्रुत्यनुप्रास को गुण मानने का खण्डन किया है क्योंकि वह तो अलंकार है।[3]

दण्डी की इस गुण धारणा पर यद्यपि कुछ अंशों में (श्रुत्यनुप्रास सम्बन्धी) आचार्य भरत का प्रभाव आभासित होता है तथापि वह बहुलांश में नवीन और व्यापक है। उन्होंने माधुर्य गुण में रस और अलंकार को समेटते हुए, उसके स्वरूप को ही अस्पष्ट कर दिया। यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों ने दण्डी की इस गुण धारणा की उपेक्षा कर दी।

सुकुमारता

जिस रचना में कोमल वर्णों का प्रयोग किया जाय, वहाँ सुकुमारता नामक काव्यगुण होता है। आचार्य दण्डी के अनुसार, जो अनिष्ठुर अक्षरों के विन्यास से निर्मित हो, वह सुकुमार या सुकुमारता गुणयुक्त कहा जाता है। अत्यन्त कोमलता भी त्याज्य है। क्योंकि सभी वर्णों के कोमल होने से बन्ध में शैथिल्य रूप दोष उत्पन्न होता है, जो अभीष्ट नहीं है।[4] सुकुमारता शब्दगत गुण है। यह ध्वनिगत कोमलता है, जिसका उच्चारण सरल होता है। अनेक टीकाकार सुकुमारता गुण को शब्दगत मानते हैं।[5] किन्तु डॉ० वी० राघवन ने दण्डी द्वारा दिये गए सुकुमारता के उदाहरण में अर्थगत सुकुमारता का भी दर्शन किया है। डॉ० राघवन की धारणा है कि दण्डी ने अतिशयोक्तिहीन सुन्दर अभिव्यक्ति को अर्थगत सुकुमारता माना है। साथ ही, डॉ० राघवन का यह भी

१. यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥ —वही, १।५२

२. तस्माद्रसवन्मधुरम्।—काव्यानुशासन, पृ० २३७

३. अनुप्रासो ह्यलंकारः। कथं तस्य गुणत्वम्। —वही, पृ० २३७

४. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।
बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले॥ —काव्यादर्श, १।६९

५. आचार्यदण्डिना शब्दगुणत्वेन सौकुमार्यं स्वीकृतम्।
—वही, प्रभाटीका (रंगाचार्य कृत)

कहना है कि दण्डी अर्थसौकुमार्य को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।[1] विचार करने पर डॉ० राघवन का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। दण्डी द्वारा दी गई सुकुमारता की परिभाषा में उसकी अर्थगतता का कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। डॉ० राघवन ने भी जो निष्कर्ष निकाला है, वह उसके उदाहरण को ही देखकर। अतः यहाँ उस उदाहरण का परीक्षण आवश्यक है। दण्डी द्वारा उदाहृत सौकुमार्य गुण से संबद्ध श्लोक का अर्थ है—"वर्षा के समय मोर अपने पंखों को मण्डलाकार बना कर मधुरगीत गाते हुए कण्ठ से (युक्त हो) नर्तन कर रहे हैं।[2] इस उदाहरण की संगति प्रदर्शित करते हुए आगे दण्डी ने लिखा है कि यहाँ मोरों का नृत्य रूप अर्थ रस-सम्पर्क-शून्य होने के कारण अनुर्जित अर्थात् निस्तेज ही है। इसका अलंकार—समासोक्ति—भी बहुत चमत्कारक नहीं है, फिर भी इसमें सहृदयों की जो रुचि है, वह सौकुमार्य के कारण ही है।[3] यहाँ 'अनुर्जित' को 'अदीप्त' समझकर ही सम्भवतः डॉ० राघवन ने इससे सौकुमार्य अर्थगत होने का अभिप्राय निकाला है। जबकि ऐसी बात यहां है नहीं। यदि सौकुमार्य का अर्थगतत्व दण्डी को वभीष्ट होता तो वे कुछ न कुछ गंकेत अवश्य करते, अथवा उसके विपर्यय दीप्त के ही अर्थगत होने का संकेत करते। किन्तु, उन्होंने सौकुमार्य-विपर्यय दीप्त को भी कृच्छ्रोद्य या उच्चारण दुःखद कहकर[4] केवल शब्दगत ही माना है। अतः सौकुमार्य की केवल शब्दगतता ही दण्डी को अभिप्रेत है।

आचार्य भरत ने सुकुमारता के लक्षण में उसे शब्दगत तथा अर्थगत दोनों माना है। दण्डी का सुकुमारता गुण शब्दगत रूप से भरत से अवश्य प्रभावित है, किन्तु उन्होंने इस गुण की अर्थगतता अस्वीकार करके अर्थगतता के विषय में भरत से अपनी असहमति ही व्यक्त की है।

दण्डी के शब्द माधुर्य में श्रुत्यनुप्रास के योग से श्रुतिमधुर होना बताया गया है। यहाँ सुकुमारता में भी अनिष्ठुर अर्थात् कोमल वर्णों का प्रयोग कहा

---

१. Dr. V. Raghavan : Bhojas Shringara Prakash, Vol. १, Page 286.

२. मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥ —काव्यादर्श, १।७०

३. इत्यनूर्जित एवार्थो नालंकारोऽपि नादृशः।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः ॥ —वही, १।७१

४. दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि बध्यते। —वही, १६९ प्रभाटीका

गया है। अतः दोनों ही श्रुतिमधुर गुण हैं और प्रभाव की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त भेद हैं। माधुर्य में श्रुतिसाम्य के कारण मधुरता उत्पन्न होती है। सुकुमारता गुण की सत्ता के लिए अनुप्रास की योजना आवश्यक नहीं है, कोमल पदों की योजना मात्र ही पर्याप्त है।

अर्थव्यक्ति

आचार्य दण्डी के अनुसार, जहाँ अर्थ में नेयत्व का अभाव रहे, वहाँ अर्थ-व्यक्ति नामक गुण होता है।[१] दण्डी का यह लक्षण भावमुखेन न होकर अभावमुखेन है। अर्थव्यक्ति गुण को समझने के लिए 'नेयत्व' को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। किसी भी अर्थ को भलीभाँति व्यक्त करने के लिए जितने शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता होती हैं, यदि उससे कम शब्दों का प्रयोग हुआ रहता है तो अभीष्ट अर्थ को सुव्यक्त करने के लिए आवश्यक अर्थान्तर का अध्याहार करना पड़ता है। इसी को काव्य में 'नेयत्व' कहा जाता है। इस प्रकार दण्डी ने अर्थव्यक्ति को नेयत्व का अभाव प्रतिपादित करके यह धारणा व्यक्त की है कि जहाँ प्रयुक्त पदों से ही अर्थ सुव्यक्त हो जाय, अध्याहार की क्लिष्ट कल्पना न करनी पड़े, वहाँ अर्थव्यक्ति नामक गुण होता है। और भी स्पष्ट रूप से इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि अभीष्ट अर्थ का बोध कराने के लिये पर्याप्त पदों का प्रयोग अर्थव्यक्ति गुण है। इस प्रकार अर्थव्यक्ति गुण शब्दार्थोभयगत है।[२]

यह अर्थव्यक्तिगुण वैदर्भ और गौड, दोनों ही मार्गों में अभीष्ट है। क्योंकि दण्डी ने अर्थव्यक्ति के विपर्यय नेयार्थत्व का उदाहरण देकर कहा है कि यह नेयार्थत्व वैदर्भ और गौड—दोनों ही मार्गों में अग्राह्य है।[३] इस प्रकार अर्थव्यक्ति दोनों ही मार्गों में समादृत गुण।

उदारत्व

काव्यादर्श में जिस उदारत्व गुण की चर्चा की गई है, वह उभयमार्ग का गुण है। किसी वाक्य को पढ़ने या सुनने पर, उसके वर्ण्य में यदि कोई ऐसा

---

१. अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य ··· ····। —काव्यादर्श, १.७३

२. अतो यावदपेक्षितार्थस्य विन्यस्तपदेनैव भानादत्रार्थव्यक्तिः। अयं शब्दगुणः ·······अयमर्थगुणोऽपि। यत्र वस्तुस्वभावस्फुटीकरणरूपोऽर्थः सोऽर्थगुणः। —वही, प्रभाटीका, १।७३

३. उष्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः॥ —काव्यादर्श, १।७६

धर्म-विशेष प्रतीत हो, जिसके कारण अलौकिक चमत्कार की सृष्टि होती हो, तो उसे उदार कहा जाता है। यह 'उदारत्व' गुण काव्य के सभी मार्गों को उत्कृष्ट बनाता है।[2]

काव्यादर्श की प्रभाटीका 'उदारत्व' के स्वरूप के सम्बन्ध में दो प्रकार की धारणाओं को प्रस्तुत करती है। प्रथम धारणा—अनेक आचार्य (टीकाकार) यह मानते हैं कि दण्डी द्वारा परिभाषा में प्रयुक्त 'उत्कर्षवान्' का आशय यह है कि जहाँ वर्ण्य विषय में उत्कर्ष का आधान करने वाला गुण परिलक्षित हो, वहीं 'उदारत्व' गुण होता है। द्वितीय धारणा—इसके विपरीत कुछ आचार्य (टीकाकार) इस मत के पोषक हैं कि जहाँ कवि अपनी वर्णनभंगी से किसी वर्ण्य विषय में गुण का अपकर्ष भी दिखाता है, वहाँ भी कवि की उक्ति में चमत्कार रहता ही है अतः वहाँ भी औदार्य गुण मानना चाहिए। क्योंकि मुख्य तो है कवि की वर्णनाचातुरी। 'प्रभा' में एक श्लोक उदाहृत करके इसे स्पष्ट किया गया है—"हे समुद्र ! वाणी से तुम्हारी कितनी प्रशंसा की जाय, तुम्हारे समान परोपकार व्रतधारी मिलना अत्यन्त कठिन है। प्यास से व्याकुल पथिकों के उपकार से पराङ्मुख मरुस्थल को प्राप्त होने वाली अपकीर्ति के भार को वहन करने में तुम भी कृपापूर्वक उसकी सहायता करते हो।" यहाँ समुद्र में पथिकों के प्रति उपकारहीनता प्रदर्शित कर उसमें गुणापकर्ष चित्रित किया गया है। किन्तु प्रशंसा के व्याज से किया गया यह गुणापकर्ष विधान कवि की वर्णना-भङ्गी के चमत्कार से ही सम्भव हुआ है।

यहाँ एक मत के अनुसार 'उदारत्व' नहीं होगा किन्तु दूसरे मत वालों के अनुसार 'उदारत्व' गुण है। गुणोत्कर्ष की व्यञ्जना वाक्यार्थ के आधार पर होती है, अतः यह अर्थगत गुण है।

---

१. अत्रोत्कर्षवान् इत्यनेन वर्ण्योत्कर्षजनकगुणोऽपेक्ष्यते नापकर्षजनकः। तेन—

हेलाजितबोधित्व वचसा किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः ॥

—इत्यत्र नोदारतेति केचित्। परे तु उत्कर्षवान् वर्णनभंगिविशेषेण चमत्कारजनको गुणः उत्कर्षापकर्षस्वरूपो वर्ण्यस्य धर्मः औदार्यमिति स्वीकुर्वन्ति। हे हेलाजित इत्यत्र औदार्यगुणं च मन्वन्ते।

—वही, १।७६ प्रभाटीका।

काव्यादर्शं में उदारता गुण का एक अन्य लक्षण भी प्राप्त होता है। इसे अन्य आचार्यों का मतानुसारी कहा गया है। इस लक्षण के अनुसार, 'जो वाक्य श्लाघ्य विशेषणों से युक्त हो, उसे उदार कहा जाता है।'[1] इस लक्षण को देने का तात्पर्य यह है कि दंडी भी इससे सहमत हैं। असहमति होती तो खण्डन करते या देते ही नहीं। परीक्षण करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस लक्षण के द्वारा प्रतिपादित यह उदारता गुण शब्दगत है। अतः दंडी ने उदारता का प्रथम लक्षण अर्थगतत्वेन और द्वितीय लक्षण शब्दगतत्वेन दिया है।

आचार्य भरत ने भी उदारता गुण के दो लक्षण दिये हैं। दण्डी का औदार्य-गुण भरत से प्रभावित है। उदात्तालंकार इस गुण से मिलता जुलता है।[2]

ओज

वैदर्भ और गौड, दोनों ही मार्ग के कवि ओज को गद्य के प्राण के रूप में स्वीकृत करते हैं। किन्तु गौडमार्गी इसे पद्य में स्थान देते हैं। आचार्य दण्डी ने ओज के विषय में लिखा है कि—समासयुक्त पदों का बाहुल्य ओज है। यह गद्य का प्राण है। गौड पद्य में भी इसका प्रयोग करते हैं।[3] समास का सम्बन्ध शब्दों से ही है अतः ओजोगुण सीधे-सीधे शब्दगत गुण है। गुरु-लघु वर्णों के आधिक्य और समासों की दीर्घता के आधार पर ओज के कई भेद हो जाते हैं।[4]

दण्डी ने एक उदाहरण[5] देकर समझाया है कि गौड पद्य में भी समास-बाहुल्य के कारण ओजोमयी वाणी प्रयुक्त करते हैं, किन्तु वैदर्भ, विषम उच्चारण

---

१. श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते। —काव्यादर्श, १।७९

२. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः॥ —वही, २।३००

३. ओजःसमासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥ —काव्यादर्श; १।८०

४. तद्गुरुणां लघूनां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणे।
उच्चावचप्रकारं तद् दृश्यमाख्यायिकादिषु॥ —वही, १।८१

५. अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा।
पीनस्तनस्थिताताम्रकम्रवस्त्रेव वारुणी॥ —वही, १।८२

रहित अनाकुल और पारुष्य, शैथिल्यादि दोषों के परिहार से हृद्य ओज को ही स्वीकार करते हैं।[१]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि दण्डी के अनुसार ओजोगुण, दोनों मार्गों में समादृत है। गौड, गद्य और पद्य—दोनों में समान रूप से इसे चाहते हैं, जबकि वैदर्भ भी गद्य में तो इसे समान रूप से चाहते हैं किन्तु पद्य में वे इससे बचते हैं और यदि प्रयोग अनिवार्य हुआ तो, अनाकुल और हृद्य (कोमल-मनोहारी) स्वरूप ही ग्रहण करते हैं।

ओजोगुण की धारणा के सम्बन्ध में दण्डी, भरत से भिन्न प्रतीत होते हैं।

कान्ति

यदि किसी वस्तु का वर्णन लोकप्रसिद्धि के अनुरूप होता है, तो वस्तु सहृदय तो क्या सामान्य जन के लिए भी अत्यन्त मनोहर हो जाती है। ऐसे सर्वजनहृदयहारि काव्य में कान्ति गुण माना जाता है। प्रशंसा या लौकिक उपचार में ऐसे कान्तिगुणयुक्त वाक्य प्राप्त होते हैं।[२] साथ ही दण्डी की यह भी मान्यता है कि लोकप्रसिद्ध अर्थ के वर्णन में भी चमत्कार होने पर ही कान्ति गुण माना जाता है। सभी लोक प्रसिद्ध अर्थों का वर्णन कान्त नहीं होता।[३] इस प्रकार दण्डी कान्ति गुण को अर्थगत मानते हैं।

दण्डी ने कान्ति गुण विपर्यय को अत्युक्ति माना है। कवि अपने कल्पना-वैभव के द्वारा, जहाँ लोकप्रसिद्धि का परित्याग कर किसी वस्तु का वर्णन करने लगते हैं, उससे केवल विदग्धजन ही संतुष्ट होते हैं। ऐसी अत्युक्तिपूर्ण रचना में केवल गौडों का ही आग्रह रहता है। दण्डी की इस धारणा के आधार पर हेमचन्द्र का विचार है कि यह कान्ति, अतिशयोक्ति का अभाव मात्र है। इसलिए इसे स्वतन्त्र रूप से गुण नहीं मानना चाहिए।[४]

---

४. इति पद्येऽपि पौरस्त्या बध्नन्त्योजस्विनीगिरः।
अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा॥ —वही, १।८३

१. कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते॥ —काव्यादर्श, १।८५

२. इति संभाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम्।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः॥ वही, १।८८

३. सेयमतिशयोक्तेर्यन्त्रणा न पुनर्गुणान्तरम्।
—काव्यानुशासन, पृ० २३९

दण्डी ने स्वयं इसे वैदर्भ मार्ग का गुण माना है। क्योंकि गौड इसके विपर्यय अत्युक्ति में रुचि रखते हैं।[1]

समाधि—

समाधि गुण की परिभाषा करते हुए दण्डी ने कहा है कि जहाँ लोक-व्यवहार का पालन करने वाले कवि के द्वारा किसी वस्तु के गुण, क्रिया आदि धर्म का अन्य वस्तु पर आधान किया जाता है, वहाँ समाधि गुण होता है।[2] प्रभा टीका में साध्यवसाना लक्षणा और दण्डी के सम्यक् आधान को अभिन्न मानते हुए समाधि को अन्वर्थ संज्ञा कहा गया है।[3] साध्यवसाना लक्षणा में विषयी का धर्म कहकर विषय के धर्म का बोध कराया जाता है। अतः समाधि गुण में भी प्रस्तुत धर्म का कथन करके अप्रस्तुत के धर्म का कथन होना चाहिए। आचार्य मम्मट के अतिशयोक्ति अलंकार का स्वरूप कुछ दण्डी के इस समाधिगुण से मिलता है। किन्तु दण्डी ने स्वयं जो अतिशयोक्ति अलंकार का लक्षण दिया है, उसे इस समाधिगुण से भिन्न रखने का ही प्रयत्न किया है। दण्डी का यह समाधि गुण अर्थगत है।

दण्डी ने समाधि गुण को बहुत महत्त्व दिया है। उसे उन्होंने 'काव्य-सर्वस्व' कहा है। यह गौड और वैदर्भ, दोनों मार्गों में समादृत है।[4]

इस प्रकार दण्डी के दसों काव्यगुणों का विवेचन कर हमने देखा कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्य भरत आदि की कतिपय गुणधारणाओं का आदर करते हुए गुण निरूपण में उनका अन्धानुसरण नहीं करते। नाम की समानता होने पर भी दण्डी के अनेक गुणों का स्वरूप भरत के तदगुणस्वरूप से भिन्न है।

वामन—

रीति को काव्य की आत्मा[5] घोषित करने वाले प्रसिद्ध आचार्य वामन ने काव्य गुणों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। काव्य में शोभा का

---

१. इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्‌गौडोपलालितम् ॥ —काव्यादर्श, १।९२

२. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
साम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥—काव्यादर्श, १.९३

३. सम्यगाधीयते साध्यवसानालक्षणया उपचर्यते।.........सम्यगाधीयते उपचर्यते स समाधिः इति अन्वर्थिकी संज्ञा।—वही, प्रभाटीका, १.९२

४. तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति ॥—वही, १.१००

५. रीतिरात्मा काव्यस्य।—काव्यालंकारसूत्र

आधान करने वाले धर्म को वामन ने 'गुण' संज्ञा प्रदान की है।[1] यहाँ 'शोभा' का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। जो गुण काव्य को सर्वतोभावेन उत्कृष्ट बनाते हैं, वे ही गुण काव्यात्मस्वरूप रीति में वैशिष्ट्य का आधान करते हैं।[2] वामन ने दण्डी के मार्ग को ही 'रीति' नाम प्रदान किया है और इन रीतियों का विभाजन गुणों के भाव और अभाव के आधार पर किया है। वे रीतियाँ हैं—वैदर्भी, गौडी और पांचाली। जिस प्रकार दण्डी ने वैदर्भ मार्ग को सभी गुणों से युक्त मानते हुए उसे उत्तम माना था, उसी प्रकार वामन ने भी वैदर्भी रीति में समग्र गुणों की सत्ता मानते हुए उसे सर्वोत्कृष्ट बताया है।[3] वैदर्भी की अपेक्षा गौडी और पांचाली रीतियाँ हेय हैं क्योंकि उनमें कुछ ही गुण होते है।[4]

एकावली में वामन की इस मान्यता का खण्डन करते हुए विद्याधर ने कहा है कि वामन ने काव्य गुण के स्थान का समीचीन निर्धारण नहीं किया है। काव्य का प्रधान तत्त्व मानकर वामन ने उसे काव्य का उपस्कारक धर्म तो माना ही, उसे उपस्कार्य भी मान लिया। जो स्वयं ही अलंकार्य है उसे अलंकार भी मानना कहाँ तक उचित है वामन की यह धारणा तो स्वतोविरोधिनी है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही, आचार्य भरत की गुणसम्बन्धी मान्यता का विवेचन करते हुए हम यह जान चुके हैं कि नाट्यशास्त्र में गुणों को दोषों का अभाव कहा गया है।[5] आचार्य वामन ने इसके सर्वथा विपरीत दोषों को गुणाभावस्वरूप बताया है और गुणों की भावनात्मक सत्ता स्वीकार की।[6]

आचार्य भरत और दण्डी द्वारा प्रतिपादित दस गुणों को स्वीकार करते हुए भी वामन ने शब्दगत और अर्थगत गुणों के भेद का ग्रहण करते हुए, वस्तुतः गुणों की संख्या बीस कर दी। वामन ने प्रत्येक गुणों के स्पष्ट रूप से

१. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः।—वही, ३.१.१

२. विशेषा गुणात्मा।—काव्यालंकारसूत्र, १.२.८

३. तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्।—वही, १.२.१४

४. न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्।—वही, १.२.१५

५. एते दोषा ही काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः॥—नाट्यशास्त्र, १६.९५

६. गुण विपर्ययात्मनो दोषाः अर्थस्तदवगमः।—काव्यालंकारसूत्र, २.१.१

दो स्वरूप प्रदर्शित किए—शब्दगत और अर्थगत। इस प्रकार वामन ने गुणों के स्वरूप में होने वाले भ्रम को दूर करने का प्रयत्न किया। भरत और दण्डी ने इस प्रकार का भेद नहीं किया था और यही कारण था कि दोनों की ही गुण धारणा अस्पष्टता से ग्रस्त थी। टीकाकार एवम् अन्य आचार्य अपनी-अपनी मान्यता के अनुरूप उन्हें शब्दगत, अर्थगत या शब्दार्थयुगलगत मानने का आग्रह करते थे। वामन ने प्रत्येक गुण के शब्द और अर्थ के आधार पर दो भेद मानकर इस प्रकार की खींचतान को अपनी ओर से समाप्त कर दिया।

आचार्य भरत और दण्डी के गुण लक्षणों की वामन ने भलीभाँति परख की है। वामन ने चूँकि गुण संख्या का विस्तार कर उन्हें बीस तक पहुँचा दिया है, अतः अनेक गुणों के स्वरूप की कल्पना उन्हें स्वतन्त्र रूप से करनी पड़ी है। किन्तु सभी गुणों के सम्बन्ध में उन्होंने ऐसा नहीं किया है। कहीं तो वामन ने भरत और दण्डी के एक ही गुण के लक्षण में आए हुए अनेक वैशिष्ट्यों के आधार पर एकाधिक गुणों की कल्पना कर ली है और कहीं पर एक ही गुण की उन दोनों द्वारा दीं गई परिभाषाओं में से वामन ने एक से अधिक गुणों के लक्षण निकाल लिए हैं और उनका उपयोग किया है। अब हम आगे वामन द्वारा स्वीकृत गुणों के स्वरूप का विवेचन करेंगे। नाम की समानता के कारण किसी भी गुण के दोनों स्वरूपों—शब्दगत और अर्थगत—का साथ-साथ विवेचन सुविधाजनक होगा।

ओज—

आचार्य वामन ने सभी शब्दगत गुणों को बन्ध या पदरचना का गुण माना है।[1] उनके अनुसार शब्दगत ओज गाढ़बन्धत्व है।[2] इस प्रकार शब्दगत ओज बन्ध की गाढ़ता है। पदरचना में प्रगाढ़ता, समास एवं संयुक्ताक्षरों के आधिक्य आदि के कारण तथा रेफादि वर्णों के प्रयोगबाहुल्य से आती है। वामन की दृष्टि में शब्द-ओज, तीनों रीतियों—वैदर्भी, गौडी और पांचाली का सर्वसाधारण गुण है। सम्भवतः यही कारण है कि वामन ने भामह और दण्डी द्वारा प्रदर्शित ओज के मुख्य वैशिष्ट्य, 'समासभूयस्त्व' को ग्रहण नहीं किया, ताकि यह सभी तीनों रीतियों का सामान्य गुण बन सके। दण्डी की श्लेषगुण

---

१. ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः।
—काव्यालंकारसूत्र, ३.१.४

२ गाढबन्धत्वमोजः।—वहीं, ३.१.५

सम्बन्धी मान्यता का कुछ प्रभाव वामन के ओजोगुण के लक्षण में अवश्य परिलक्षित होता है। दण्डी ने श्लेषगुण के शैथिल्य के अभाव की कल्पना की थी। वामन का गाढ़बन्धत्व भी पदबन्ध में शिथिलता का अभाव माना जा सकता है। आगे चलकर अभिनवगुप्त ने भरत के ओजोगुण की व्याख्या 'गाढबन्धत्व' के रूप में की। हो सकता है कि यह वामन का ही प्रभाव रहा हो।

अर्थगत ओज का लक्षण करते हुए आचार्य वामन ने उसे 'अर्थ की प्रौढ़ता' बताया है।[1] अपने ग्रन्थ "काव्यालंकारसूत्र[1]" में उन्होंने स्वयं ही अर्थ की प्रौढ़ि का पाँच प्रकार कहा है—पदार्थ में वाक्य रचना, वाक्यार्थ में पद का कथन, व्यास, समास और साभिप्रायत्व।[2] इन्हें दूसरे शब्दों में क्रमशः इस प्रकार समझा जा सकता है—एक पद से व्यक्त किए जा सकने योग्य अर्थ के लिए वाक्य का प्रयोग, किसी वाक्य के अर्थ को व्यक्त करने हेतु मात्र एक पद का प्रयोग, किसी अर्थ का विस्तार, उसका संक्षेप और किसी विशेष अर्थ की सिद्धि लिए अभिप्राययुक्त वर्णन।

प्रसाद

आचार्य वामन ने प्रसाद गुण को बन्ध का शैथिल्य माना है।[3] शैथिल्य यद्यपि एक दोष है किन्तु ओजःसाहचर्य से वह गुण हो जाता है। यदि प्रसाद और ओज की स्थिति पृथक्-पृथक् हो तो, वह प्रसाद गुण न होकर दोष ही होगा। किन्तु ये दोनों गुण तो परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं, अतः इनका साहचर्य कैसे सम्भव है, इसका समाधान वामन ने नाटक में करुण रस की अनुभूति का उदाहरण देकर किया है।[4] उनका कहना है कि विरोधी वस्तुओं

---

१. अर्थस्य प्रौढिरोजः। —काव्यालंकारसूत्र, ३।२।२

२. पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च॥ —वही, ३।२।२

३. शैथिल्यं प्रसादः। —वही, ३।१।६

४. नन्वयमोजोविपर्ययात्मा दोषः तत्कथं गुण इत्यत आह—गुणसंप्लवात्। गुणः प्रसादः ओजसा सह संप्लवात्। शुद्धस्तु दोष एवेति। ननु विरुद्धयोरोजःप्रसादयोः कथं संप्लव इत्यत आह—स त्वनुभवसिद्धः। स तु संप्लवस्तु अनुभवसिद्धः तद्विदां रत्नादिविशेषवत्। अत्र श्लोकः—करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः। यथानुभवतः सिद्धः तथैवोजःप्रसादयोः॥
—काव्यालंकारसूत्र, ३।१।६ की वृत्ति।

की सहस्थिति को प्रमाणित करने के लिए बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं अपितु यह विषय सहृदयजन-संवेद्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ओजोगुण के विपर्यय के रूप में शब्दगत प्रसाद गुण की कल्पना की गई है। सामान्यतः गुण का विपर्यय दोष होता है। किन्तु विपर्ययात्मक गुण की यह धारणा विलक्षण ही है। वामन की इस धारणा का खण्डन परवर्ती आचार्यों ने किया है।[1] विचार करने पर वामन की यह मान्यता सर्वथा असंगत नहीं दिखाई देती क्योंकि लोक में भी सुख-दुःख का सहज साहचर्य अनुभवसिद्ध है। प्रसव पीड़ा से असह्य दुःख का भी अनुभव करती हुई माता जब प्रसूत पुत्र का मुख देखती है, तो उसे सुख का भी अनुभव होता है। इस प्रकार उसे दुःख के साथ ही सुख भी अनुभूत होता है। इससे सिद्ध होता है कि बन्धगाढत्व रूप ओज के साथ उसका विपर्यय बन्धशैथिल्य रूप प्रसाद भी रह सकता है। अतः इन दोनों की सहस्थिति की वामन की धारणा निराधार नहीं है।

ओज और प्रसाद के उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर वामन ने प्रसाद के तीन भेद माने हैं। कहीं ओज उत्कृष्ट हो सकता है, कहीं प्रसाद उत्कृष्ट हो सकता है और कहीं दोनों समान रह सकते हैं।

अर्थगत प्रसाद अर्थवैमल्य को कहते हैं।[2] वामन ने अर्थगत प्रसाद गुण का यह लक्षण करने के बाद उसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनुपयोगी अर्थ का त्याग कर विवक्षित अर्थ मात्र का वर्णन अर्थ-वैमल्य कहा जाता है।[3] इस गुण में उतने ही पदों का प्रयोग वांछित होता है, जितने से कवि का अभीष्ट अर्थव्यक्त हो जाय। आवश्यकता से अधिक पदों का प्रयोग होने पर अप्रयोजक-पदत्व दोष माना जाता है। सभी आचार्यों ने इससे बचने की सलाह दी है।

श्लेष

आचार्य वामन के अनुसार शब्दगत श्लेषगुण मसृणता है।[4] जहाँ अनेक पदों के होने पर भी एकपदता की प्रतीति हो, वहाँ मसृणत्व कहा

---

१. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृ० २३४

२. अर्थवैमल्यं प्रसादः। —काव्यालंकारसूत्र, ३।२।३

३. अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः।—वही, ३.२.३ की वृत्ति।

४. मसृणत्वं श्लेषः।—काव्यालंकारसूत्र, ३।१।१०

जाता है ।[1] श्लेष में वस्तुतः बहुत से पदों का समास नहीं होता, वे व्यस्त ही रहते हैं किन्तु उनके समस्त होने का भान होता है । किसी भी वाक्य में, जब एक पद, दूसरे पद से इस प्रकार सम्बद्ध हो कि परस्पर अपृथक् प्रतीत हो, तब वहाँ श्लेष गुण माना जाता है । यहाँ वामन के शब्दगत ओज के सम्बन्ध में भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए । वह शब्दश्लेष से सर्वथा भिन्न है । ओज में पदों की गाढ़बन्धता (सुसम्बद्ध ग्रथन) होती है और श्लेष में पदों में (व्यस्तता होते हुए भी) एकपदता की प्रतीति ।

आचार्य वामन ने अर्थ-श्लेष को 'घटना' कहा है ।[2] उन्होंने इस सूत्र की वृत्ति में 'घटना' को स्पष्ट करते हुए उसे क्रमकौटिल्य, अनुल्बणत्व और उपपत्ति योग कहा है ।[3] 'क्रम' का अर्थ यहाँ विषयवस्तु के वर्णन के निश्चित क्रम से है । कौटिल्य का अर्थ है वक्रता । घटनागत यह वक्रता, वक्रोक्ति व्याजोक्ति आदि अलंकारों में पाई ही जाती है । लौकिक अर्थ का त्याग न करने के कारण उत्पन्न सर्वजनमनोज्ञता ही अनुल्बणत्व है । अर्थ की अनुपपत्ति का निराकरण ही उपपत्ति है । भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में शब्दों के तनिक अन्तर से वामन की ही इस परिभाषा को अर्थश्लेष के लक्षण का विषय बनाया है । टीकाकार रत्नेश्वर ने उसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है सामान्य रूप से वाक्य का जो अर्थ घटित होता नहीं जान पड़ता, उस अर्थ को बुद्धि कौशल से घटित कर देना 'घटना' है ।[4] इस व्याख्या द्वारा वामन का अभिप्राय भी स्पष्ट हो जाता है ।

समता

आचार्य वामन ने मार्ग (शैली) की अभिन्नता को शब्दगत समता गुण माना है ।[5] वस्तुतः यह किसी भी रचना की शैली पर आश्रित एकरूपता है । चाहे प्रबन्ध हो, या मुक्तक, यह गुण दोनों का ही हो सकता है । यदि सम्पूर्ण

---

१. मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकपदवद्भासन्ते ।
—वही, उक्त सूत्र की वृत्ति ।

२. घटना श्लेषः ।— वही, ३.२.४

३. क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना ।—वही, उक्त सूत्र की वृत्ति

४. अघटमानस्येव वाक्यार्थस्य बुद्धिचातुर्येण घटनमिति वाक्यार्थः ।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वरकृत टीका, पृ० ७३

५. मार्गाभेदः समता ।—काव्यालंकार सूत्र, ३.१.११

प्रबन्ध की रचना एक ही शैली में भी की जाय तो उसमें प्रबन्धगत समता गुण होगा। एक मुक्तक (छन्द) में भी एक ही शैली का निर्वाह प्रारम्भ से अन्त तक हो तो वहाँ भी समता गुण माना जायगा। जिस प्रबन्ध में एक ही रस हो वहाँ शैलीगत एकरूपता को गुण माना जा सकता है। किन्तु प्रबन्धादि में परिवर्तित मनोदशाओं के प्ररिप्रेक्ष्य में रसों में परिवर्तन के कारण समता गुण न होकर दोष बनने लगती है क्योंकि ऐसी स्थितियों में शैली की एकरूपता न तो सम्भव होती है और न ही वांछित। अतः सम्पूर्ण प्रबन्ध में एक ही मार्ग का आश्रयण गुण नहीं माना जा सकता। मुक्तक में प्रायः एक ही भाव की अभिव्यक्ति होती हैं; इसलिए वामन की समता का वहाँ औचित्य और समादर होना चाहिए। प्रबन्ध की दृष्टि से वामन का यह शब्दगत समता गुण वांछनीय नहीं है।

अर्थगत समता गुण का लक्षण वामन ने अवैषम्य बताया है।[१] अर्थ के क्रम का भंग न होना ही अविषमता है। इस प्रकार यह गुण प्रक्रमभंग दोष का का अभाव है। वामन ने सुगमता को भी अवैषम्य माना है।[२] अतः वह क्लिष्टत्व का अभाव रूप माना जा सकता है। वामन का यह प्रक्रमाभेद समतागुण उनके श्लेषगुण के क्रम-घटना-भेद से मिलता जुलता है। अतः क्रम-घटना श्लेष गुण में इसका अन्तर्भाव हो सकता है।

समाधि

शब्दगत समाधि गुण, आचार्य वामन की दृष्टि में, आरोह और अवरोह का क्रम है।[३] समाधि का शाब्दिक अर्थ 'परिहार' है। आरोह की स्थिति में अवरोह का परिहार रहता है और अवरोह की स्थिति में आरोह का परिहार हो जाता है। इस प्रकार आरोह-अवरोह (चढ़ाव-उतार) का एक निश्चित क्रम रहता है जिसमें प्राणवायु की उर्ध्वगति होती है, ऐसे दीर्घादि गुर्वक्षरों का प्राचुर्य आरोह कहलाता है और लघु वर्णों का प्रयोग अवरोह माना गया है।[४]

---

१. अवैषम्यं समता।—वही, ३.२.५
अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता।क्वचित्क्रमोऽपि भिद्यते।
— वही, उक्त सूत्र की वृत्ति।

२ सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति।—वही, ३.२.६ की वृत्ति।

३. आरोहावरोहक्रमः समाधिः—काव्यालंकारसूत्र, ३.१.१२

४. दीर्घादिगुर्वक्षरप्राचुर्ये आरोहः। लध्वादिशिथिलप्रायत्वे चावरोह इति द्रष्टव्यम्।—काव्यालंकारसूत्र, ३.१.१.१३ कामधेनुटीका।

इस प्रकार इसका परस्पर विपर्यय है। वामन के ओज और प्रसाद गुण तो क्रमशः आरोह और अवरोह रूप ही हैं। अतः समाधि को ओज और प्रसाद से भिन्न क्यों माना जाय।[1] वामन ने इस शंका का निराकरण करने हेतु दो युक्तियाँ दी हैं। प्रथम युक्ति यह है कि ओज और प्रसाद का तो साहचर्य है किन्तु आरोह और अवरोह विपरीत स्वभाव के होने के साथ ही पृथक्-पृथक् रहते हैं। अतः समाधि गुण, ओज और प्रसाद से भिन्न है।[2] दूसरी युक्ति के अनुसार ओज में आरोह और प्रसाद में अवरोह का कोई नित्य नियम नहीं है।[3] आरोह और अवरोह के अभाव में भी क्रमशः ओज और प्रसाद की सत्ता इन दोनों गुणों से पृथक् है। इसके अतिरिक्त प्रसाद और ओज में आरोह-अवरोह के मिश्रण का कोई क्रम नहीं रहता है, जबकि समाधि में उनका एक निश्चित क्रम होता है।[4] भरत की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि सहज प्रतिभासम्पन्न कवि की वाणी में आरोह-अवरोह के क्रम का निर्वाह होता है। प्रतिभा-दृष्टि के अभाव में अन्धे के पदनिक्षेप की तरह कवि की रचना में भी पद योजना का क्रम नहीं रहता।[5] आगे आचार्य अभिनवगुप्त ने यह भी सिद्ध किया है कि आरोह-अवरोह का क्रम पाठ का गुण नहीं, अपितु वह काव्य का गुण है।[6]

अर्थगत समाधि गुण की वामन की धारणा बड़ी विलक्षण है। उन्होंने इस गुण को अर्थदृष्टि या अर्थदर्शन कहा है।[7] समाहित-चित्त से अर्थ दर्शन करने के कारण इसे समाधि कहते हैं।[8] वामन ने अर्थ-प्रकार का निरूपण करते हुए

---

१. न पृथक् समाधिर्गुणः। आरोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात्। ओजोरूपश्चावरोह इति।—वही, वृत्ति।

२. न असम्पृक्तत्वात्।—वही, ३.१.१४

३. अनैकान्त्याच्च।—वही, ३.१.१५

४. क्रमविधानार्थं वा।—वही, ३.१.१९

५. तेन स्वभावप्रतिभादर्शनानुविद्धा भगवती वाणी स्वरसोपनिपतिता स्वरसंभारप्रभावानुरोधेनैवारोहवरोहक्रमं भजते। प्रतिभादृष्टिशून्यत्वात् अन्धपदवदारोहादि न भजेत्। —नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, पृ० ३३९

६. वही, पृ० ३३९

७. अर्थदृष्टिः समाधिः।—काव्यालंकारसूत्र, ३.२.६

८. अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः। समाधिकारणत्वात् समाधिः। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात्।—वही, उक्त सूत्र की वृत्ति।

कहा है कि प्रथमतः यह दो प्रकार का होता है—अयोनि और अन्यच्छाया-योनि। पुनः यह व्यक्त और सूक्ष्म दो प्रकार का होता है और सूक्ष्म अर्थ के भी दो भेद हैं—भाव्य तथा वासनीय।[1] अयोनि का अर्थ है कारण रहित। जिस अर्थ का कोई न कारण हो, वह अयोनि अर्थ होता है। अन्यच्छायायोनि वह अर्थ होता है, जिसका बोध अन्य काव्य की छाया (प्रभाव) से होता हो।

वामन की इस गुणधारणा में काव्यार्थबोध की सम्पूर्ण प्रक्रिया का समावेश है। अर्थबोध काव्य का एक आवश्यक गुण है। वह काव्य ही क्या जिसका अर्थबोध ही न हो। काव्यार्थबोध भी समाहित चित्त के द्वारा ही सम्भव है। एकाग्रचित्त पाठक, दर्शक या श्रोता, श्रव्य एवं दृश्य काव्य के अर्थ का अनुभव करते हैं। जिस कवि की रचना में पाठक, श्रोता या दर्शक को जितना ही अधिक तल्लीन करने की क्षमता हो, वह रचनाकार उतना ही प्रतिभाशाली और रससिद्ध माना जाता है। इसलिए समाधि को काव्य का गुण नहीं अपितु कविप्रतिभा का गुण मानना अधिक उचित है।

वामन की इस गुणधारणा का खण्डन अनेक परवर्ती आचार्यों ने किया है। मम्मट ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि अयोनि तथा अन्यच्छाया-योनि रूप अर्थ के अभाव में तो काव्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः अर्थदृष्टि रूप समाधि गुण नहीं।[2] मम्मट का ही अनुसरण करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने भी समाधि को काव्यगुण मानने का खण्डन किया है।[3] आचार्य क्षेमेन्द्र और राजशेखर ने भी इसे काव्यगुण न मानकर कवि का प्रक्रियात्मक गुण माना है।[4] वामन की यह गुण धारणा भरत और दण्डी की

---

१. अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा। अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च। सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च।—वही, ३.२.७-९

२. अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत्कथं काव्यम्-इत्यर्थ-दृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः।—काव्यप्रकाश, ८.७२ वृत्तिभाग का अन्तिम वाक्य।

३. अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत्कथं काव्यं स्यात्। ततश्च सकलसत्कविदृष्टः काव्यार्थः समाधिः स्यादिति नार्थगुणसमाधिः।
—काव्यानुशासन, पृ० २३७

४. कविकण्ठाभरण, १२५-२६ एवं काव्यमीमांसा, ४

समाधिगुणधारणा से सर्वथा भिन्न है। काव्यालंकारसूत्र की कामधेनु टीका में समाधिगुण का विपर्यय ग्राम्यत्व दोष कहा गया है।[१]

माधुर्य

आचार्य वामन ने शब्दगत माधुर्य का लक्षण देते हुए उसे पृथक्पदत्ता कहा है।[२] इसमें दीर्घ समास का अभाव रहता है।[३] वामन ने पृथक्पदतारूप इस लक्षण को अन्य अनेक आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। दण्डी समास में भी माधुर्य गुण को स्वीकार करते हैं। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की दीर्घसमस्तपदावलियाँ क्या माधुर्य गुण से युक्त नहीं? इसीलिए ध्वनिवादी आचार्यों ने समस्त असमस्त दोनों प्रकार की पदावलियों में माधुर्य गुण की सत्ता मानी है। वस्तुतः वामन की यह गुणधारणा आचार्य भामह से प्रभावित है जिसमें कि उन्होंने दीर्घसमासरहित रचना को मधुर कहा था।[४] वामन ने माधुर्यगुण सम्बन्धी भरत की मान्यता को स्वीकार नहीं किया।

'उक्तिवैचित्र्य' अर्थगत माधुर्य का लक्षण बताया गया है।[५] वामन की इस गुण धारणा के अन्तर्गत कथन की एक विशेष भंगिमा अभिप्रेत है, जिसका आश्रयण वर्ण्यविषय के उत्कर्ष का प्रतिपादन करने के लिए किया जाता है। यही उक्तिवैचित्र्य रूप अर्थगत माधुर्य कहा जाता है। जिस उक्तिवैचित्र्य को अलंकारवादी सभी अलंकारों का मूल मानते हैं, उसे ही वामन ने गुण के रूप में स्वीकार किया।

सौकुमार्य

आचार्य वामन के अनुसार पदों की अजरठता या कोमलता ही शब्द-सौकुमार्य है।[६] इसका विपर्यय श्रुतिकटुत्व दोष है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रुतिसुखद रचना में शब्दगत सौकुमार्य गुण रहता है। आचार्य दण्डी ने 'अनिष्ठुरप्राय' अक्षरयोजना को सुकुमारता के लिए आवश्यक माना था।

---

१. अस्य गुणस्य विपर्ययो ग्राम्यत्वम्।—काव्यालंकारसूत्र, ३.२.७ कामधेनुटीका।

२. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।—वही, ३.१.२०

३. समासदैर्ध्यनिवृत्तिपरं चैतत्।—वही, वृत्ति (३.१.२१)

४. श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।—भामह, काव्यालंकार, २.३

५. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।—काव्यालंकारसूत्र, ३.२.१०

६. अजरठत्वं सौकुमार्यम्।—वही, ३;१.२१

वामन का अजरठत्व, दण्डी के 'अनिष्ठुरप्रायत्व' के समकक्ष ही है। परवर्ती आचार्यों ने शब्दगत सौकुमार्य को गुण न मानकर श्रुतिकष्टत्व दोष का अभावमात्र माना है। हेमचन्द्र इसे माधुर्य का ही एक प्रकार मानते हैं।[1] माधुर्य में भी पृथकपदत्व की कल्पना कर वामन ने उसे श्रुतिसुखद पदावली का ही गुण माना था।

अर्थगत सौकुमार्य को वामन ने 'अपारुष्य' कहा है।[2] वस्तुतः यह अभिव्यक्ति की रमणीयता का गुण है। किसी निष्ठुर अर्थ को कोमलतया अभिव्यक्त करना अर्थगत सौकुमार्य है। निष्ठुर अर्थ का बोध कराने वाले शब्दों का प्रयोग न कर कोमल पदों का प्रयोग कर उसके भाव को व्यक्त कराना, साहित्य ही नहीं, लोक में भी प्रचलित है। उदाहरणार्थ, लोग 'मरने को 'मरना' न कहकर 'गंगालाभ', 'स्वर्गवास', 'दिवंगत', 'कीर्तिशेष' आदि कहते हैं। इसमें 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियं' की भावना निहित होती हैं। अमंलसूचक, आतंकदायी और अश्लील अर्थ को भी व्यक्त करने के लिए शिष्ट लोग कोमल शब्दों का सहारा लेते हैं। हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने इसे गुण माने जाने का विरोध किया है और अश्लीलत्व दोष का अभाव माना है। उन्होंने इसे पर्यायोक्त अलंकार के अन्तर्गत मानने का भी सुझाव दिया है।[3]

उदारता

आचार्य वामन ने शब्दगत उदारता को 'विकटत्व' कहा है।[4] उनके अनुसार यह शब्दनृत्य है। वामन ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'विकटत्व' को 'नृत्यत्प्रायत्व' या 'लीलायमानत्व' कहा है। उनके अनुसार, इसमें सजातीय वर्णों की इस प्रकार योजना हो कि जैसे वे सब मिलकर नाचते से प्रतीत हों।[5]

---

१. सोऽयं श्रुतिकटुत्वदोषाभावो न गुणः। माधुर्यप्रकार एवायम्।
—काव्यानुशासन, पृ० २३८

२. अपारुष्यं सौकुमार्यम्।—काव्यालंकारसूत्र, ३.२.११

३. सोऽयममंगलरूपाश्लीलत्वदोषाभावो न गुणः। यदि वा उक्तिविशेषः पर्यायोक्तालंकारविषय एवासौ।—काव्यानुशासन, पृ० २३६

४. विकटत्वमुदारता।—काव्यालंकारसूत्र, ३.१.२२

५. बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता। यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम्। लीलायमानत्वमित्यर्थः।
—काव्यालंकारसूत्र, ३.१.२२ की वृत्ति।

नर्तक मण्डली की भाँति पदावली भी आचरण करती हो। 'भावाश्रयं नृत्यम्' की परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार नर्तक अपने हावभाव, अंगों के संचालनादि के द्वारा बिना कुछ कहे ही अभीष्ट भाव का बोध करा देता है उसी प्रकार अभीष्ट भाव को सुव्यक्त करने हेतु गुम्फित पदावली भी जहाँ लयबद्ध रूप से उपस्थित होती है, वहाँ शब्दगत उदारता गुण होता है।

काव्यालंकारसूत्र की कामधेनुटीका में विकटत्व को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। उसके अनुसार, क्रमशः वर्धमान वर्णों का होना और एक पद के प्रथम, द्वितीय वर्णों का, दूसरे पद के उसी क्रम से प्रथम, द्वितीय आदि वर्णो के साथ सादृश्य होना 'विकटत्व' है।[1] आचार्यों ने वामन के इस गुण को स्वीकार नहीं किया है। हेमचन्द्र इसे ओज का ही एक प्रकार मानते हैं।[2]

अर्थव्यक्ति

अर्थगत उदारता गुण अग्राम्यता है।[3] वामन के अनुसार, ग्रामत्व के प्रसंग में भी ग्राम्यत्व का अभाव, अर्थगुण उदारता है।[4] ध्वनिवादी आचार्य इस दोषाभाव को स्वतंत्ररूप से गुण मानने के पक्षधर नहीं हैं।[5]

आचार्य वामन के अनुसार, अर्थ की व्यक्ति का हेतु ही अर्थव्यक्ति गुण है।[6] ऐसे पदों की योजना, जो अपना अर्थ तत्काल व्यक्त करते हैं; शब्दगत अर्थव्यक्ति के लिए अभिप्रेत होती है। शब्दगत अर्थव्यक्ति गुण की यह धारणा प्रसाद गुण-धारणा से मिलती-जुलती है। किन्तु इनमें भेद करने के लिए ही सम्भवतः वामन ने प्रसाद को शैथिल्य रूप मान लिया और अर्थ-व्यक्ति को झटिति अर्थ प्रकट करने वाला गुण। वामन ने भरत की अर्थव्यक्ति

---

१. विकटत्वमिति क्रमशो वर्धमानाक्षरपदत्वम्। पदप्रथमाद्यक्षराणां पदान्तर-प्रथमाद्यक्षरैः सादृश्यं च।—काव्यालंकारसूत्र, ३.१.२२ की कामधेनु वृत्ति।

२. ओजः प्रकार एवायम्।—काव्यानुशासन, पृ० २३८

३. अग्राम्यत्वमुदारता।—काव्यालंकारसूत्र, ३.२.१२

४. ग्राम्यत्वप्रसंगेऽग्राम्यत्वमुदारता।—वही, उक्त सूत्र की वृत्ति।

५. सोऽयं दोषाभावो न गुणः।—काव्यानुशासन, पृ० २३८

६. अ-अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः।—काव्यालंकारसूत्र, ३.१२३

ब-यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति।—वही, उक्त सूत्र की वृत्ति।

को अपनी गुणधारणा का आधार नहीं बनाया। हेमचन्द्र के अनुसार, वामन का अर्थव्यक्ति गुण, दण्डी के प्रसाद का ही एक अंग है।[1]

वामन ने अर्थगत अर्थव्यक्ति को परिभाषित करते हुए उसे वस्तुस्वभाव की स्फुटता बताया है।[2] कुशल चित्रकार के चित्र की भाँति ही काव्य में चित्रित अर्थ का एक-एक अवयव जहाँ स्फुटत्वेन व्यक्त होता है, वहाँ अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण माना जाता है। वामन के लक्षण में प्रयुक्त वस्तु का अर्थ है भाव। उस भाव के स्वभाव (प्रकृति) की स्फुटता अर्थगत अर्थव्यक्ति है।[3]

कान्ति

आचार्य वामन ने शब्दगत कान्तिगुण को औज्ज्वल्य कहा है।[4] बन्ध की उज्ज्वलता का नाम कान्ति है। उसके अभाव में काव्य प्राचीन चित्र की भाँति (धूमिल, फीका) लगता है। इसका विपर्यय पुराणच्छाया है।[5]

वामन ने अपने द्वारा प्रतिपादित काव्यगुणों को बन्ध का गुण कहा है और उन पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही विचार किया है किन्तु कान्तिगुण का निरूपण करते हुए वे मात्र काव्यशास्त्र तक ही सीमित नहीं रहे अपितु व्यापक सौन्दर्यबोध की दृष्टि रखी है। वे चित्र, संगीत आदि कलाओं से पूर्ण परिचित थे। उनका शब्दगत कान्तिगुण चित्रकला को तूलिका से सम्पृक्त है। कान्तिगुण सम्बन्धी यह उद्भावना, वामन कीं मौलिक कल्पना है और इस विषय में उन्होंने भरत, दण्डी आदि आचार्यों से अलग हटकर सर्वथा स्वतन्त्ररूप से चिन्तन किया है। कान्तिगुण, पद की चमक (चमत्कृति) का गुण है। जिसके अभाव में कवि की वाणी पुराने चित्र की भाँति फीकी और निष्प्रभावी रहती है।[6]

---

१. सोऽयमुक्त्यन्तराभिहितः प्रसाद एवेति दण्डी।—काव्यानुशासन, पृ० २३९

२. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।—काव्यालंकारसूत्र, ३.२.१३

३. वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसावर्थव्यक्तिः।
—वही, उक्त सूत्र की वृत्ति।

४. औज्ज्वल्यं कान्तिः।—वही, ३.१.२४

५. बन्धस्यौज्ज्वल्यं नाम यदसौ कान्तिरिति। तदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते।
—वही, उक्त सूत्र की वृत्ति।

६. औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन बन्ध्यं कवेर्वचः॥
—वही, उक्त सूत्रवृत्ति के पश्चात् संग्रहश्लोक, १०वाँ

यह कान्ति सुवर्ण (सुन्दर वर्णों) के प्रयोग से आती है। कवि प्रयत्नपूर्वक ऐसे वर्णों अथ च शब्दों की योजना करता है।[1] जिससे काव्य में चमत्कृति उत्पन्न हो।

वामन ने अर्थगत कान्ति गुण की पहचान 'दीप्तरसत्व' के रूप में की हैं।[2] इस प्रकार उन्होंने रस को अर्थगत कान्तिगुण मान लिया। दण्डी और भामह ने रसवत् अलंकार की कल्पना कर रस को अलंकार के अन्तर्गत कर लिया था। वामन ने इसे गुण की कोटि में स्थापित किया। हेमचन्द्र ने ध्वनिवादी आचार्यों के दीप्त और अदीप्त रसों के वर्गीकरण को ध्यान में रखते हुए वामन की इस गुणधारणा से अपनी असहमति व्यक्त की है। दीप्त रसों के अन्तर्गत रौद्रादि रस ही आते हैं और शृंगारकरुणादि रस अदीप्त कहे जाते हैं। हेमचन्द्र ने इस आधार पर जो मत व्यक्त किया है, उसके अनुसार वामन का कान्ति गुण रौद्रादि रसों तक ही सीमित रहेगा और शृंगारादि रसों से उसे कुछ भी मतलब नहीं है। वस्तुतः हेमचन्द्र का यह मत निर्भ्रान्त नहीं है। आचार्य वामन के दीप्तरसत्व का अभिप्राय सभी रसों की प्रकर्षावस्था से है। उन्होंने स्वयं ही इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शृंगारादि रस जहाँ दीप्त (प्रकृष्ट) रहते हैं, वह दीप्तरस है और उनका भाव (स्थिति) ही दीप्तरसत्व अर्थात् कान्तिगुण है।[3]

आचार्य भरत के कान्तिगुण लक्षण से वामन के कान्तिगुण का लक्षण साम्य नहीं रखता। अपितु वामन का यह कान्तिगुण कुछ अंशों में भरत के उदारगुण से मिलता-जुलता है।

कुछ प्राचीन आचार्य गुणों को पाठ-धर्म मानते थे। हेमचन्द्र ने उसका उल्लेख किया है। ओज, प्रसाद, माधुर्य, साम्य और औदार्य—ये पाँचों गुण पाठ-धर्म माने जाते थे।[4] आचार्य वामन ने गुणों को पाठधर्म माने जाने

---

१. सुबरन को खोजत फिरत कवि............... ।

२. दीप्तरसत्वं कान्तिः।—काव्यालंकारसूत्र, ३.२.१४

३. दीप्ता रसा शृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः।
—वही, उक्त सूत्र की वृत्ति।

४. ओजः प्रसादमधुरिमाणः साम्यमौदार्यं च पंचेत्यपरे। तथा हि यददर्शिविच्छेदं पठतामोजः, विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः, आरोहावरोहततरंगिणि पाठे माधुर्यम्, समौष्ठमेवस्थानं पठतामौदार्यम् अनुच्चनीचं पठतां साम्यमिति।
—काव्यानुशासन, पृ० २४०

का खण्डन किया है। उनका कथन है कि यदि ये गुण पाठधर्म होते तो इनकी सत्ता सर्वत्र प्राप्त होती। किसी भी वाक्य का पाठ करते समय कोई न कोई गुण अवश्य आ जाता। किन्तु ऐसा अनुभवसिद्ध नहीं है। वस्तुतः सभी पद-रचनाओं में गुणों की सत्ता नहीं देखती जाती। अतः ये गुण पाठ के धर्म नहीं है।[१]

आचार्य वामन ने काव्यगुणों की सत्ता की सिद्धि में भी अनेक युक्तियाँ दी हैं। उन्होंने इन गुणों की कल्पनामात्रता का खण्डन किया है। उनका कहना है कि सहृदयजनसंवेद्य होने के कारण काव्य में गुणों की,सत्ता अपरिहार्य है।[२] ऐसा कहना भी उचित नहीं है कि सर्वजनसंवेद्य न होने के कारण कुछ लोगों को होने वाली यह प्रतीति भ्रममात्र है। सर्वजनवेद्य न होने पर भी, निर्बाध होने के कारण, इसे भ्रम कहकर झुठलाया नहीं जा सकता।[३] विद्यमान भी वस्तु के प्रतीत न होने के कारण अनेक होते हैं। वैसे भी साहित्य के रसादि सर्वजनसंवेद्य नहीं होते। साथ ही, अन्धे को दिखाई न देने के कारण या बहरे को सुनाई न देने के कारण उनके प्रामाण्य के आधार पर तो हम यह नहीं कह सकते कि जगत् में न तो कुछ दृश्य है और न श्रव्य ही। अतः यदि असहृदय व्यक्ति गुण का अनुभव नहीं कर पाते, तो उससे गुण का अभाव कथमपि सिद्ध नहीं होता।

आचार्य वामन की गुणधारणा के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य भरत और दण्डी द्वारा प्रतिपादित दस गुणों का नाम स्वीकार करके भी वामन ने शब्द और अर्थभेद से उनकी संख्या बीस करके अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। गुणों की संख्या बढ़ जाने से कुछ के लक्षण सर्वथा नवीन रूप से स्वयं कल्पित किया। पूर्ववर्ती आचार्यों के कुछ गुणलक्षणों को अस्वीकार भी किया और कुछ गुण लक्षणों को कुछ परिवर्तनों के साथ प्रयुक्त भी किया। अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य वामन काव्यगुणों का प्रतिपादन करने में परम्परा को स्वीकार करने के बावजूद स्वतन्त्र और मौलिक रहे।

रुद्रट

आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार नामक अपने लक्षण ग्रन्थ में काव्यगुणों के सम्बन्ध में विचार नहीं किया है। उन्होंने एक स्थल पर सुन्दर वाक्य की कुछ

१. न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः।—काव्यालंकारसूत्र, ३.१.२७

२. नासन्तः सद्वेद्यत्वात्।—वही, ३.१.२५

३. न भ्रान्ताः निष्कम्पत्वात्।—वही, ३.१.२६

विशेषताओं को गिनाया है। टीकाकारनमिसाधु ने उन्हें 'वाक्यगुण' की संज्ञा से अभिहित किया है। उन काव्यगुणों की संख्या छः है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं —१-अन्यूनाधिकवाचकत्व, २-सुक्रमत्व, ३-पुष्टार्थशब्दत्व ४-चारुपदत्व, ५-क्षोदक्षमत्व और ६-अक्षुण्णत्व ।[1] इनके विषय में टीकाकार नमिसाधु ने जो कुछ लिखा है, उसके आधार पर यहाँ संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. अन्यूनाधिकवाचकत्व—काव्यशास्त्र में अधिकपदता और न्यूनपदता को दोष माना जाता है। अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए, जितने शब्द अपेक्षित हों, उतने का ही प्रयोग करना एक गुण माना जाता है। सुकवि, न तो वाग्जाल फैलाता है और न आवश्यक पद योजना में कातरता ही दिखाता है। इस प्रकार अभीप्सित शब्दों का प्रयोग करना अन्यूनाधिकवाचकत्व गुण है। न्यूनपदत्व के कारण जहाँ अर्थबोध में कठिनाई होती है, वह दुरूह हो जाता है, वहीं अधिकपदता के कारण पुनरुक्ति आदि दोष आने की सम्भावना बढ़ जाती है। लोक में भी अधिक न बोलने की सलाह दी जाती है और कुछ कम ही बोलने का आग्रह किया जाता है। कम बोलना दोष नहीं है। अतिभाषण दोष और मितभाषण गुण माना जाता है। लोकव्यवहार का यह प्रभाव नमिधाधु के स्पष्टीकरण में स्पष्टतः झलकता है। उनका कहना है कि इस गुण में एकदम ऊनता का निषेध नहीं किया गया है; निषेध तो अतिशय न्यूनता का किया गया है। यदि पद के न्यून रहने पर भी विषय से सम्बन्ध कुछ असाधारण या विशिष्ट विशेषणों या अनुरूप कारकों का प्रयोग करके अभीष्ट अर्थ को सुव्यक्त कर दिया जाय तो वहाँ पद की न्यूनता दोष नहीं है।[2] यदि ऐसा न हो तो व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेकर स्वल्प पदों के द्वारा विपुल अर्थ की सुप्रतीति कराने वाले महाकवियों का सारा काव्य ही दूषित हो जाय।

---

१. अथ वाक्यगुणानाह—

अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् ।
क्षोदक्षममक्षुण्णं सुमतिवाक्यं प्रयुञ्जीत ॥

—काव्यालंकार, २.८

२. निशाब्दग्रहणाद्यत्र विनापि पदमसाधारणविशेषणोपदानात्तदनुरूपकारकप्रयोगाद्वा विवक्षितपदार्थप्रतीतिस्तदूनमात्रं साध्वेव ।

—काव्यालंकार, उक्त श्लोक की नमिसाधुकृत टीका ।

इसी प्रकार नमिसाधु ने अधिकपदता में भी अतिशय पदाधिक्य का ही निषेध बतलाया है ।[1]

२. सुक्रमत्व—यह दुष्क्रमत्व दोष का विपर्यय है। इस वाक्यगुण के अनुसार जिन पदों में परस्पर सम्बद्धता पद प्रयोग की परम्परा से सुनिश्चित है अथवा भाव के प्रकाशन में तात्कालिक रूप से उचित है, उन पदों का सामीप्य निश्चित क्रम में निर्धारित कर उन्हें उचित स्थान देना सुक्रमत्व है।

३. पुष्टार्थत्व—यह अपुष्टार्थत्व दोष का विपर्यय है। अपुष्टार्थत्व दोष वहाँ माना जाता है, जहाँ एक ही शब्द से व्यक्त किये जा सकने वाले अर्थ का बोध कराने के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया जा सके। ऐसी स्थिति में वे प्रयुक्त सभी शब्द, वस्तुतः अभीष्ट अर्थ का पोषण भी नहीं करते। इसके विपरीत, पुष्टार्थत्व गुण के अनुसार, उतने ही पदों का प्रयोग किया जितने से अभीष्ट अर्थ की पुष्टि होती हो। यह गुण अन्यूनाधिकवाचकत्व गुण में भी गतार्थ हो सकता है।

४. चारुपदत्व—दुःश्रवत्व दोष का विपर्यय चारुपदत्व गुण माना गया है।

५. क्षोदक्षमत्व—टीकाकार नामिसाधु ने इसे गाम्भीर्ययुक्तता माना है।[2]

६. अण्क्षुणत्व—दोषों के परित्याग और गुणों के समावेश से आने वाली परिपूर्णता को वाक्य का अण्क्षुणत्व (अक्षुण्णत्व) गुण कहा गया है।[3] आचार्य रुद्रट रचना की चारुता पर विशेष आग्रह करते हैं। उचित पदों के सन्निवेश चारुता में सभी गुण समाविष्ट हो जाते हैं।[4]

नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यालंकार की टीका करते हुए उपर्युक्त स्थल पर ही गुण के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने रीति को गुण के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि रीति, शब्द पर आश्रित गुण है,

---

१. निग्रहणादधिकमात्रं साध्वेव। —काव्यालंकार २.८ पर नमिसाधुकृत टीका।

२. क्षोदक्षमं प्रेरणासहं·········। गाम्भीर्ययुतमिति तात्पर्यार्थः। —काव्यालंकार २.८ पर नमिसाधु कृत टीका

३. अक्ष्क्षुणामिति। समस्तदोषत्यागात् समस्तगुणसंग्रहाच्च परिपूर्णम्।

४. वही।

अलंकार नहीं।[१] उन्होंने काव्यगुण का दो भेद किया है—कृत्रिम गुण और सहज गुण। उनकी धारणा है कि अलंकार काव्य के कृत्रिम गुण हैं और रस, काव्य के सहज गुण।[२] आनन्दवर्द्धन ने रस को गुण मानने वाले इस मत का उल्लेख कर खंडन किया है।[३] रस, अलंकार तथा रीति को गुण घोषित कर नमिनाधु ने काव्य के संपूर्ण सौन्दर्य को ही गुण कह दिया। इस प्रकार नामिसाधु की यह व्यापक गुणधारणा दण्डी की व्यापक अलंकार धारणा के समकक्ष ही है। दण्डी ने काव्यसौन्दर्य के आधायक सभी तत्वों को 'अलंकार' कहा था तो नमिसाधु ने उन्हें 'गुण' की संज्ञा प्रदान कर दी।

राजशेखर

काव्य-लक्षण ग्रन्थों में राजशेखर का 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ अद्वितीय ग्रन्थ है। उसकी विवेचन पद्धति परम्परा से अलग हटकर है काव्यमीमांसा के उपलब्ध संस्करणों में गुण-विवेचन से सम्बद्ध कोई अध्याय दृष्टिगोचर नहीं होता। अनुमान किया जाता है कि राजशेखर ने काव्यमीमांसा में गुणों के सम्बन्ध में विचार अवश्य किया था क्योंकि ग्रन्थारम्भ में उन्होंने विषयनिर्देश करते हुए 'गुणौपादानिक' नामक अध्याय का उल्लेख किया है।[४] किन्तु उस अध्याय के अनुपलब्ध होने से राजशेखर की गुणधारणा का स्वरूप जानना नितान्त कठिन है।

काव्यमीमांसा में पाठगुणों का विवेचन करते हुए राजशेखर ने प्रसाद और ओज, इन दो काव्यगुणों का उल्लेख किया है। वहाँ वे कहते हैं कि प्रसाद गुण युक्त काव्य में मन्द्र तथा उसके विपरीत ओजो-गुणयुक्त काव्य में

---

१. रचयेत्तमेव शब्दं रचनायाः यः करोति चारुत्वम्।
सत्यमपि सकलयथोदितपदगुणसाम्येऽभिधानेषु।
रचनाचारुत्वे खलु शब्दगुणः संनिवेशचारुत्वम्॥—काव्यालंकार, २.९-१०

२. एताश्च रीतयो नालंकाराः। किं तर्हि ? शब्दाश्रया गुणा इति।
—काव्यालंकार, २ नमिसाधुकृत टीका, पृ० १०

३. वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमालंकाराः। रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणा इति भिन्नः तत्प्रकरणारम्भः।
—वही, १२, टीका, पृ० १५०

४. 'गुणौपादानिकमुपन्युः'—काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय (शास्त्रसंग्रह)

तारस्वरयुक्त वाणी की योजना करनी चाहिए।[1] इसका अभिप्राय यह है कि राजशेखर इन गुणों (प्रसाद तथा ओज) को रसाश्रित मानते हैं। जिस प्रकार ध्वनिवादी आचार्य गुणों को रसाश्रित मानकर अनुकूल पद-योजना को उनका व्यंजक मानते हैं, उसी प्रकार राजशेखर ने भी मन्द और तार वार्णा को प्रसाद तथा ओजोगुण की उपकर्त्री माना है। उनके अनुसार ललित, काकुसमन्वित, उज्ज्वल, अर्थानुसार, विभागों से युक्त तथा विविक्त वर्णों से श्रुतिसुखद पाठ को कविगण आदर देते हैं।[2] यहाँ 'श्रुतिसुखद विविक्त वर्ण' को आनन्दवर्धन के माधुर्यव्यंजक वर्णों के समान माना जा सकता है। इस प्रकार राजशेखर के इस उल्लेख से यह अनुमान सहज ही लग जाता है कि काव्य में माधुर्य गुण के भी वे पक्षपाती थे। अतएव यह कहना असंगत नहीं होगा कि राजशेखर, ध्वनिवादी आचार्यों के तीनों गुणों माधुर्य, ओज और प्रसाद—को काव्यगुण के रूप में जानते-मानते थे। राजशेखर की काव्यगुण-धारणा के विषय में इससे अधिक कुछ कहना सम्भव नहीं।

कुन्तक

काव्यगुणधारणा के क्षेत्र में कुन्तक सर्वथा स्वतंत्र व्यक्तित्व के आचार्य हैं। काव्यशास्त्र की बहुसम्मत दोनों—शब्दार्थगत गुणों के दस भेद वाली तथा रसाश्रित गुणों के तीन भेद वाली—धाराओं से वे अछूते थे। बन्ध की परिभाषा देते हुए कुन्तक ने उसके सौभाग्य और लावण्य गुणों को शब्दार्थ गुण बताया है।[3] उन्होंने काव्यरचना की तीन पद्धतियों—मार्गों (सुकुमार, विचित्र और मध्यम) का उल्लेख कर प्रत्येक मार्ग के चार गुणों का वर्णन किया है। प्रत्येक मार्ग के इन चारों गुणों—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य—के नाम में समानता होने के बावजूद, प्रत्येक मार्ग की प्रकृति में भेद होने के

---

१. प्रसन्ने मन्द्रयेद्वाचं तारयेत्तद्विरोधिनि।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम्।
—काव्यमीमांसा, सप्तम अध्याय, पाठ प्रतिष्ठा--४

२. ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति॥
—वहीं, सप्तम अध्याय, पाठ प्रतिष्ठा–५

३. वाचकस्य न शब्दस्य वक्ष्यमाणं सौभाग्यलावण्यलक्षणं यद्गुणद्वयं, तस्य परिपोषकः पुष्टतातिशयकारी।—वक्रोक्तिजीवित, १.२२

कारण, उनमें स्वरूपगत भिन्नता कल्पित की गई है। तीनों मार्गों के इन चार गुणों के अतिरिक्त दो गुणों—औचित्य और सौभाग्य—को उन मार्गों का सामान्य गुण कहा गया है। ये दो गुण पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध के गुण बताए गए हैं।[1] इस प्रकार चार असाधारण और दो साधारण गुण, कुल मिलाकर ६ गुण और मार्ग भेद की गणना से चौदह गुण (४ × ३ = १२ + २ = १४) कुन्तक ने माने हैं। सर्वप्रथम हम मार्गभेद से असाधारण गुणों का स्वरूप-विवेचन करना ही उचित समझते हैं।

सुकुमार मार्ग के गुण

परम्परागत वैदर्भ मार्ग का ही नाम कुन्तक ने सुकुमार मार्ग रखा है। क्योंकि सुकुमार मार्ग का स्वरूप पूर्ववर्णित आचार्यों के वैदर्भ मार्ग से अत्यधिक साम्य रखता है। यहाँ सुकुमार मार्ग के गुणों का अवलोकन अभीष्ट है।

माधुर्य

कुन्तक ने सुकुमार मार्ग के सर्वप्रथम गुण के रूप में इसका उल्लेख किया है। माधुर्य गुण, समासरहित, मनोहारी तथा पद रचना के वैचित्र्य से युक्त होता है।[2] 'असमस्त' को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित के उक्त स्थल पर वृत्ति में कहा गया है कि यहाँ दीर्घ समास का अभाव है।[3] इसमें न का प्रयोग 'ईषदर्थ' (अल्पार्थक) में हुआ है। अभिप्राय यह है कि छोटे-समस्त पदों का प्रयोग हो सकता है। वृत्ति में ही 'मनोहारी' पद की व्याख्या करते हुए दो तत्त्वों को निर्दिष्ट किया गया है—प्रथमतः तो पदों का श्रुतिमधुर होना और द्वितीयतः उनका चारु-अर्थ-समन्वित होना। इसी प्रकार 'पदविन्यास' का अभिप्राय है—सुबन्त-तिङन्त पदों के सन्निवेश का वैचित्र्य।[4] कुन्तक

---

१. एतात्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥—वही, १.५७

२. असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ॥—वक्रोक्तिजीवित १.३०

३. असमस्तशब्दोऽत्र प्राचुर्यार्थः, न स्वभावनियमार्थः।
—वही, १.३० की वृत्ति।

४. मनोहारीणि हृदयाह्लादकानि श्रुतिरम्यत्वेनार्थरमणीयत्वेन च यानि पदानि सुप्तिङन्तानि तेषां विन्यासः सन्निवेशवैचित्र्यं जीवितं सर्वस्वं यस्य तथोक्तम्।
—वही, १.३० की वृत्ति।

की इस परिभाषा से माधुर्य गुण के चार तत्त्वों का ज्ञान होता है—अल्प-समासत्व, श्रुतिरम्यत्व, अर्थचारुत्व और पदविन्यासवैचित्र्य। माधुर्यगुण की परिपुष्टता के लिए इन गुणों का होना आवश्यक है। माधुर्य गुण की कुन्तक प्रदत्त इस परिभाषा में आचार्य भामह का श्रव्यत्व, दण्डी का श्रुत्यनुप्रासमाधुर्य और वामन का पृथक्पदत्व समवेत रूप से विद्यमान है। कुन्तक के इन चारों माधुर्यतत्त्वों में से अल्पसमासत्व, श्रुतिरम्यत्व और पदविन्यासवैचित्र्य का सम्बन्ध शब्दमाधुर्य गुण से है जबकि चौथे तत्त्व "अर्थचारुत्व" का सम्बन्ध अर्थमाधुर्य गुण से है।

प्रसाद—

काव्य में रस और वक्रोक्ति के विषय में अनायास ही आशय को प्रकट कर देने वाला तथा शीघ्रतापूर्वक अर्थावबोध कराने वाला जो गुण है, उसे 'प्रसाद' कहते हैं।[1] इसे वृत्ति द्वारा स्पष्ट करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार ने कहा है कि इस प्रसाद गुण में, पदों में समास का अभाव, प्रसिद्ध अर्थ का कथन, अर्थ के साथ पद की व्यवधान रहित सम्बद्धता और समासयुक्तता की स्थिति में उसका स्पष्टार्थक होना—ये चार वास्तविक तत्त्व हैं।[2] समास न रहने पर अर्थबोध सुगम हो जाता है। इसीलिए प्रसाद गुण में, समास का अभाव या स्वल्पसमास का सद्भाव होने पर स्पष्टार्थक पदप्रयोग अभीष्ट माना गया और उसे परमार्थ कहा गया। वस्तुतः प्रसाद गुण का परमार्थ है—झटित्यर्थबोध। इसलिये इसमें यही मुख्य है, साध्य है और शेष तीन तत्त्व साधन रूप हैं। कुन्तक की प्रसाद गुण-धारणा, पूर्ववर्ती आचार्य भामह से प्रभावित जान पड़ती है।

लावण्य—

कोमल वर्णविन्यास अथवा कोमल शब्दालंकार की योजना रूप स्वल्प-सम्पत्ति से भी काव्य में आने वाला बन्धचारुत्व लावण्य गुण कहा जाता है।[3]

---

१. अक्लेशव्यञ्जिताकूतझटित्यर्थसमर्पणम्।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स कथ्यते॥—वक्रोक्तिजीवित, १.३१

२. अत्र पदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वं अव्यवहितसम्बन्धत्वं समाससद्भावेऽपि गमकसमासयुक्तता च परमार्थः—वही, १.३१ की वृत्ति।

३. वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते॥—वही, १.३२

रचना में लावण्य लाने के लिए कवि को कोई विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। इसके लिये कुन्तक ने 'नातिनिर्बन्धनिर्मित' का प्रयोग किया है। आशय है कि हठपूर्वक पदयोजना लावण्य के आधान हेतु आवश्यक नहीं है। लावण्य तो सहज ही आता है। आगे और स्पष्टीकरण करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि सुकुमार शब्द और अर्थ के सन्निवेश से सुन्दर रचना के सौष्ठव को लावण्य गुण कहते हैं।[1] इस सन्निवेश सौन्दर्य की महिमा (सौष्ठव) का वर्णन (शब्दों से आख्यान करना) सम्भव नहीं है अपितु वह तो सहृदयसंवेद्य मात्र अर्थात् काव्यरसिकों की अनुभूति का विषय है।[2]

यद्यपि इस गुण के अन्तर्गत कुन्तक ने सुकुमार शब्द के साथ सुकुमार अर्थ का भी ग्रहण किया है तथापि आलोचकों ने इसे छन्द का बाह्यसौन्दर्य ही माना है, जिसके श्रवणमात्र से श्रोता काव्यज्ञ का हृदय आनन्द से अभिभूत हो जाता है।

लावण्य गुण कुन्तक की अपनी मौलिक कल्पना है। प्राचीन आचार्यों की परम्परा में यह स्वीकृत नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने सौकुमार्य गुण अवश्य स्वीकार किया है। स्वरूप की दृष्टि से सौकुमार्यं गुण से लावण्य गुण मिलता है, क्योंकि कुन्तक ने लावण्य गुण में भी शब्द और अर्थ की सुकुमारता का सन्निवेश किया है और उनके इस गुण का यही आधार भी है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों की सौकुमार्य गुणधारणा, कुन्तक की लावण्य गुणधारणा में सन्निविष्ट है। दण्डी का सुकुमार गुण भी कुन्तक की लावण्यगुण धारणा की परिधि में आ जाता है।

आभिजात्य—

श्रुतिमधुर, सुखदस्पर्श से चित्त को व्याप्त करने वाला और स्वभावतया स्निग्ध छाया (कान्ति) युक्त बन्ध का सौन्दर्य आभिजात्य गुण माना जाता है।[3] कुन्तक की इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर आभिजात्य गुण के तीन

---

१. तदयमत्रार्थः शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते। —वक्रोक्तिजीवित, १।३२ पर वृत्ति।

२. अत्र सन्निवेशसौन्दर्यमहिमा सहृदयसंवेद्यो न व्यपदेष्टुं पार्यते।
—वक्रोक्तिजीवित, १।३२ पर वृत्ति।

३. श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा।
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते ॥—वक्रोक्तिजीवित, १।३३

अवयव प्रत्यक्ष होते हैं—श्रुतिपेशलता, चित्त-स्पर्श-व्याप्ति और स्निग्धछाया (कान्ति) युक्तता । डॉ० वी० राघवन की मान्यता है कि कुन्तक के लावण्य और आभिजात्यगुण भी माधुर्य गुण सा ही प्रभाव उत्पन्न करते हैं ।[1]

विचित्र मार्ग के गुण—

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, नाम्ना समान होने पर भी वे सभी गुण प्रकृत्या भिन्न हैं । गुणों में भिन्नता का कारण मुख्य रूप से रस मार्ग में अलंकृत रचना का प्राधान्य होना है ।

माधुर्य—

विचित्र मार्ग में वैदग्ध्य को प्रकट करने वाला, माधुर्यगुण पदों में निबन्धित किया जाता है, जो शैथिल्य का त्याग करने के कारण बन्धसौन्दर्य का अंगभूत होता है ।[2] इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्तक ने वृत्तिभाग में कहा है कि इस मार्ग में विदग्धता को प्रकट करने वाले अर्थात् वैचित्र्य को सम्पादित करने वाले माधुर्य गुण का पदों में सन्निवेश किया जाता है । शैथिल्य छोड़कर अर्थात् कोमल भाव का त्यागकर, वह बन्ध-सौन्दर्य का अंग बनता है, अर्थात् रचना के सौन्दर्य का उपकरण (साधन) बनता है ।[3]

प्रसाद—

आचार्य कुन्तक ने विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण के लक्षण का प्रतिपादन दो प्रकार से किया है । सर्वप्रथम लक्षण करते हुए उनका कथन है कि कवियों की रचनाओं में (विचित्र मार्गों, रचनाओं में) असमस्तपदरचना के सन्निवेश से ओजोमिश्रित प्रसाद गुण पाया जाता है ।[4] समासयुक्तता ओज का कारण है ।

---

१. डॉ० वी० राघवन् : भोजराज श्रृंगारप्रकाश, वाल्यूम I—पृ० ३५२

२. वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते ।
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥—वक्रोक्तिजीवित, १.४४

३. अत्रास्मिन्माधुर्यं वैदग्ध्यस्यन्दि वैचित्र्यसमर्पकं पदानां बध्यते वाक्यैकदेशानां निवेश्यते । यत् त्यक्तशैथिल्यमुज्झितकोमलभावं भवद् बन्धबन्धुरताङ्गतां याति सन्निवेशसौन्दर्योपकरणतां गच्छति ।—वही, उक्त श्लोक की वृत्ति ।

४. असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि ।
किंचिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥—वही, १.४५

प्रसाद गुण की इस परिभाषा के अन्तर्गत चूँकि प्रसाद, कुछ-कुछ ओज का भी स्पर्श करता है, अर्थात् ओजोमिश्रित रहता है, अतः उसमें लघु समास पदों का समावेश हो सकता है। यहाँ 'असमस्तपदन्यास' में प्रयुक्त 'नञ्' ईषदर्थ में है। इसलिये कुन्तक का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि यद्यपि प्रसाद गुण में समासहीन पदों का प्राधान्य होता हैं, तथापि ओज के मिश्रण के कारण कुछ स्वल्पसमस्तपदों का सन्निवेश स्वीकार्य है।

यहीं प्रसाद गुण की दूसरी परिभाषा के अन्तर्गत आचार्य कुन्तक ने प्रतिपादित किया है। परस्पर अन्वित पदों के ही समान जहाँ किसी वाक्य में परस्पर अन्वित वाक्य ग्रथित हों, जो अन्य भी सुन्दर अर्थों की व्यंजना करते हों, तो वहाँ भी प्रसाद गुण होता है।[1] कुन्तक की यह धारणा सर्वथा मौलिक है। इसमें किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य की मान्यता का प्रभाव आभासित नहीं होता और न ही परवर्ती किसी आचार्य द्वारा यह समादृत ही हुआ।

लावण्य

विचित्र मार्ग के लावण्य गुण में ऐसे पदों की योजना अभीष्ट बतलाई गई है, जहाँ पदान्त विसर्ग से युक्त है और प्रयुक्त पद परस्पर संश्लिष्ट हैं तथा संयुक्ताक्षरों के पूर्व ह्रस्व वर्णों की योजना की गई हो।[2] इस परिभाषा पर प्राचीन आचार्यों के श्लेष गुण की धारणा का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

आभिजात्य

विचित्र मार्ग का आभिजात्य गुण वह है, जिसमें कविप्रौढ़ि से निर्मित रचना में न तो अत्यन्त कोमल कान्ति हो और न ही अत्यन्त कठोरता। ऐसी रचना आभिजात्य गुण से युक्त हो मनोहर, होती है।[3] अत्यन्त कोमल रचना बन्धगत शैथिल्य से युक्त होती है। दण्डी ने सर्वकोमल रचना में बन्धशैथिल्य दोष माना ही है।[4] निष्ठुरता, कठोरता या पारुष्य भी काव्य-दोष माना गया

१. गमकान्तं निबन्ध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि।
पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः॥ —वक्रोक्तिजीवित, १.४६

२. अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते॥ —वही, १.४७

३. यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्।
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढ़िनिर्मितम्॥ —वही, १.४८

४. बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले। —काव्यादर्श, १.६९

है। अतः इन दोनों के परित्याग पूर्वक, मध्यक्रम की रचना आभिजात्य गुण के लिए अभीष्ट है। कोमलता और कठोरता का किञ्चिन्मात्र सन्निवेश रचना का दूषक नहीं होगा। किन्तु आभिजात्य गुण के लिए उनकी 'अति' का त्याग आवश्यक है।

सुकुमार और विचित्र, इन दोनों मार्गों के चार असाधारण गुणों का वर्णन करने के बाद कुन्तक को मध्यम मार्ग के भी चार गुणों का बर्णन करना चाहिए था। किन्तु ऐसा न करके कुन्तक ने इस बात का उल्लेख किया है कि मध्यम मार्ग के माधुर्यादि गुणों में सुकुमार और विचित्र मार्ग में वर्णित तत्तद्गुणों के स्वभाव का मिश्रण पाया जाता है।[1] कुन्तक ने इन गुणों का लक्षण न देकर इनके उदाहरण मात्र दिए हैं।

मार्ग-भेद के आधार पर गुणों के स्वरूप-भेद की कल्पना, कुन्तक ने आचार्य दण्डी के आधार पर ही की होगी। क्योंकि आचार्य दण्डी ने वैदर्भ और गौड़ मार्ग के गुणों को परस्पर विपरीत माना था। किन्तु दोनों की मान्यताओं में पर्याप्त भिन्नता देखी जा सकती है। दण्डी ने एक मार्ग के गुण को, दूसरे मार्ग का दोष बताया था किन्तु कुन्तक के मार्गों में स्वीकृत गुणों की भिन्नता का कारण उनका मात्रा-भेद ही है। विचित्र मार्ग में भी वही गुण है, जो सुकुमार मार्ग में है; किन्तु उनकी मात्रा में अन्तर है। गुणों की मात्रा, विचित्र मार्ग में, सुकुमार मार्ग की अपेक्षा कुछ अधिक होती है।[2] सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि विचित्र मार्ग में कलात्मकता पर विशेष बल रहता है; फलतः उसमें गुणादि की प्रचुरता रहती है। किन्तु सुकुमार मार्ग

१. वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी॥
माधुर्यादि गुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।
तत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम्॥
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसंपदः॥
—वक्रोक्तिजीवित, १.४९-५१

२. आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोद्धिता गुणाः।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः॥—वक्रोक्तिजीवित, १.४९ से पूर्व वृत्ति (उदा० सं० ११०)

में स्वाभाविक वर्णन की चारुता पर ही कवि का विशेष ध्यान रहता है अतः गुण-प्राचुर्य के प्रति अधिक बल नहीं दिया जाता ।

आचार्य कुन्तक ने तीनों मार्गों के चार असाधारण गुणों के अतिरिक्त उन तीनों के दो साधारण गुणों का भी उल्लेख किया है । वे गुण हैं औचित्य और सौभाग्य । अब यहाँ इन दोनों गुणों के स्वरूप पर विचार किया जाता है—

औचित्य

जो सीधे-सीधे (स्पष्टतया) स्वभाव के महत्त्व का पोषण करता है, अर्थात् पदार्थ को उत्कृष्ट बनाता है; उचित-वर्णन का प्राणस्वरूप तत्त्व, औचित्य गुण कहा जाता है ।[1] उचित का अर्थ है—प्रकरण, प्रसंग (अर्थात् देश, काल और विषय) एवं स्वभाव का अनुरूप । अतः ऐसा अनुरूप वर्णन करने वाला गुण औचित्य कहा जाता है । बाद में चलकर क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य का यह स्वरूप स्वीकृत किया किन्तु उन्होंने उसे काव्य का अनिवार्य और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना । यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने नाम्ना औचित्य का उल्लेख नहीं किया है, तथापि उनके गुण-दोष निरूपण की प्रक्रतियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे औचित्य से परिचित थे और उसके महत्त्व को भलीभाँति स्वीकार करते थे । अन्यथा देश-विरोध, काल-विरोधादि दोष में कैसे परिगणित किए जाते और अपार्थादि दोष उन्मत्त, बालक आदि की उक्ति में दोष न माने जाते ।

कुन्तक ने औचित्य का एक अन्य भी लक्षण दिया है । इसके अनुसार जहाँ प्रतिपाद्य वस्तु, वक्ता या प्रमाता के स्वभाव से अत्यधिक सुन्दर ढंग से आच्छादित (व्याप्त) कर ली जाय, वहाँ भी औचित्य नामक गुण कहा जाता है ।[2] जैसे कोई रसिक किसी की शृंगारचेष्टा का वर्णन करे, या मद्यप, मद्य के गुणों का बखान करे ।

---

१. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥—वक्रोक्तिजीवित, १.५३

२. यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥

—वक्रोक्तिजीवित, १.५४

सौभाग्य—

कुन्तक का सौभाग्य-गुण, काव्य की अर्थगत चारुता है। यह सकल प्रतिपाद्य वस्तु के सौन्दर्य का गुण है। इसका लक्षण करते हुए कुन्तक ने कहा है कि जिस अर्थ को ग्रहण करने के लिए कवि की प्रतिभा शब्दादि चयन रूप उपादेय साधनों में प्रयत्नपूर्वक सुष्ठुतया प्रवृत्त होती है, उस अर्थ का सौन्दर्य रूप गुण 'सौभाग्य' कहा जाता है।[1]

अपने हृद्गत भावों (अर्थ) को सुव्यक्त करना कवि का चरम उद्देश्य होता है। उस अर्थ को प्रभावशाली और चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए सावधानी से वहाँ उपयुक्त शब्दों का शोधन करना होता है। इस प्रकार की शब्द-योजना से अर्थ की जो चारुता प्रस्फुटित होती है, वही काव्य का सौभाग्य गुण है।

कुन्तक ने इस गुण की विशदता का प्रतिपादन भी किया है। काव्योपकरणों के चारुतम प्रयोग से अभिव्यक्त काव्य का लोकोत्तर सौन्दर्य इस गुण की परिधि में आ जाता है वस्तुतः ऐसा कहकर उन्होंने इस गुण को काव्य के सर्वस्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। कुन्तक द्वारा दी गई सौभाग्यगुण की एक अन्य परिभाषा तो स्पष्टतः सौभाग्य को काव्य की आत्मा घोषित करती है। इस परिभाषा के अनुसार कुन्तक की स्पष्ट धारणा है कि सहृदयों को अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाला यह सौभाग्य गुण तो काव्य का प्राण ही है, जो कि काव्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण उपादान (वैभव) के चारुतम प्रयोग से सम्पादित किया जाता है।[2]

औचित्य और सौभाग्य गुणों की व्यापकता के सम्बन्ध में कुन्तक का कथन है कि ये दोनों गुण सुकुमार, विचित्र और मध्यम—इन तीनों मार्गों के पद, वाक्य एवं प्रबन्ध में व्याप्त रहते हैं।[3] सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि कुन्तक ने इन दोनों गुणों को जब इतना व्यापक कल्पित किया है तब गुण के भेद के रूप में प्रदर्शित कर उनके साथ न्याय नहीं किया है।

---

१. इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थः प्रतिभाकवेः।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ॥—वही, १.५५

२. सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ॥—वक्रोक्तिजीवित, १.५६

३. एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥—वही, १.५७

वस्तुतः कुन्तक की मान्यताओं के अन्तर्गत, इन दोनों गुणों को, गुण-भेद के रूप नहीं, अपितु गुणों के आधार रूप में स्वीकार करना ही उचित है।

कुन्तक की गुणधारणा के उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्होंने प्राचीन आचार्यों की दस गुणों की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है तथापि उन गुणों में से कई के लक्षणों को अपने गुण-लक्षणों में समाविष्ट किया है। आचार्य दण्डी के सुकुमार मार्ग के लावण्य गुण में ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार विचित्र मार्ग के लावण्य गुण में वामन की श्लेषगुण धारणा और उसी मार्ग के प्रसाद गुण में वामन की ही शब्दगत प्रसाद गुण की धारणा को उन्होंने गृहीत किया है। सुकुमार मार्ग का माधुर्य गुण भी भामह और दण्डी के माधुर्य से अभिन्न है।

क्षेमेन्द्र

आचार्य क्षेमेन्द्र विरचित 'कविकण्ठाभरण' में हमें उनके काव्यगुण सम्बन्धी विचारों का संग्रह प्राप्त होता है। उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने इस विषय में सर्वथा स्वतंत्र पद्धति का निर्माण किया है। उनके काव्यगुण सम्बन्धी विचार किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य के एतत्सम्बन्धी विचारों से मेल नहीं खाते। अतः हम कह सकते हैं कि क्षेमेन्द्र की गुण-धारणा मौलिक है। यहाँ हम उनके द्वारा प्रतिपादित गुणों के स्वरूप पर दृष्टि डालेंगे।

कुन्तक ने केवल तीन ही गुण माना है—१—शब्दवैमल्य, २—अर्थवैमल्य और ३—रसवैमल्य।[1] इन तीन गुणों की कल्पना करके क्षेमेन्द्र ने इनके विपर्यय को काव्यदोष कहा है।[2] विचित्र बात तो यह है कि नामतः इन तीनों काव्यगुणों का उल्लेख करके भी क्षेमेन्द्र ने उनकी परिभाषा नहीं दी। हमें 'कविकण्ठाभरण' में उन काव्यगुणों के स्वरूप का निर्देश नहीं प्राप्त होता। केवल नाम का उल्लेख और उस गुण का उदाहरण प्राप्त होता है। अतः विद्वानों ने गुणों के नाम और क्षेमेन्द्र द्वारा दिये गये उनके उदाहरणों के आधार पर तत्तद्गुणों के स्वरूप का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है।

---

१. तत्र शब्दवैमल्यमर्थवैमल्यं रसवैमल्यमिति त्रयः काव्यगुणाः।

—कविकण्ठाभरण, ४

२. शब्दकालुष्यमर्थकालुष्यं रसकालुष्यमिति काव्यदोषाः।—वही, ४

क्षेमेन्द्र के 'शब्दवैमल्य' का आधार 'अकलुष-शब्द-योजना' है। इसका जो उदाहरण क्षेमेन्द्र ने दिया है, उससे यह प्रतीत होता है कि यह गुण प्राचीन आचार्यों के शब्दगत प्रसाद-गुण के समान ही है। इसी प्रकार, 'अर्थवैमल्य' भी अकलुष अर्थ की योजना पर निर्भर है। वामन का अर्थगत प्रसाद गुण अर्थ की विमलता ही है। अतः क्षेमेन्द्र का यह अर्थवैमल्य गुण, नाम में वामन के अर्थ प्रसाद से भले ही भिन्न हो किन्तु प्रकृति और स्वरूप की दृष्टि से अभिन्न ही प्रतीत होता है।

क्षेमेन्द्र ने अपने अन्य ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' में औचित्य को रस का प्राणभूत माना है। वे वस्तुतः औचित्य को काव्य का आत्मतत्त्व मानते हैं।[1] जो जिसके सदृश या अनुरूप होता है, वही उसके लिए उचित होता है।[2] रस में प्रकृत्यौचित्य का आशय यही है कि आलम्बन अथवा आश्रय की प्रकृति के अनुरूप वर्णन हो। प्रकृति का उचित वर्णन होने पर रसवैमल्य गुण की सत्ता होती है अन्यथा रसकालुष्य दोष माना जाता है। रसकालुष्य दोष प्रदर्शित हो करने के लिए क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में वेणीसंहार की एक धटना को उदाहृत किया है।[3]

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र कारण माना है।[4] अतः रसकालुष्य को दोष मानना ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यता के अनुरूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि आनन्दवर्द्धन आदि ने गुण को रसोत्कर्षाधायक (काव्य) धर्म माना है जबकि क्षेमेन्द्र ने रसवैमल्य या रसोत्कर्ष को (रसगत) गुण मान लिया है।

क्षेमेन्द्र द्वारा स्वीकृत गुणत्रय के सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती आचार्य गुणों से सर्वथा अपरिचित नहीं थे और क्षेमेन्द्र ने भी

---

१. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।—औचित्यविचारचर्चा, ५
२. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।—वही, ७
३. रसकालुष्यं यथा भट्टनारायणस्य वेणीसंहारे भानुमत्या नकुलप्राणिस्वप्नदर्शने पाण्डवनकुलस्वैरसंगमेर्ष्यासद्भावः चक्रवर्तीमहिष्याः सामान्यनीचवनितावत्।—कविकण्ठाभरण, ४
४. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥—ध्वन्यालोक, ३।१४ की वृत्ति।

अपनी गुणधारणा का आधार उन आचार्यों के गुणसम्बन्धी विचारों को ही बनाया है। शब्दवैमल्य और अर्थवैमल्य तो शब्दगत और अर्थगत प्रसाद गुण के रूप में पहले ही स्वीकृत हो चुके थे। रसवैमल्य का भी प्रकारान्तर से उल्लेख आनन्दवर्द्धन ने कर ही दिया। क्षेमेन्द्र की मौलिकता यही है कि उन्होंने उन तत्त्वों को नवीन संज्ञा प्रदान कर गुण के रूप में उनका उल्लेख किया।

क्षेमेन्द्र की गुणप्रवृत्ति का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि उन्होंने इस काव्यतत्त्व को उतना महत्त्व नहीं प्रदान किया है, जितना महत्त्व उसे दिया जाना चाहिए था। उनका गुण विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त एवम् एकपक्षीय है। उन्होंने काव्य में रससिद्धि के लिए औचित्य पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा। उनकी यह मान्यता थी कि औचित्य-निबन्धन से काव्य में किसी दोष के लिए अवसर नहीं होगा और दोष के अभाव में गुण की सत्ता होगी। गुण के प्रसंग में उनकी दृष्टि नितान्त प्राचीन आचार्यों के प्रसाद गुण की परिधि तक ही सीमित रही और माधुर्य की ओर उनका ध्यान न गया। गुण के सम्बन्ध में उनका दृष्टि-संकोच इतने से ही प्रमाणित है कि उन्होंने तीन गुणों का नाममात्र से उल्लेख करके उनका लक्षण भी प्रतिपादित नहीं किया।

भोजराज

भोजराज ने काव्यगुणों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उनकी गुणधारणा अत्यन्त व्यापक हैं। काव्यशास्त्र पर इनके दो विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। प्रथम है—सरस्वतीकण्ठाभरण और द्वितीय है—शृंगार-प्रकाश। काव्यगुणों का जो विवेचन सरस्वतीकण्ठाभरण में प्राप्त होता है, उसी का ईषत् विकास शृंगारप्रकाश में दृष्टिगोचर होता है।

भोजराज ने काव्यगुणों का त्रिधा वर्गीकरण किया है—बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। शब्दगत गुण बाह्यगुण हैं। मानव-शरीर के बाह्य अंगों के लावण्य के समान शब्दगुण भी काव्य-शरीर के बाह्य गुण हैं। अर्थगत गुण आभ्यन्तर गुण हैं। व्यक्ति के शील, सौभाग्य, वैदग्ध्य, साहस, दया आदि के समान ही अर्थगत गुण भी काव्य के आभ्यन्तर गुण माने गए। जो दोष होते हुए भी कहीं गुण बन जाते हैं, वे विशेष दशा में गुणत्व को प्राप्त करने के कारण वैशेषिक गुण कहे जाते हैं। भोजराज ने इसे स्पष्ट करने के लिए

शृंगारप्रकाश में दो उदाहरण दिया है। जैसे अविनय दोष होते हुए भी सुन्दरियों का विभ्रम (विलास, शोभा) बन जाता है अथवा धूम दोष होते हुए भी सुगन्धित द्रव्यों से निकलता हुआ लोगों के द्वारा आदरपूर्वक ग्रहण किया जाता है।[1] पूर्ववर्ती आचार्यों; भामह, दण्डी आदि ने भी विशेष परिस्थितियों में काव्यदोषों का शोभाधायकत्व (गुणत्व) माना था किन्तु व्यवस्थित गुणवर्ग में उनकी गणना नहीं की थी। भोजराज ने सर्वप्रथम ऐसे दोषों का परीक्षण कर उनके विशेष स्वरूप के कारण व्यवस्थित रूप से उन्हें गुणों के वर्ग में स्थान दिया। इस प्रकार भोजराज ने शब्दगुण और अर्थगुण के साथ-साथ एक अलग प्रकृति के गुणों को भी मान्यता दी और उनको 'वैशेषिक गुण' की संज्ञा प्रदान की।

भोजराज ने काव्यगुणों का विवेचन करते हुए 'गुण' की कोई परिभाषा नहीं दी। इससे प्रतीत होना है कि उन्होंने गुण-लक्षण के सम्बन्ध में पहले से चली आ रही मान्यता को ही स्वीकार कर उसके भेदोपभेदों के ऊहापोह में ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। यहाँ हम पहले उनके द्वारा स्वीकृत शब्दगुण और अर्थगुणों का ही विवेचन करेंगे। जैसा कि हम कह चुके हैं, भोजराज ने बाह्य और आभ्यन्तर गुणों को क्रमश शब्दगुण और अर्थगुण माना है और दोष गुणों को वैशेषिक गुण माना है।[2]

जिस प्रकार वामन ने दस प्रकार के गुण स्वीकार करके उनके दो वर्ग बनाये थे—शब्दगुण और अर्थगुण, उसी प्रकार भोजराज ने चौबीस गुणों को स्वीकार

---

१. तत्र अन्ववायवयोरूपलावण्यादयो बाह्याः शीलवैदग्ध्यमहाभाग्यसौभाग्यादयः आन्तराः। ये दोषा अपि आश्रयविशेषावस्थाविशेषाद्युपाधेः गुणत्वमाश्रयन्ते ते वैशेषिकाः। यथोच्यते—

सामान्यसुन्दरीणां विभ्रममावहत्यविनय एव।
धूमोच्चदः प्रज्ज्वलितानां बहुमतः सुरभिदारुणाम्॥ (संस्कृतच्छाया)

—शृंगारप्रकाश, भाग-२, पृ० २११-१२

२. त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः।
बाह्याश्चाभ्यान्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति॥
बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण १.६० ६१

करके उन्हें शब्दगुण और अर्थगुण—इन दो वर्गों में विभक्त कर दिया है। अभिप्राय यह है कि चौबीस शब्दगुण ही उसी नाम से अर्थगुण माने गए हैं। एक ही नाम वाले शब्दगुण और अर्थगुण के स्वरूप में अन्तर माना गया है। भोजराज द्वारा स्वीकृत चौबीस गुण—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारत्व. ओज, और्जित्य, प्रेयान्, सुशब्दता, समाधि, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढ़ि हैं।[1] इन गुणों को देखने मात्र से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इन चौबीस गुणों में प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत दसों गुण सम्मिलित हैं। उनके अतिरिक्त भोज ने प्रेय, भाविक आदि अलंकारों को भी गुण बनाकर उन्हें यहाँ स्थान दे दिया। प्राचीन भरतादि आचार्यों द्वारा कथित एक ही गुण को भोज ने दो अलग-अलग नाम दे दिये। जैसे उदारता को भोज ने उदारता और उदात्तता इन दो गुणों में विभक्त कर दिया जबकि भरत ने उदारता का ही लक्षण करते हुए उसे एक जगह उदारता और दूसरी जगह उदात्त कहा है। एक ही गुण-लक्षण के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के मतवैभिन्य का भी लाभ भोजराज ने अपने गुणों की संख्या में वृद्धि करने में उठाया है। इन सबके अतिरिक्त भोज ने कुछ नवीन गुणों की कल्पना कर ली है।

बाह्यगुण या शब्दगुण—

१—श्लेष—'सुश्लिष्टपदता' भोजराज का शब्दगत श्लेष-गुण है।[2] सुश्लिष्ट-पदता का अभिप्राय है—जहाँ पदों के सर्वथा पृथक् रहने पर भी एकपदता की प्रतीति हो। यही श्लेषगुण है। इस गुण का उदाहरण देकर उसे स्पष्ट करते हुए सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने कहा है कि यहाँ पदों के अलग-अलग रहने पर भी उनकी एकपदता के आभास के कारण सन्दर्भ की सुश्लिष्टता होने से श्लेष

---

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥
ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यत्वं गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥
संक्षेपः सम्मितत्वं भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढ़िरथैषां लक्ष्यलक्षणे॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १, ६३-६५

२. गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।—वही, १.६६

गुण है।[1] शब्दश्लेष की इस धारणा के विषय में भोजराज निश्चय ही वामन की 'मसृणत्वं श्लेषः' की भावना से प्रभावित हैं। भोज ने श्लेष का विपर्यय शैथिल्य माना है।[2]

२–प्रसाद—शब्दगत प्रसाद गुण, भोजरोज की दृष्टि में प्रसिद्धार्थपदत्व है।[3] जिस पद का जो अर्थ प्रसिद्ध है, उसी अर्थ में उस पद का प्रयोग 'प्रसिद्धार्थपदत्व' कहा जाता है। प्रसादगुण सम्बन्धी दण्डी की भी यही मान्यता थी। उन्होंने 'प्रसिद्धार्थ' को प्रसादवत् कहा था।

३–समता—समता का अभिप्राय शैली की एकरूपता है। भोजराज के अनुसार, मृदु, स्फुट एवं मिश्र बन्ध की अविषमता ही समता है।[4] यदि मृदु बन्ध है तो उसमें आदि से अन्त तक मृदुता रहनी चाहिए, यदि स्फुट बन्ध से प्रारम्भ हो तो अन्त तक उसका निर्वाह हो और यदि सम्पूर्ण रचना में मिश्रबन्ध ही रहे, तो वहाँ समता गुण मानना चाहिए। भोज की यह गुण धारणा भी दण्डी से प्रभावित है।

४—माधुर्य—आचार्य वामन की इस गुणधारणा का अनुसरण करते हुए भोज ने भी शब्दगत माधुर्य को 'पृथक्पदता' के रूप में परिभाषित किया है। वाक्य में जो पृथक्पदता होती है, वही माधुर्य है।[5] जहाँ समस्त पदों का प्रयोग न कर उनका पृथक्-पृथक् प्रयोग किया जाय, वहाँ शब्दगत माधुर्य माना गया है। आचार्यों की इस धारणा के औचित्य का विश्लेषण हम पहले कर चुके हैं।

५—सौकुमार्य—सौकुमार्य गुण से युक्त रचना सुकुमार कही जाती है। सुकुमार रचना में निष्ठुर वर्णों का अभाव होता है—ऐसा आचार्य वामन का मानना था। दण्डी की भी धारणा वामन ने मिलती है। भोजराज ने दण्डी की सौकुमार्य (शब्द) गुण की धारणा को यथावत् ग्रहण कर लिया है और

१. अत्र भिन्नानामिति पदानामेकपदताप्रतिभासहेतुत्वेन सन्दर्भस्य सुश्लिष्टत्वादयं श्लेषो नाम शब्दगुणः।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.६६ की वृत्ति।

२. विपर्ययेण श्लेषस्य सन्दर्भः शिथिलो भवेत्।—वही, १.३१

३. प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते।—वही, १.६६

४. यन्मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णबन्धं विधिं प्रति।
अवैषम्येन भणनं समता साभिधीयते॥—वही, १.६७

५. या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्।—वही, १.६८

किंचिन्मात्र परिवर्तनों के साथ प्रायः उसी पदावली का प्रयोग कर सौकुमार्य की परिभाषा दी है। भोज के अनुसार अनिष्ठुर अक्षर से पूर्ण रचना सौकुमार्यगुण युक्त होती है अथवा अनिष्ठुराक्षरप्रायबन्ध सुकुमार होता है।[1] भोज ने दण्डी द्वारा प्रयुक्त उदाहरण को ही प्रस्तुत कर दिया है।

६—अर्थव्यक्ति—भोजराज के अनुसार, 'सम्पूर्णवाक्यत्व' ही अर्थव्यक्ति नामक शब्दगुण कहा जाता है।[2] अभीष्ट अर्थ को प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त पद का प्रयोग ही सम्पूर्णवाक्यत्व है। किसी भी वाक्य में, जितने पदों का प्रयोग अर्थ को अच्छी तरह से व्यक्त करने के लिए अपेक्षित हो, उतने पदों का प्रयोग कर दिया जाय तो अर्थ ठीक ढंग से व्यक्त हो जाता है और तब अर्थ को समझने के लिए कहीं से भी किसी पद का अध्याहार करने की आवश्यकता नहीं होती। इसे ही अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं। इस प्रकार भोज ने सम्पूर्णवाक्यत्व कहकर नेयत्व का अभाव माना है, जो दण्डी की अर्थव्यक्ति गुण-धारणा के समीप है। अर्थव्यक्ति के विपर्यय से वाक्य में नेयार्थ दोष उत्पन्न होता है।[3]

७—कान्ति—आचार्य वामन ने शब्दकान्ति को बन्ध का औज्ज्वल्य कहा था, जिस के अभाव में कोई भी रचना, पुराने चित्र की तरह कान्तिहीन लगने लगती है। भोजराज ने वामन की इस धारणा का अनुवर्तन किया है और शब्दकान्ति गुण का लक्षण करते हुए कहा है कि काव्य में बन्ध की जो उज्ज्वलता होती है, वह कान्ति कही जाती है।[4] काव्य में उज्ज्वलता सुवर्ण (सुन्दर शब्दों) के प्रयोग से आती है।

८—उदारत्व—उदारत्व शब्दगुण की परिभाषा देने में भी भोजराज मौलिक नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से वामन से ही यह गुणधारणा भी उधार ली है। वामन की ही तरह भोज ने भी विकटाक्षरबन्ध को उदार कहा है।[5] आगे व्याख्या करते हुए कहा है कि विकटत्व वहाँ होता है जहाँ काव्य में ऐसी वाक्य-रचना हो कि पद नृत्य करते हुए से दिखाई पड़े।[6]

---

१. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम्।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.६८

२. यत्र सम्पूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम्।—१.६९

३. वाक्यें भवति नेयार्थमर्थव्यक्तेर्विपर्ययात्।—वही, १.३४

४. यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.६९

५. विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमुच्यते।—वही, १.७०

६. अत्र विकटाक्षरबन्धत्वे नृत्यद्भिरिव पदैः यद्वाक्यरचना सा उदारता।
—वही, १.७० की वृत्ति।

९—उदात्तता—दण्डी ने उदारगुण की दूसरी परिभाषा देते हुए कहा था कि श्लाघ्य विशेषण की योजना भी उदारगुण कही जाती है। दण्डी की इस परिभाषा को ही ग्रहण कर उसे उदात्तता गुण के रूप में प्रस्तुत किया है। भोजराज के अनुसार, श्लाघ्य विशेषण का योग शब्दगत उदात्तता गुण है।[1] वस्तुतः वामन के उदारगुण के आधार पर भोज ने उदार गुण को परिभाषित किया और दण्डी की उदारगुण की परिभाषा के आधार पर उदात्तता गुण की कल्पना की। फिर भी वे दोनों गुणों के अन्तर को अधिक स्पष्ट नहीं कर सके।

१०—ओज—शब्दगत ओजोगुण की धारणा में भी भोजराज दण्डी से अभिन्न हैं। न केवल वे दण्डी से सहमत ही हैं अपितु ओज के लक्षण में उन्होंने दण्डी की शब्दावली ज्यों की त्यों रख दी है। समासभूयस्त्व ही ओज है।[2] इसके विपर्यय को भोज ने असमस्त दोष माना है।[3] भोज का यह असमस्तदोष दण्डी के शैथिल्य दोष से मिलता जुलता है क्योंकि इसके उदाहरण के रूप में भोज ने दण्डी के शैथिल्य दोष के उदाहरण को ही रख दिया है। दण्डी ने इस शैथिल्य दोष को वैदर्भमार्ग में त्याज्य और गौड मार्ग में ग्राह्य कहा था किन्तु भोज की दृष्टि में असमस्त दोष द्वारा वैदर्भी और गौड़ी दोनों ही रीतियों का खण्डन होता है। किन्तु इस प्रकार की असमस्तपदत्व की दोष के रूप में कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है। यदि असमस्तपदत्व दोष होगा तो भोजराज शब्द-माधुर्य गुण को क्या कहेंगे? क्योंकि उन्होंने पृथक्पदता को शब्दमाधुर्य कहा है और असमस्तपदता तथा पृथक्पदता में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। इस प्रकार यह दोषकल्पना तो आत्मघाती सिद्ध होगी। दण्डी ने तो पृथक्पदता को कहीं गुण नहीं माना है अतएव समासभूयस्त्व ओज का विपर्यय उनके किसी गुण के विरुद्ध नहीं पड़ता। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भोज और दण्डी की गुण-धारणा में पर्याप्त अन्तर है। दण्डी का एक दोष किसी मार्ग का दोष है तो किसी मार्ग में गुण भी बन जाता है। किन्तु भोज की धारणा में ऐसी

---

१. श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता।—सरस्वतीकण्ठाभरण १.७०

२. ओजः समासभूयस्त्वम्।—वही, १.७१

३. वाक्ये यः खण्डयन् रीतिं भवत्योजोविपर्ययः।
असमस्तमिति प्राहुर्दोषस्तमिह तद्विदः॥—वही, १.३६

मान्यता का सर्वथा अभाव है। अतः दण्डी के सिद्धान्त का अनुसरण करते समय भोज को इस बात का ध्यान रखना चाहिए था।

११—और्जित्य—भोज ने शब्द ओज को दण्डी की ओज-परिभाषा के आधार पर निर्धारित किया था। वामन की ओज धारणा का आश्रय लेकर उन्होंने और्जित्य नामक एक सर्वथा नवीन गुण की कल्पना कर ली। यह नवीनता तो गुण की संज्ञा मात्र में है क्योंकि स्वरूप तो वामन के ओजोगुण का ही है। शब्दगुण और्जित्य बन्ध की गाढ़ता को कहा है।[1] वामन का शब्द ओज भी गाढबन्धत्व ही है।

१२—प्रेय—चाटु कथन में प्रिय लगने वाले शब्दों का प्रयोग होता है। प्रीति प्रदर्शित करने वाले शब्दों का प्रयोग प्रेयगुण का आधान करता है। भोज का यह प्रेम गुण चाटूक्तियों में रहता है।[2] दण्डी ने प्रिय लगने वाली उक्ति को प्रेय अलंकार कहा था। भोजराज की यह प्रेय गुणधारणा दण्डी के प्रेय अलंकार से प्रभावित है।

१३—सुशब्दता—भोजराज ने 'सुशब्दता' शब्दगुण को 'सुप्तिङ-व्युत्पत्ति' के रूप में परिभाषित किया है।[3] यह व्याकरण सम्बन्धी शब्दसंस्कार का गुण है। इस प्रकार व्याकरण-सम्मत साधु शब्द प्रयोग को सुशब्दता गुण माना है। सुप् विभक्ति और तिङ् प्रत्यय की व्युत्पति को सर्वप्रथम भोज ने ही गुण के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य वामन ने सुप्तिङ् संस्कार की चर्चा 'काव्यालंकारसूत्र' में गुण की स्फुटता के फलभूत काव्यपाक के सन्दर्भ में की थी।[4] भोज ने इसे ग्रहण करके एक नवीन काव्यगुण की सृष्टि कर दी।

१४—समाधि—भोजराज की शब्दगत समाधि-गुण-धारणा दण्डी की समाधि गुण धारणा से अभिन्न है। किसी वस्तु के धर्म को अन्य वस्तु धर्म पर आरोपित करने को भोजराज ने शब्दगत समाधि गुण माना है।[5]

---

१. और्जित्यं गाढबन्धता।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.७१

२. प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ यद्विधीयते।—वही, १.७१

३. व्युत्पत्तिः सुप्तिङो या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता।-वही, १.७२

४. सुप्तिङ्-संस्कारमात्रं स्यात् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं तज्जुगुप्संते जनास्ततः॥—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.२.१४

५. समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम्।-सरस्वतीकण्ठा० १.७२

१५—सौक्ष्म्य—भोजराज ने 'अन्तस्सञ्जल्प' को सौक्ष्म्य गुण कहा है।[1] यह शब्दगुण सर्वथा नवीन कल्पित है। इस गुण में ऊपर से शब्द का कुछ अर्थ प्रतीत होता है किन्तु उसके भीतर अन्य ही अर्थ छिपा रहता है। प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अर्थ से भिन्न अर्थ को छिपाये रहने वाला शब्द सूक्ष्म क्यों कहा गया इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकार रत्नेश्वर ने मूर्तिकला का एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। जिस पाषाणादिशिला में उत्कीर्ण हाथी आदि की मूर्ति शिल्पी द्वारा बनाये जाने के पूर्व भी अनभिव्यक्त अवस्था में उसमें रहती है, उसी प्रकार सौक्ष्म्य गुण में शब्द सूक्ष्मावस्था में रहते हैं और उनसे बाह्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है।[2] इस प्रकार सूक्ष्म गुण की स्थिति में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है, जिससे सहृदय को विशेष प्रकार की अर्थविच्छित्ति का बोध होता है।

१६—गाम्भीर्य—भोजराज ने शब्द की ध्वनिमत्ता को गाम्भीर्य गुण माना है।[3] इस प्रकार भोज की शब्दगत गाम्भीर्य-गुणधारणा अपूर्व है। वस्तुतः भोजराज से पूर्व ही आनन्दवर्द्धन काव्य में ध्वनि की महत्ता प्रतिष्ठित कर चुके थे। किन्तु भोजराज ने उसे स्वीकार नहीं किया और ध्वनि के महत्त्व को गौण बनाने की दृष्टि से उन्होंने उसका समावेश गुण में कर दिया, जो कि उचित नहीं कहा जा सकता।

१७—विस्तर—जहाँ वर्ण्य-विषय अल्प होने पर भी उसका विस्तृत वर्णन किया जाय, वहाँ विस्तर गुण की कल्पना की गई है। इस प्रकार भोजराज ने 'व्यासोक्ति' को 'विस्तर गुण' माना है।[4] इसमें पदों के पल्लवन का चमत्कार रहता है। यही कारण है कि इसे शब्दगत गुण माना गया। यद्यपि इस गुण की कल्पना भोजराज ने सर्वथा नवीन रूप में की है तथापि इसका स्वरूप सर्वथा नवीन नहीं कहा जा सकता। वामन ने ओज को प्रौढ़ि कहते हुए उसके पाँच भेद किए हैं, जिसमें से एक पदार्थ में 'वाक्यरचना' भी है। इसमें एकपद से व्यक्त हो सकने वाले अर्थ के लिए पदों को पल्लवित करके

---

१. अन्तस्सञ्जल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.७२

२. यथा करितुरगादिरूपकाणां पाषाणशिलादौ.........शेषनियमेनोन्मेषः।
—वही, १.७२ की टीका।

३. ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्।—वही, १.७३

४. व्यासेनोक्तिस्तु विस्तरः।—वही, १.७३

पूरे वाक्य की रचना की जाती है। टीकाकार रत्नेश्वर के अनुसार इसे पल्लव भी कहते हैं।[1] इस प्रकार भोज के शब्दालंकार 'रचना' (गुम्फना) की धारणा से यह भिन्न नहीं है। क्योंकि गुम्फना अलंकार के प्रसंग में भी रत्नेश्वर ने 'पल्लव' का उल्लेख किया है।[2] अतः इस गुण की धारणा और रचना (गुम्फना) नामक शब्दालंकार की धारणा में अन्तर करना दुष्कर है।

१८—संक्षेप—यह 'विस्तर' नामक शब्दगुण के विलोम-स्वभाव का है। 'समास-कथन' को भोज ने संक्षेप नामक शब्दगुण कहा है।[3] विपुल अर्थ को जहाँ कम से कम शब्दों में कह दिया जाय, वहाँ संक्षेप-गुण माना जाता है। आचार्य वामन ने अर्थओज की प्रौढ़ि का एक भेद 'वाक्यार्थे पदाभिधा' बताया था। इसके अन्तर्गत वामन की यह धारणा थी कि पूरे एक वाक्य द्वारा व्यक्त किये जाने योग्य अर्थ के लिए जहाँ एक ही पद का प्रयोग किया जाय, वहाँ यह प्रौढ़ि होती है। सम्भवतः भोजराज ने वामन की इस समास-शैली के प्रतिपादन को संक्षेप गुण के रूप में ढाल दिया। अतः भोजराज की यह गुणधारणा भी मौलिक नहीं कही जा सकती। भामह ने भी इससे मिलती-जुलती धारणा सामान्य गुण चर्चा के अन्तर्गत व्यक्त की है।[4] वैसे तो एक गुण का विपर्यय दोष रूप में ही कल्पित हुआ है, किन्तु यहाँ विस्तर और संक्षेप गुणों को देखते हुए यह कहना सम्भव है कि गुण का विपर्यय सदैव दोष ही नहीं होता। व्यास, और समास, दोनों ही पद्धतियाँ चमत्कारपूर्ण होती हैं। अतः दोनों का गुणत्व सिद्ध है।

१९—सम्मितत्व—यह विस्तर और संक्षेप नामक शब्द गुणों का मध्यवर्ती शब्दगुण है। भोजराज ने इसका लक्षण करते हुए कहा है कि अर्थ के

१. व्यासेनेति। यत्र स्तोकेऽपि वाच्ये वचनपल्लवः चमत्कारकारी तत्र स एव गुणकक्षाधिरोहणक्षमः।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.७३ रत्नेश्वरकृत टीका।

२. न वा तामन्तेरेण लाङ्गलादीनामभिमतास्ते ते विशेषा प्रतीयन्त इति पल्लवप्रतिष्ठा एव हि सरस्वतीसहृदयानावर्जयतीति। वाक्यप्रतीतिमात्रार्थमुपात्तेषु परेषु यः। उपस्कारः पदैरन्यैः पल्लवं तं प्रचक्षते॥—वहीं, २.५३ रत्नेश्वरकृत टीका।

३. समासेनाभिधानं यत् स संक्षेप उदाहृतः॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.७४

४. कथमेकपदेनैव व्यज्येरन्नस्य ते गुणाः।
इति प्रयुञ्जते सन्तः केचिद्विस्तरभीरवः॥—काव्यालंकार, ५.६०

अनुसार पदों का प्रयोग करना सम्मितत्व गुण है।[1] जितने अर्थ को व्यक्त करना हो, उसी अनुपात में उतने पदों का प्रयोग करना चाहिए। इसमें पदों का प्रयोग करना चाहिए। इसमें पदों का प्रयोग अर्थ का समानुपाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि न तो विस्तर गुण की तरह इसमें थोड़े अर्थ के लिए विस्तृत पदावली की योजना होती है और न ही विस्तृत अर्थ के लिए संक्षिप्त पदों का विन्यास। इस प्रकार इस गुण में नेयत्व और अधिकपदत्व—इन दोनों दोषों का अभाव होता है। इस गुण को और अधिक स्पष्ट करते हुए भोजराज ने आगे लिखा है इसमें शब्द और अर्थ इस प्रकार समान मात्रा में प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे रचनाकार ने दोनों को तुला पर रखकर बराबर-बराबर तौला हो।[2]

२०—भाविकत्व—भोजराज द्वारा कल्पित यह वाक्य गुण है और इसका संबंध भाव या रस से है। यद्यपि भोज ने गुण को शब्दार्थगत ही माना है किन्तु भाविक शब्दगुण के लक्षण में उसकी भावाश्रयता या रसाश्रयता स्पष्ट है। भोजराज ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है—"जहाँ भाव के कारण वाक्य की वृत्ति (निष्पत्ति) हो, वहाँ भाविक कहा गया है।"[3] इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकार रत्नेश्वर ने कहा है कि जब चित्त हर्षादि भाव में मग्न हो जाता है, तब स्वाभाविक रूप से (जल की) तरंगों के समान उक्ति भेद उत्पन्न होने लगते हैं।[4] भावावेश में मनुष्य जो कुछ कहता है उसमें क्रम का अभाव भी दिखाई पड़ता और एक कथन से दूसरे कथन में अन्तर भी उत्पन्न हो जाता है। भावमग्नता की इस दशा में प्रादुर्भूत उक्ति भेद को ही भोजराज ने भाविक गुण माना है। एक उदाहरण देकर उन्होंने दिखाया है कि यद्यपि (दशरथ) पिता होने के कारण पुत्र की चरणवन्दना का कथन अनुचित है तथापि हर्ष के आवेग में यह गुण बन गया है।[5]

---

१. यावदर्थपदत्वं च सम्मितत्वमुदाहृतम्।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.७४

२. अत्रार्थस्य पदानां च तुलाविधृतवत्तुल्यत्वेन सम्मितत्वम्।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.७४

३. भावतो वाक्यवृत्तिर्या भाविकं तदुदाहृतम्।—वही, १.७५

४. हर्षादिभावितचेतसो हि वीचिप्राया उक्तिभेदा प्रादुर्भवन्ति।
—वही, १.७५, रत्नेश्वरकृत टीका।

५. वही, १.७५, उदाहरण एवं वृत्ति।

२१—गति—गति नामक शब्दगुण को भोजराज ने स्वर के आरोह-अवरोह का क्रम माना है।[1] चूँकि यह शब्द छन्द का विषय है अतः इसे स्वरगत मानना उचित ही है। यद्यपि इसका अनुभव किया जाता है, किन्तु इसका स्वरूप बताना कठिन है। इसीलिए टीकाकार रत्नेश्वर ने इसे आनुभाविक गुण कहा है।[2] भोज की यह गुणधारणा वामन की समाधि गुण धारणा से प्रभावित प्रतीत होती है।

२२—रीति—उपक्रम के निर्वाह को रीति नामक शब्द गुण कहा गया है।[3] यद्यपि समता नामक गुण में भी प्रक्रम के निर्वाह पर बल दिया गया है किन्तु दोनों में भिन्नता अवश्य है। समता शब्दगुण में किसी रचना में एक बन्ध या मार्ग का आद्यन्त निर्वाह अपेक्षित होता है किन्तु रीति गुण में पद विन्यास की एकरूपता पर बल दिया जाता है। इसे एक निश्चित सीमा में ही गुण माना जा सकता है क्योंकि पदों में किसी एक ही वैशिष्ट्य के बार-बार प्रयोग से अरुचि उत्पन्न होने लगती हैं। जैसे कहीं अनेक पदों में न का ही प्रयोग किया जाय या प्रत्यय-विशेष का या उपसर्ग विशेष का प्रयोग किया जाय तो पाठक या श्रोता को ऐसे प्रयोगों के प्रति अरुचि उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। यही कारण हैं कि टीकाकार रत्नेश्वर ने इस गुण के अत्यन्त प्रयोग को वाञ्छनीय नहीं माना है।[4]

२३—उक्ति—उक्ति गुण को 'विशिष्ट भणिति' के रूप में परिभाषित कर[5] भोजराज ने उसे हृदयावर्जक काव्यगत अभिव्यक्ति का व्यापक गुण बना दिया है। टीकाकार रत्नेश्वर ने इसे और भी विशद बताते हुए कहा है कि यद्यपि लोक में भी विशिष्ट भणिति प्रकार प्रचलित है। कवि प्रतिभा से ऐसे लोक-भणिति प्रकार का अतिक्रमण कर जो भणिति होती है, वह लोकोत्तर भणिति ही उक्ति गुण से युक्त है। ऐसी उक्ति से कवि-सहृदयों का ही

---

१. गतिर्नाम क्रमो यः स्यादिहारोहावरोहयोः।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.७५

२. सोऽयमानुभाविको गुणः श्लोकार्द्धश्लोकपादश्लेकांशक्रमेण नरसिंहवद्भवति। —वही, १.७५ रत्नेश्वर टीका।

३. उपक्रमस्य निर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते।—वही, १.७६

४. क्वचिद् विशेषशोभावहो भवति। अत एवात्र नात्यन्तनिर्वाहोऽभिमतः। —वही, १.७६ रत्न० टीका।

५. विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः।—वही, १.७६

परिचित होना सम्भव है।[1] इस प्रकार काव्य की चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ ही उक्तिगुण हैं।

२४—प्रौढ़ि—भोजराज के अनुसार, पाक ही प्रौढ़ि गुण है।[2] शब्द-पाक का आशय ऐसे शब्दप्रयोग से है; जिसे उसके स्थान से हटाने पर उस स्थान पर तदतिरिक्त किसी शब्द का प्रयोग करना सम्भव न हो सके। ऐसी स्थिति में कवि अपने अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त करने के लिए वैसे शब्दों का चयन करता है जो सर्वाधिक उपयुक्त होते हैं। ऐसा प्रयोग रससिद्ध महाकवि ही कर सकते हैं। इसीलिए ऐसे महाकवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों में से किसी भी शब्द का परिवर्तन करने से भाव क्षतिग्रस्त होता है। अतः भाव की अक्षुण्णता और शब्द पाक का परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध है। समान अर्थ रखने वाले पर्यायवाची शब्दों की भावव्यंजकता समान नहीं होती। इसलिए सन्दर्भ विशेष में प्रयुक्त शब्दविशेष को हटाकर अन्य शब्द रखना सम्भव नहीं होता। इसलिए भोजराज ने पाक-गुण में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग वांछित माना है, जो भावाभिव्यंजना में सर्वाधिक समर्थ हों और उनके स्थान पर पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करने से मौलिक भाव को क्षति पहुँचती हो।[3]

आन्तरिक गुण या अर्थगुण

१—श्लेष—श्लेष नामक अर्थगुण को भोजराज ने 'संविधानगत सुसूत्रता' कहा है।[4] भोजराज की यह गुणधारणा निश्चित ही वामन की अर्थश्लेष गुणधारणा से प्रभावित है जिसमें उन्होंने श्लेष को घटना' कहा है।

१. लोकोत्तरास्सन्ति हि भणितिप्रकाराः लोकप्रसिद्धा.................एतत्प्रसिद्धि-व्यतिक्रमेण तु या काचित् कविप्रतिभया भणितिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा.............।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.७६, रत्नेश्वरकृत टीका।

२. उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते।—वही, १.७७

३. उक्तिर्वाक्यं तस्यायं पाकः सा प्रौढिः। शब्दानां पर्यायपरिवर्तनासहत्वं पाकः। यदाह्युत्पक्षानित्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्याय-निष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते इति।

—वही, १.७७ रत्नेश्वरकृत टीका।

४. तेषां श्लेष इति प्रोक्तः संविधाने सुसूत्रता।—वही, १.७८

टीकाकार रत्नेश्वर के मत में भोज की संविधान सुसूत्रता वामन की घटना से अभिन्न है।[1]

२—प्रसाद—भोजराज के अनुसार अर्थ का प्राकट्य ही प्रसाद नामक अर्थगुण है।[2] 'अर्थप्राकट्य' को स्पष्ट करते हुए भोज ने स्वयं कहा है कि कमलिनी का विकास करने वाला, उदयगिरि पर उतरने वाला, कोक के शोक को नष्ट करने वाला, अन्धकार का नाश करने वाला आदि कहने मात्र से ही सूर्यरूप अर्थ की झटिति प्रतीति होती है। अतः यह अर्थप्राकट्य रूप प्रसाद (अर्थगुण) है।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उचित विशेषणों की योजना करने से जहाँ अनुक्त अर्थ की भी झटिति प्रतीति हो जाय, वहाँ अर्थगत प्रसाद गुण होता है।

३—समता—समता नामक अर्थगुण की कल्पना भोज की मौलिक कल्पना नहीं कही जा सकती। वामन की इस गुणधारणा का स्पष्ट प्रभाव भोज की अर्थसमता पर दिखाई पड़ता हैं। अर्थ के वर्णन क्रम का भङ्ग न कर अविषम भाव से वर्णन समता गुण है।[4] वामन ने भी समता को अवैषम्य कहते हुए उसका अर्थ 'प्रक्रम का अभेद' अर्थात् 'अर्थ के क्रम का निर्वाह' बताया था।

४—माधुर्य—अर्थमाधुर्य की परिभाषा में भोजराज ने कहा है कि जहाँ क्रोध आदि की दशा में भी तीव्रता का अभाव हो, वहाँ अर्थमाधुर्य होता है।[5] वस्तुतः यह काव्यगुण की अपेक्षा व्यक्ति-धर्म अधिक है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में नायक-नायिकाओं के चेष्टागत माधुर्य का उल्लेख किया है[6]

---

१. 'घटनाश्लेषः" इति सूत्रयित्वा.........घटनेति वामनेन व्याख्यातम्। ....अघटमानस्येव वाक्यार्थबुद्धिचातुर्येण घटनेति वाक्यार्थः।
—सरस्वती कण्ठाभरण, १.७८ रत्नेश्वरकृत टीका।

२. यत्तुप्राकट्यमर्थस्य प्रसादः सोऽभिधीयते।—वही, १.७९

३. अत्र पद्मिनीविकासकरणे, उदयशैलावतरणे कोकशोकहरणे, तमोविदारणे च अनुक्तोऽपि सूर्यलक्षणोऽर्थः प्रकटमुपलक्ष्यते।—वही,
१.७१ की वृत्ति।

४. अवैषम्यं क्रमवतां समत्वमिति कीर्तितम्।—वही, १.७१

५. माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता।—वही, १८०

६. सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च।
अनुल्बणत्वं चेष्टायां माधुर्यमिति कीर्तितम्॥—नाट्यशास्त्र, १४.२७

भोज ने व्यक्तिपरक इस गुण को काव्यगुण मान लिया है। यह भोज की विलक्षण धारणा है।

५—सौकुमार्य—अनिष्ठुरता को भोजराज ने अर्थगत सौकुमार्य का लक्षण बताया है।[1] अतः सुकुमार अर्थ के वर्णन में सौकुमार्य गुण होता है—भोजराज का मानना है। भोजराज की यह धारणा वामन के अर्थसौन्दर्य की धारणा से मेल नहीं खाती। वामन ने उसे अपारुष्य कहकर, परुष अर्थ के लिए अपरुष प्रयोग को सौकुमार्य माना था। जैसे 'मृत' के लिए 'यशःशेष' का प्रयोग। किन्तु भोजराज ने जो उदाहरण[2] दिया है, उसमें हृदय को करुणार्द्र करने वाले सुकुमार अर्थ का वर्णन हुआ है।

६—अर्थव्यक्ति—भोजराज के अनुसार, किसी वस्तु के स्वरूप का साक्षात् कथन अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण कहा जाता है।[3] इस गुणधारणा में भोजराज आचार्य वामन से प्रभावित हैं। वामन ने भी अर्थव्यक्ति (अर्थगुण) को वस्तु-स्वभाव की स्फुटता माना था।

७—कान्ति—आचार्य वामन के ही समान भोजराज ने भी दीप्तरसत्व को अर्थगत कान्तिगुण कहा है।[4] यह बड़ी विचित्र बात है कि काव्य में रस के स्वरूप और उसके महत्त्व को भलीभाँति जानते हुए भी (जैसा कि शृंगार-प्रकाश एवं सरस्वतीकण्ठाभरण के रस विवेचन से स्पष्ट है) भोजराज ने रस को गुण से अभिन्न मानते हुए कान्तिगुण को दीप्तरसत्व कहा।

८—उदारत्व—भोजराज ने उदारत्व अर्थगुण का लक्षण करते हुए उसे 'भूति का उत्कर्ष' कहा है।[5] भोज ने यहाँ वस्तुतः दण्डी के उदात्त अलंकार का प्रयोग किया है। दण्डी ने उदात्त अलंकार का लक्षण करते हुए उसमें दो विशेषताएँ बताई थीं—आशय का उत्कर्ष और विभूति (समृद्धि) का

---

१. अनिष्ठुरत्वं यत्प्राहुः सौकुमार्यं तदुच्यते।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.८०

२. सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी, सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥

३. अर्थव्यक्तिः स्वरूपस्य साक्षात् कथनमुच्यते।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.८१

४. कान्तिर्दीप्तरसत्वं स्यात्।—वही, १.८१

५. भूत्युत्कर्ष उदारता।—वही, १.८१

उत्कर्ष ।[1] भोज ने इसमें से विभूति के उत्कर्ष को लेकर उदारत्व अर्थगुण कल्पित कर लिया । इस प्रकार उन्होंने अलंकार को भी गुण में परिवर्तित कर दिया । इस गुण की अलंकारता इस बात से भी सिद्ध होती है कि भोज ने स्वयं इस गुण के विपर्यय को अलंकार दोष कहा है ।

९—उदात्तता—आचार्य दण्डी ने उदात्त अलंकार में जो दो विशेषताएँ बताई थीं उसमें से एक, 'आशय का उत्कर्ष' भी है। भोजराज ने इसका उपयोग कर उदात्तता नामक नवीन अर्थगुण की कल्पना कर ली। आचार्य भरत की दृष्टि में उदार और उदात्त - ये दोनों शब्द पर्यायवाची थे किन्तु धीरे-धीरे परवर्ती आचार्यों ने इनमें भेद किया । इनमें से उदारता को दण्डी ने गुण और उदात्तता को अलंकार माना था किन्तु भोजराज ने इन दोनों को गुण रूप में स्वीकार किया । उन्होंने 'आशय के उत्कर्ष' को उदात्तता नामक अर्थगुण बना दिया ।[2]

१०—ओज—भोजराज की अर्थगत ओजोगुण की कल्पना मौलिक है । किसी भी वर्णन में वक्ता की निश्चयात्मकता का प्रतिपादन ही अर्थगत ओज है ।[3]

११—और्जित्य—रूढ़ अहंकार की व्यञ्जना में भोजराज ने और्जित्य गुण माना है । उन्होंने रूढाहंकारता को और्जित्य अर्थगत गुण कहा है ।[4] इस अर्थ-गुण की धारणा में भोज दण्डी से प्रभावित हैं । दण्डी ने रूढाहंकारत्व को ऊर्जस्वि अलंकार कहा है ।[5] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भोज ने अपने इस अर्थगुण की कल्पना, दण्डी के इस अलंकार के आधार पर की है ।

१२—प्रेय—भोजराज की अर्थगत प्रेय गुण की धारणा सर्वथा नवीन है । उन्होंने अर्थ में अभीष्टता को प्रेय गुण कहा है ।[6] यदि किसी वस्तु का इस

---

१. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिण: ॥—काव्यादर्श, २.३००

२. ओजः स्वाध्यवसायस्य विशेषोऽर्थेषु यो भवेत् ।—सरस्वतीकण्ठा०, १.८२

३. आशयस्य य उत्कर्षस्तदुदात्तत्वमिष्यते ।—वही, १.८२

४. रूढाहंकारमौर्जित्यम् ।—वही, १.८३

५. ऊर्जस्वि रूढाहंकारं……।—काव्यादर्श, २.२७५

६. प्रेयस्त्वर्थेष्वभीष्टता ।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.८३

प्रकार वर्णन किया जाय कि वह अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक अभीप्सित हो तो वहाँ प्रेय नामक अर्थगुण होता है।

१३—सुशब्दता—भोजराज के अनुसार, दारुण अर्थ वाले शब्द का अदारुण अर्थ वाले पर्याय का प्रयोग सुशब्दता नामक अर्थगुण कहा जाता है।[१] जैसे 'मृत' के लिए 'यशःकाय,' 'शव' के लिए 'मिट्टी', 'सर्प' के लिए 'रस्सी' आदि शब्दों का प्रयोग सुशब्दता अर्थगुण कहा जायगा। वामन ने 'अपारुष्य' कहकर अपने अर्थसौकुमार्य की कल्पना इसी प्रकार की थी। भोजराज ने उसे ही 'सुशब्दता' के रूप में प्रयुक्त किया। इस प्रकार भोज की यह गुणधारणा निश्चय ही वामन के अर्थसौकुमार्य से अभिन्न है।

१४—समाधि—भोजराज के अनुसार किसी अर्थ की सिद्धि के लिए यदि व्याज (बहाना) का अवलम्बन किया जाय तो वहाँ समाधि नामक अर्थगुण होता है।[२] उदाहरण के रूप में उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तल के एक श्लोक[३] को उद्धृत किया है। वस्तुतः व्याज का अवलम्बन तो व्यक्ति का अपना विशिष्ट गुण है। इसे काव्य गुण बनाना भोज की अपनी स्वतन्त्र कल्पना है।

१५—सौक्ष्म्य—भोजराज ने किसी वर्णन में सूक्ष्म अर्थ की स्थिति को सौक्ष्म्य नामक अर्थगुण माना है।[४] इसका तात्पर्य यह हुआ कि सौक्ष्म्य गुण में किसी वर्णित अर्थ में उससे भिन्न सूक्ष्म अर्थ की प्रतीति होती है। वस्तुतः यह सूक्ष्म अर्थ ध्वनिवादियों के वस्तु या रसादि ध्वनि से भिन्न नहीं है। भोज ने इस अर्थगुण की धारणा में ध्वनित होने वाले अर्थ पर ही जोर दिया है। उन्होंने जो उदाहरण दिया है, उसमें नायिका की चेष्टाओं से अनुराग की व्यंजना प्रदर्शित की गई है।

१६—गाम्भीर्य—शास्त्रसम्मत अर्थ का प्रतिपादन गाम्भीर्य अर्थ-गुण माना गया है।[५] वस्तुतः शास्त्रपरक अर्थ गम्भीर होते हैं। अतएव, जब किसी

---

१. अदारुणार्थपर्यायो दारुणेषु सुशब्दता।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.८३

२. व्याजावलम्बनं यत्तु स समाधिरिति स्मृतः।—वही, १.८४

३. दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥
—अभिज्ञानशाकुन्तल, २.१२

४. सौक्ष्म्यमित्युच्यते तत्तु यत् सूक्ष्मार्थाभिदर्शनम्।—सरस्वतीकण्ठाभरण १.८४

५. शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्वं गाम्भीर्यमभिधीयते।—वही, १.८५

काव्य में प्रसंगतः किसी शास्त्रविशेष के गम्भीर अर्थ (तत्त्वों) का प्रतिपादन (वर्णन) होता है, तो वहाँ भोजराज गाम्भीर्य नामक अर्थ गुण स्वीकार करते हैं।

१७—विस्तर—अर्थ के विकास को भोजराज ने अर्थगत विस्तर गुण कहा है।[1] किसी भी अर्थ को अनेकधा विकसित कर काव्य में वर्णन करना विस्तर नामक अर्थगुण है। आचार्य वामन ने अर्थगत ओज गुण के प्रौढ़ि का एक भेद 'व्यास' माना था। भोज की यह विस्तर गुणधारणा उससे अभिन्न ही है। क्योंकि उसमें भी अर्थ के विस्तृत वर्णन की ही धारणा व्यक्त की गई थी।

१८—संक्षेप—भोजराज के अनुसार संक्षेप नामक अर्थगुण 'अर्थ की संवृत्ति' है।[2] किसी अर्थ के विस्तृत वर्णन को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर देना ही संक्षेप अर्थगुण है। अन्यत्र (शास्त्र आदि में) वर्णित किए गये धर्मादि विषय-विशेष को काव्य में कुछ ही श्लोकों में उपनिबद्ध कर देना अर्थसंक्षेप या अर्थवृत्ति कहा जाता है।

१९—सम्मितत्व—इस अर्थगुण को परिभाषित करते हुए भोजराज ने कहा है कि जहाँ शब्द के तुल्य अर्थ रहे वहाँ सम्मितत्व अर्थगुण होता है।[3] सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजराज ने उदाहरण देकर बताया है कि पार्वती के वक्ष पर चिह्नित नखक्षत एवं शिव के भाल पर स्थित अर्द्धचन्द्र, दोनों मिलकर 'ॐ' बन रहे हैं। इस वर्णन में 'ॐ' का उचित विभाग कर, उनका विनिवेश उचित स्थानों पर हुआ है, अतः सम्मितत्व अर्थगुण है।[4]

२०—भाविकत्व—साभिप्राय कथन का उपन्यास भाविक (अर्थगत) गुण होता है।[5] इसका उदाहरण देकर भोजरोज ने उसमें साभिप्रायकथन को

---

१. विस्तरोऽर्थविकाशः स्यात् ।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.८५

२. संक्षेपस्तस्य संवृत्तिः ।—वही, १.८५

३. शब्दार्थौ यत्र तुल्यौ स्तः सम्मितं तदुच्यते ।—वहीं, १.८६

४. इन्दुर्मूर्ध्नि शिवस्य शैलदुहितुर्वक्रो नखाङ्कस्तने.......... । अत्र प्रणव-लक्षणस्यार्थस्य तुल्यत्वेन यथावद्विभज्य विनिवेशनं सम्मितत्वम् ।
—वही, १.८६ की वृत्ति ।

५. साभिप्रायोक्तिविन्यासो भाविकत्वं निगद्यते ।—वही, १.८६

घटित करते हुए भाविक अर्थगुण की उपस्थित बतलाई है।[1] आचार्य वामन ने ओज की प्रौढ़ि का एक भेद 'साभिप्रायकथन' को बताया था।

२०—गति—जहाँ एक अर्थ के आधार पर दूसरे अर्थ का भी बोध हो, वहाँ गति नामक अर्थगुण होता है।[2] वस्तुतः ध्वनिवादी आचार्य तो इसे ध्वनि का एक रूप मानते हैं, न कि गुण। वस्तु, अलंकार अथवा रस आदि के आधार पर वस्तु, अलंकार अथवा रस ध्वनित होता है। ध्वनि का गुण में अन्तर्भाव करके भोजराज ने उचित नहीं किया।

२२—रीति—रीति नामक अर्थगुण एक प्रकार का क्रम है। अर्थ-वर्णन में उसकी उत्पत्ति से लेकर विकास को क्रमशः वर्णित करना रीति अर्थ-गुण है। भोजराज के अनुसार, उत्पत्ति आदि की क्रिया का क्रम रीति है।[3] उदाहरणार्थ, चन्द्रमा का उदय से लेकर उसकी क्रिया का यथाक्रम वर्णन रीति गुण है।

२३—उक्ति—जहाँ किसी भव्य अर्थ को भङ्गी (वक्रता) द्वारा कहा जाय, वहाँ उक्ति अर्थगुण माना जाता है।[4] इसे उक्तिवक्रता या उक्तिवैचित्र्य कहा जा सकता है। कुन्तक ने तो इसे काव्यात्मस्वरूप घोषित कर दिया था। रस एवं ध्वनिवादी आचार्यों ने इसे अलंकारमात्र माना है। भोजराज ने उसी वक्रोक्ति या उक्तिवैचित्र्य को गुण (अर्थगत) मान लिया।

२४—प्रौढ़ि—'विवक्षित अर्थ का निर्वाह' प्रौढ़ि नामक अर्थगत गुण माना गया है।[5] जहाँ कवि अपने अभिप्रेत विपुल अर्थ का प्रतिपादन स्वल्प

---

१. दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः॥ अत्र तमालमालावलयितसरित्तीरकृतसंकेतायाः कुलटायाः स्वस्तनो भाविनां परपुरुषनखक्षतानां नलग्रथ्यालेखव्याजगोपनेन साभिप्रायमणनं भाविकम्।

—सरस्वतीकण्ठाभरण, १ ८६ की वृत्ति।

२. गतिस्सा स्यादवगमो योऽर्थादर्थान्तरस्य तु।—वही, १.८७

३. रीतिः सा यस्त्विहार्थानामुत्पत्यादिक्रियाक्रमः।—वही, १.८७

४. उक्तिर्नाम यदि स्वार्थो भङ्ग्या भव्योऽभिधीयते।—वही, १.८८

५. विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढ़िरिति स्मृता।—वही, १.८८

वाक्यों द्वारा करे, वहाँ प्रौढ़ि(अर्थगत) गुण होता है ।[1]

भोजराज द्वारा प्रतिपादित बाह्य (शब्दगत) और आन्तरिक (अर्थगत) गुणों की स्वरूप-विवेचना का निष्कर्ष यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा काव्य-गुणों को अधिक महत्त्व प्रदान किया और परम्परागत चले आ रहे दस गुणों की धारणा को छोड़कर स्वतंत्र रूप से गुणों के सम्बन्ध में ऊहापोह किया। इसका परिणाम यह हुआ कि गुणों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई और समान संज्ञा वाले चौबीस शब्दगुण और अर्थगुण (इस प्रकार २४+२४=४८) कल्पित हुए। यद्यपि भोज का गुणचिन्तन मौलिक अवश्य कहा जाना चाहिए तथापि उनके सभी गुण नवीन नहीं है। परम्परा से प्राप्त गुणधारणा का उपायोग करके उन्होंने कुछ गुणों को तो यथावत् स्वीकार कर लिया है। पूर्व आचार्यों के किसी एक गुण के कई लक्षणों, स्वरूपों या या भेदों के अन्तर का उपयोग करते हुए उन्होंने कई नवीन गुणसंज्ञा को सृष्टि कर डाली है। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत कई अलंकारों को उन्होंने गुणों के बीच ला खड़ा किया है और ध्वनि के किन्हीं भेदों को भी गुण के रूप में देखने की चेष्टा की है। साथ ही आचार्य भरत द्वारा इंगित अभिनयगत पात्रों की एकाध चेष्टा को भी काव्यगुण में परिवर्तित कर भोजराज ने अपूर्व साहस का परिचय दिया है। चूँकि गुणों और अलंकारों में, प्रारम्भिक आचार्य, कोई स्पष्ट भेद निर्धारित न कर सके थे, इसलिए उनका पार्थक्य कुछ-कुछ अस्पष्ट होने के कारण भोजराज द्वारा कुछ अलंकारों को गुण मान लेना, बहुत असंगत नहीं कहा जा सकता। किन्तु ध्वनि को गुण के रूप में प्रदर्शित करना, वस्तुतः अनुचित ही कहा जायगा।

चौबीस शब्दगुणों और चौबीस अर्थगुणों की कल्पना करने के बावजूद भोजराज ने परम्पराप्राप्त श्लेषादि दस गुणों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने उन दस गुणों में से 'समाधि' गुण को छोड़कर शेष नौ गुणों के विपर्यय को 'अरीतिमत्' दोष कहा है।[2] भोजराज की इस धारणा को विशद बनाते

---

१. कवेरभिमतस्य भूयसोऽप्यर्थस्य स्वल्पैनैव वाक्येन प्रतिपादनं प्रौढिः।
—सरस्वती कण्ठाभरण, १.८८ रत्नेश्वरकृत टीका।

२. गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः। अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते ॥—वही, १.२८–२९

हुए रत्नेश्वर ने अपनी टीका में लिखा है कि श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, माधुर्य, कान्ति, उदारत्व और ओज—इन नौ गुणों के सद्भाव से वाक्य में वक्रता (चारुता) आती है और वह काव्यपद का अधिकारी होता है। इन गुणों के भंग होने की स्थिति में उस वाक्य में काव्यत्व का आभास मात्र होता है। अतः इन नौ गुणों का विपर्यय दोष है।[1]

वैशेषिक गुण—

काव्य के कुछ दोष भी विशेष अवस्था में गुण बन जाते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया था। आचार्य भामह ने आश्रय-सौन्दर्य आदि के बल पर दोषों का गुणत्व प्रदर्शित किया था। उन्होंने कहा है कि जैसे काला आँजन कामिनी के कमनीय नेत्रों का आश्रय प्राप्त कर सुशोभित होता है, वैसे ही काव्यदोष भी आश्रय के सौन्दर्य से सौन्दर्याधायक (गुण) हो जाता है।[2] भामह जैसा ही विचार आचार्य दण्डी का भी है। वे कहते हैं कि कवि कौशल से दोष भी गुण बन जाते हैं।[3] आचार्य रुद्रट ने भी दोषों के गुणत्व के सम्बन्ध में यही धारणा प्रकट की है।[4] भोज ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की विचार परम्परा का अनुसरण करते हुए दोषों का विशेष परि-स्थितियों में गुणत्व स्वीकार किया है। उन्होंने दोष-गुणों को वैशेषिक गुण कहा है।[5] भोजराज ने इस वैशेषिक गुणधारणा को व्यवस्थित रूप प्रदान किया है। उन्होंने २४ काव्यदोषों का गुणत्व प्रदर्शित किया है। इस प्रकार वैशेषिक गुणों की संख्या २४ हुई। इन्होंने उनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है; जिनमें से मुख्य हैं—पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थगत। यहाँ इन दोषगुणों के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वरकृत टीका, १.२८–२९

२. किंचिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥—भामह, काव्यालंकार, १.५५

३. विरोधस्सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥—काव्यादर्श, ३.१७९

४. अनुकरणभावविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृक् विपरीतक्लिष्टवर्णं च ॥—काव्यालंकार, ६.४७

५. वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.६१

पदगत वैशेषिक गुण

१—असाधुत्व—'म्लिष्ट' 'म्लेच्छित' आदि शब्दों का प्रयोग सामान्य रूप से प्रायः दोष ही माना जाता है। लेकिन अनुकरण में वह गुण बन जाता है। इस दोष-गुण के सम्बन्ध में भोजराज की यही धारणा है।[1]

२–अप्रयुक्तत्व—भोजराज का मानना है कि अप्रयुक्तत्व दोष भी अनुकरण में गुणत्व को प्राप्त हो जाता है[2]।

३--श्रुतिकटुत्व—(श्रुतिकष्टत्व)—कानों को अप्रिय लगने वाले वर्णों की योजना से बने पदों को श्रुतिकटु कहा जाता है। शृंगारादि रसों में ऐसे पदों का प्रयोग करना श्रुतिकटुत्व दोष माना जाता है। किन्तु दुर्वचन के योग में तथा रौद्र आदि दीप्त रसों में प्रयुक्त होकर वह गुण बन जाता है। सभी आचार्यों के समान भोज की भी यही धारणा है।[3]

४—अनर्थक—यदि किसी पद का ऐसा प्रयोग किया जाय कि वहाँ उसका कुछ भी अर्थ न हो, केवल उसके प्रयोग का प्रयोजन पाद-पूर्ति ही हो, तो वहाँ अनर्थक दोष माना जाता है। किन्तु यमक अलंकार की योजना में ऐसे पदों का प्रयोग गुणत्व को प्राप्त कर लेता है।[4]

५—अन्यार्थ—जो शब्द जिस अर्थ में रूढ़ न हो, उस अर्थ में उसका प्रयोग करना अन्यार्थ दोष माना जाता है। किन्तु प्रहेलिका आदि चित्रकाव्य में वह दोष न होकर गुण बन जाता है।[5] वस्तुतः प्रहेलिका आदि चित्रकाव्य में कवि वैचित्र्य उत्पन्न कर पाठक को चमत्कृत करना चाहता है। अतः वह ऐसे अन्यार्थक शब्दों का प्रयोग करता है। कवि के उद्देश्य की पूर्ति करने के कारण यह दोष भी गुण बन जाता है।

---

१. या म्लिष्टम्लेच्छितादीनां पददोषेष्वसाधुता।
निरूपितानुकरणे गुणत्वं सा प्रपद्यते ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.९१

२. गुणत्वमप्रयुक्तस्य तथानुकरणे भवेत्।—वही, १.९२

३. यच्छ्रुतेर्विरसं कष्टं तस्य दुर्वचकादिषु।
गुणत्वमनुमन्यन्ते सानुप्रासस्य सूरयः ॥—वही, १.९२

४. यत्पादपूरणाद्यर्थमनर्थकमुदाहृतम्।
गुणत्वमनुमन्यन्ते तस्यापि यमकादिषु ॥—वही, १.९३

५. यत्तु रूढ़िच्युतत्वेन प्रोक्तमन्यार्थसंज्ञितम्।
प्रहेलिकादिषु प्रायो गुणत्वं तस्य युज्यते ॥--वही, १.९४

६—**अपुष्टार्थ**—जहाँ ऐसे पदों का प्रयोग किया जाय जिनसे अर्थ की पुष्टि नहीं होती; वहाँ अपुष्टार्थ दोष माना जाता है। भोजराज ने इसे तुच्छ-वाच्यता मानते हुए कहा है कि तुच्छ वाच्य, अपुष्टार्थ दोष हैं, किन्तु कहीं पर वह छन्द के अनुरोध से गुण भी बन जाता हैं।[1] शब्द के अनुरोध से तो अपुष्टार्थ दोष नहीं रह जाता है, अतः वह क्षम्य हो सकता है। किन्तु यह गुण कैसे बन सकता है—यह चिन्त्य है। भोज की यह दोष-गुण धारणा तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती।

७—**असमर्थ** अथवा अवाचक—भोजराज के अनुसार यह दोष सीत्कार आदि में गुण बन जाता है।[2]

८—अप्रतीतत्व—कुछ ऐसे शब्द (पारिभाषिक आदि) भी होते हैं जो किसी शास्त्रविशिष्ट में ही प्रयुक्त (प्रसिद्ध) हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य में कर देने से वह अप्रतीतत्व दोष माना जाता हैं, क्योंकि उसकी प्रतीति सामान्यतः सर्वजनसुलभ नहीं होती। लेकिन वक्ता श्रोता के आश्रय से वह गुण बन जाता है। यदि वक्ता शास्त्रवेत्ता हो और श्रोता भी उसी श्रेणी के हों तो वैसे शास्त्रवेत्ता के मुख से स्वाभाविक रूप में उच्चरित होने से वह गुण माना जाता है।[3] यह अप्रतीतत्व दोष वक्ता के औचित्य के कारण गुण श्रेणी में आ जाता है।

९—क्लिष्टत्व—किन्हीं पदों के प्रयोग के कारण जहाँ अर्थप्रतीति में व्यवधान होता है, वहाँ क्लिष्टपदता मानी जाती है। इसे ही क्लिष्टत्व दोष कहते हैं। किन्तु यदि ऐसे क्लिष्ट पदों के प्रयोग के बावजूद भी अर्थ की प्रतीति शीघ्रतापूर्वक हो जाती है, तो वह क्लिष्टत्व दोष, गुण बन जाता है।[4]

---

१. तुच्छवाच्यमपुष्टार्थमिति यत् प्राक् प्रकाशितम्।
तस्य छन्दोऽनुरोधादौ गुणत्वमवधार्यते॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.९५

२. प्रतिपादितमादौ यदसमर्थमवाचकम्।
तस्यापि खलु मन्यन्ते गुणत्वं सीत्कृतादिषु॥—वही, १.९६

३. शास्त्रमात्रप्रतीतत्वादप्रतीतं तदुच्यते।
गुणत्वं तस्य तद्विद्यसम्भाषादौ विदबुर्धाः॥—वही, १.९७

४. अर्थप्रतीतिकृद्दूरे क्लिष्टं नाम यदुच्यते।
झटित्यर्थप्रतीतौ तद्गुणत्वमनुगच्छति॥—वही, १.९८

प्रसिद्धि के अनुरोध से, प्रकरणवशात् या पदान्तर के सन्निधान बल से यदि क्लिष्ट पदों का अर्थ सुगमता पूर्वक तत्काल प्रकट हो जाय, तो भोज उसे गुण मानते हैं। भोज की यह दोष-गुणधारणा भी चिन्त्य है। जब किसी भी उपर्युक्त प्रकार से अर्थ का झटितिबोध हो ही गया तो फिर क्लिष्टत्व दोष रहा ही कहाँ, वैसी स्थिति में तो क्लिष्टत्व का अभाव ही माना जायगा फिर हम तो मान सकते हैं कि दोष नहीं रहा किन्तु यह कैसे माना जा सकता है कि वह दोष गुणरूप में परिवर्तित हो गया। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि उक्त दोष के अभाव में सुखकरबोध द्वारा वह काव्य अच्छा लगा।

१०--गूढार्थत्व—अप्रसिद्ध अर्थ में किसी पद का प्रयोग, गूढार्थ दोष माना जाता है। भोजराज के अनुसार, यह दोष व्याख्यान आदि में गुण हो जाता है।[1]

११—नेयार्थ--प्रहेलिका आदि चित्रकाव्य में नेयार्थ दोष को गुण माना जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि प्रहेलिका आदि में दूरारूढ़ कल्पना अभीष्ट होती है अतः वहाँ वह दोष नहीं अपितु गुण हो जाता है।[2]

१२--सन्दिग्ध--सन्दिग्ध दोष उसे कहते हैं, जहाँ ऐसे पदों का प्रयगो किया जाय, जिनके अर्थ का निर्णय तत्काल न हो सके। किन्तु संदर्भ आदि के कारण यदि ऐसे अनिश्चयार्थक पदों के प्रयोग से कुछ वैशिष्ट्य आ जाय, तो वह दोष न होकर काव्य का शोभाधायक गुण बन जाता है[3]। आचार्य दण्डी ने ऐसी स्थिति में संशय अलंकार की कल्पना की थी।[4]

१३—अप्रयोजकपदत्व—जिस पद के प्रयोग से अर्थ में किसी प्रकार की विशेषता नहीं आती, उसे अप्रयोजक पद कहा जाता है। यही अप्रयोजकपदत्व नामवाला काव्यदोष है। लेकिन जब केवल वस्तु के स्वरूप की विवक्षा हो,

---

१. अप्रसिद्धार्थसम्बन्धं यद् गूढार्थमिति स्मृतम्।
तद्व्याख्यानादिषु प्रायो गुणत्वेन तदिष्यते॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.९९,

२. नेयार्थं यत्स्वसंकेतक्लृप्तवाच्यं तदीरितम्।
प्रहेलिकादिषु प्राज्ञैस्तद्गुणत्वेन गण्यते॥—वही, १.१००

३. यदनिश्चयकृतं प्रोक्तं सन्दिग्धं तद्गुणीभवेत्।
भवेद्विशेषावगमो यदि प्रकरणादिभिः॥—वही, १-१०१

४. ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा॥—काव्यादर्श, ३.१४१

किसी वैशिष्ट्य की नहीं, तो वहाँ यह दोष भी गुण बन जाता है ।[1] वास्तव में इसे दोषाभाव मात्र माना जा सकता है, गुण नहीं । क्योंकि काव्य की पंक्तियों में प्रयुक्त प्रत्येक पद चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकता ।

१४—विरुद्धमतिकृत्—जब काव्य में ऐसे पदों का प्रयोग हो जाता है, जो कवि के विवक्षित अर्थ के विपरीत अर्थ की प्रतीति कराने लगते हैं, तो वहाँ विरुद्धमतिकृत् दोष माना जाता है लेकिन यदि अपने काव्य में विशेष चमत्कार लाने की दृष्टि से कवि स्वयं जान बूझकर ऐसे विपरीत अर्थ का बोध कराने वाले पदों का प्रयोग करता है तो वहाँ वह दोष न रहकर गुण हो जाता है ।[2]

१५—देश्य—ऐसे (देशज) शब्दों का प्रयोग, जिनकी व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति सम्भव न हो, देश्य दोष कहा जाता है । किन्तु यह दोष भी रससिद्ध महाकवियों के कौशल से गुण में बदल जाता है ।[3]

१६—ग्राम्यत्व—ग्राम्यत्व दोष त्रिधा होता है—घृणावत्, अश्लीलत्व और अमंगलार्थत्व । किन्तु ये दोष भी क्रमशः संवीत अर्थ में वस्तु के माहात्म्य से गुप्त अर्थ में और लक्ष्य अर्थ में दोष नहीं माने जाते ।[4] इस दोष के परिहार का का आधार पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है । भोजराज ने अपनी वृत्ति में इसका व्याख्यान किया है ।[5] ईश्वर से सम्बद्ध होने के कारण उनके माहात्म्यवश 'शिवलिंग' के प्रति किसी के मन में अन्यभावना उत्पन्न नहीं होती । इसी प्रकार भगवान् भगवती, भगिनी आदि शब्दों के साथ पवित्र भावों की संबद्धता के कारण व्यक्ति

---

१. अप्रयोजकमित्युक्तमविशेषविधायकम् ।
स्वरूपमात्रे वक्तव्ये तस्यापि गुणतेष्यते ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१०३

२. यत्तद्विरुद्धमित्युक्तं विपरीतप्रकल्पनम् ।
तथाभूताभिधानेन गुणत्वं प्रतिपद्यते ॥—वही, १.१०२

३. यदव्युत्पत्तिमद्देश्यमिति पूर्वं निरूपितम् ।
महाकविनिबद्धं सत्तदप्यत्र गुणीभवेत् ॥—वही, १.१०४

४. ग्राम्यं घृणावदश्लीलामंगलार्थं यदीरितम् ।
तत् संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति ॥-वही, १.१०५

५ यदाह—संवीतस्य हि लोकेषु न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिंगस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्ववासना ॥
वस्तुमहात्म्यगुप्तस्य पदार्थस्य विभावनात् ।
भगिनीभगवत्यादि नासभ्यत्वेन भाव्यते ॥--वही, १.१०५ की वृत्ति ।

में असभ्य भावना का उदय नहीं होता। अतः अर्थ के लक्षित होने पर ऐसे शब्दों में घृणावत्, अश्लीलत्व और अमंगलत्व की प्रतीति नहीं होती। उक्त तीनों दोषों में से प्रत्येक के संवीत, गुप्त और लक्ष्य अर्थ के भेद से तीन प्रकार के वैशेषिक गुण बनते हैं और इनकी संख्या नौ हो जाती है। इस प्रकार कुल २४ भेद पदगत वैशेषिक गुण के हो जाते हैं।

वाक्यगत वैशेषिक गुण—

पदगत वैशेषिक गुणों की ही भाँति भोजराज ने वाक्यगत चौबीस दोषों का गुणत्व प्रदर्शित करके चौबीस वाक्यगत वैशेषिक गुणों की कल्पना की है। उनका स्वरूप अधोलिखित है—

१—शब्दहीन--असाधु शब्द का प्रयोग, शब्दहीन दोष माना गया है। भोज के अनुसार, यदि कवि-विवक्षानुसार कहीं स्वभाव सुन्दर असाधु शब्द का प्रयोग हो जाता है, तो वह शोभाजनक गुण हो जाता है।[1] आचार्य दण्डी ने भी शिष्टजनसम्मत शब्दहीन दोष का गुणत्व स्वीकार किया था।

२—उपक्रम--उपक्रम दोष के गुणभाव सम्बन्धी धारणा को भोजराज ने दण्डी से ज्यों का त्यों ले लिया है। जहाँ, कवि अन्वय-सम्बन्ध के अवबोध के लिए यत्न करते हुए क्रम का उल्लंघन करके वर्णन करता है, वहाँ क्रम का उल्लंघन दोष नहीं माना जाता।[2]

३—विसन्धि अथवा विरूपसन्धि--इन दोनों दोषों के गुणत्व के सम्बन्ध में भोजराज की मान्यता है कि ये दुर्वचक या प्रगृह्य आदि में दोष नहीं माने जाते।[3] इसका कारण है कि बालक, अज्ञ या स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए भाषा में सन्धिहीन प्रणाली का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। दुर्वचक्र का प्रयोग हास्यादि के लिए विहित है। अतः ऐसे स्थलों पर विसन्धि को दोष

---

१. तत्र शब्दविहीनस्य विवक्षावशतः क्वचित्।
निसर्गसुन्दरत्वेन गुणत्वं परिकल्प्यते॥--सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१११

२. यत्नः सम्बन्धविज्ञानहेतुः कोऽपि कृतो यदि।
क्रमलंघनमप्याहुर्न दोषं सूरयो यथा॥--वही, १.११२ तथा काव्यादर्श ३.१४६

३. विरूपसन्धि यत्पूर्वं विसन्धि च निरूपितम्।
न च दुर्वचके प्रायः प्रगृह्यादौ च दुष्यति॥--वही, १.११३

नहीं माना जाता ।[1] 'प्रगृह्य' व्याकरण शास्त्र में पारिभाषिक है और उसमें सन्धि न होना व्याकरणसम्मत है ।

४—पुनरुक्त—पुनरुक्त दोष का गुणत्व प्रदर्शित करने के लिए भोजराज ने दण्डी का ही आश्रय लिया है । जहाँ अतिशय अनुकम्पा अभीष्ट हो, वहाँ पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता अपितु वह अलंकार होता है ।[2] दण्डी की इस धारणा का अक्षरशः ग्रहण करते हुए भोजराज ने कहा है कि अतिशय अनुकम्पा आदि की विवक्षा में पुनरुक्त दोष न होकर गुण हो जाता है ।[3] स्पष्ट है कि यहाँ भी भोज ने अलंकार को गुण के रूप में स्वीकार किया है ।

५—व्याकीर्ण—व्याकीर्ण का अर्थ होता है बिखरा या छिटका हुआ । जब वाक्य में पदों का उचित विन्यास नहीं होता, तो भोजराज के मतानुसार व्याकीर्ण दोष होता है । यह पदों का व्युत्क्रम रूप होता है । यह व्याकीर्ण दोष भी स्थिति विशेष में गुण बन जाता है ।[4]

६—संकीर्ण—जब एक वाक्य का पदार्थ, दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाता है, तो यह परस्पर प्रवेश, संकीर्ण दोष माना जाता है । किन्तु यदि प्रश्नोत्तर में क्रम से दोनों वाक्य परस्पर संकीर्ण होते हैं, तो वह दोष नहीं होता ।[5]

७—अपद—ऐसे चित्रकाव्य में जिसका निर्माण कई भाषाओं के मिश्रण से होता है, अपद दोष नहीं होता ।[6]

---

१. यदाहुः—शुकस्त्रीबालमूर्खाणां मुखसंस्कारसिद्धये ।
प्रहासाय च गोष्ठीषु वाच्या दुर्वचकादयः ॥—सरस्वतीकण्ठा०, १.११३की वृत्ति ।

२. अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥—वही, १.११५; काव्यादर्श, ३.१३७

३. तदुभयं अनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामदोष इति गुणत्वम् ।
—सरस्वतीकण्ठभारण, १.११५ की वृत्ति ।

४. पदानां व्युत्क्रमो यत्र क्रमेणव्युत्क्रमेण वा ।
तद्व्याकीर्णं विदुस्तस्य न दोषः क्वापि तद् यथा ।—वही, ११६

५. पर्यायेण द्वयोर्यत्र वाक्यं प्रश्नोत्तरादिषु ।
संकीर्णं तन्न दोषाय वाक्ये वाक्यविदो विदुः ॥—वही, १.११७

६. प्रकृतिस्थादिभेदेन ग्राम्यादिभिरथापि वा ।
अपदं तस्य चानुज्ञा भाषाचित्रे विधीयते ॥—वही, १.११८

८--वाक्यगर्भित--किसी वाक्य का वाक्यान्तर में प्रविष्ट हो जाना, वाक्यगर्भित दोष माना जाता है। किन्तु जहाँ प्रकृत रस के साथ स्थित अन्य रस के द्वारा इस दोष का तिरस्कार हो जाय, वहाँ वह दोष नहीं होता।[1]

९-१२—उपमादोष—काव्यशास्त्र में उपमा से सम्बद्ध कई दोष वर्णित हैं। भोजराज ने उसमें से कुछ दोषों का गुणत्व स्वीकार किया है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

(क) भिन्नलिंगत्व—उपमान और उपमेय के लिंग समान होने चाहिए। किन्तु यदि लिंगों में भिन्नता है, तो वहाँ भिन्नलिङ्गत्व दोष होता है।

(ख) भिन्नवचनत्व—लिंग की ही तरह उपमेय और उपमान के विभक्तिगत वचन भी समान होने चाहिए। किन्तु यदि वे भिन्न हैं तो वहाँ भिन्नवचनत्व दोष होता है।

भोजराज का कथन है कि यदि भिन्न लिंग और भिन्नवचन के प्रयोग से युक्त उस उपमा के विषय में सहृदय उद्विग्न न हों तो, ये दोष नहीं माने जाते।[2]

(ग) हीनोपम--प्रायः उपमा में, उपमेय और उपमान की तुल्यधर्मता होती है। जब उपमान-धर्म, उपमेय-धर्म से हीन होता है, तो हीनोपम दोष माना जाता है। किन्तु हीनधर्मा उपमान भी यदि कवि परम्परा में प्रसिद्ध हो, तो वहाँ हीनोपम दोष नहीं रह जाता है।[3]

(घ) अधिकोपम—हीनोपम के विरुद्ध यदि उपमान धर्म का आधिक्य हो तो वहाँ अधिकोपम दोष होता है। किन्तु भोज के अनुसार, विशेष स्थिति में यह भी दोष नहीं माना जाता।[4]

१३-१४—छान्दोदोष—भोजराज ने छन्दोदोष का उल्लेख करते हुए दो प्रकार के छन्दोदोषों का गुणत्व प्रतिपादित किया है।

---

१. वाक्यान्तरसगर्भं यद् वाक्यं तद्वाक्यगर्भितम्।
रसान्तरतिरस्कारे तदिष्टं नेष्टमन्यथा ॥--सरस्वतीकण्ठाभरण, १.११९

२. यद् भिन्नलिंगमित्युक्तं विभिन्न वचनं च यत्।
उपमादूषणं तन्न यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥--वही, १.१२०

३. यत्रोपमानधर्माः स्युर्नोपमेयेन सम्मिताः।
तद्धीनोपममित्याहुस्तत्प्रसिद्धौ न दुष्यति ॥—वही, १.१२१

४. क्रमेणानेन कृतिभिरेष्टव्यमधिकोपमम्।
विशेषस्तूपमेयाङ्गमनुमानाद् प्रतीयते ॥--वही, १.१२२

(क)—छन्दोभङ्ग—वार्णिक अथवा मात्रिक दो प्रकार के छन्द होते हैं। उनमें निश्चित वर्णों की संख्या या मात्रायें प्रयुक्त होती हैं। जिसमें जितने वर्णों का प्रयोग या मात्राओं का प्रयोग अपेक्षित है, उस छन्द में उतने वर्णों या मात्राओं की योजना न की जाय तो छन्दोभङ्ग नामक दोष माना जाता है। भोज के अनुसार जहाँ संयुक्तवर्ण के पूर्व का वर्ण प्रयत्नपूर्वक लघु बना दिया जाय, वहाँ छन्दोभङ्ग दोष नहीं होता।[1]

(ख) यतिभङ्ग—छन्दःपाठ में विराम को 'यति' कहते हैं। यति का स्थान छन्द में निर्धारित होता है। जितने वर्णों के बाद यति का विधान होता है, यदि उतने वर्णों के बाद ही प्रयुक्त पद का अन्त नहीं होता, तो यति पद के के बीच में ही पड़ जाती है। ऐसी स्थिति में या तो यति के लिए पद का विच्छेद करना पड़ता या फिर यति को पदारम्भ के पूर्व या पदान्त के पश्चात् रखना पड़ता है। इस स्थिति में यति नियम का भङ्ग होता है अतः दोष होता है। भोजराज ने कुछ विशेष स्थितियों का उल्लेख कर इस दोष के गुणत्व का प्रतिपादन किया है।[2]

१५--अशरीर--क्रियाहीनता को अशरीर दोष कहा जाता है। किन्तु जिस वाक्य में क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती वहाँ क्रिया पद का अभाव दोष नहीं माना जाता।[3]

उपर्युक्त पन्द्रह वाक्यगत दोषों के गुणत्व के साथ ही भोजराज ने श्लेषादि गुणों के विपर्ययभूत अरीतिमत् नौ दोषों का भी गुणत्व प्रतिपादित करके उन्हें

---

१. यदा तीव्रप्रयत्नेन संयोगादेरगौरवम्।
न छन्दोभंगमप्याहुस्तदा दोषाय सूरयः ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१२३

२. वाक्यमस्थानविरतिप्राग्भग्नयतिसंज्ञया।
समुद्दिष्टं यदधुना गुणत्वं तस्य कल्प्यते ॥ तदाह—
स्वरसन्ध्यकृते प्रायो धातुभेदे तदिष्यते।
नामभेदे च शेषेषु न दोष इति सूरयः॥
लुप्ते पदान्ते शेषस्य पदत्वं निश्चितं यथा।
तथा सन्धिविकारान्तं पदमेवेति वर्ण्यते ॥—वही, १.१२५
तथा वृत्ति।

३. अशरीरं क्रियाहीनं क्रियापेक्षा न यत्र तु।
प्राशस्त्यादेरपेक्षा वा न दोषस्तत्र तद्यथा ॥—वही, १.१२५

भी वैशेषिक गुणों में परिगणित कर लिया है। वे इस प्रकार हैं :--

१६--शैथिल्य---यह श्लेष गुण का विपर्यय होने के कारण दोष माना जाता है। किन्तु यह दोषत्व वैदर्भमार्ग में ही है, गौड मार्ग में समादृत होकर यह गुण माना जाता है। दण्डी की इस मान्यता के आधार पर इसे भोजराज ने गौड मार्ग में गुण मानते हुए इसकी गणना वैशेषिक गुणों में की है।[1]

१७—वैषम्य—समता गुण का विपर्यय वैषम्य दोष माना गया है। किन्तु अलंकार की योजना से यह कहीं-कहीं गुण बन जाता हैं। शब्दाडम्बर-प्रिय गौडमार्गी कवियों की दृष्टि में यह गुण है।[2] इसलिए भोज ने इसका ग्रहण वैशेषिक गुणों में किया है।

१८—कठोरता—सौकुमार्य का विपर्यय कठोरत्व दोष गौडमार्ग में दोष नहीं माना जाता। गौडमार्ग में दीप्तत्व का आदर होने से कठोरत्व की गणना भोज ने वैशेषिक गुणों में की है।[3]

१९—अप्रसन्न—प्रसाद गुण का विपर्यय अप्रसन्न दोष माना जाता है। किन्तु चित्रकाव्य में शब्दकौतुक होने के कारण वहाँ अप्रसन्न को ही गुण स्वीकार करते हैं। सायास चित्रकाव्य में सुबोध प्रसिद्धार्थ पद का प्रयोग न होने से अप्रसन्नता गुण रूप में गृहीत है।[4]

२०—नेयार्थ—जहाँ अध्याहार के द्वारा अर्थ का स्पष्टीकरण हो, वहाँ नेयार्थदोष की कल्पना की गई है। किन्तु भोज के मतानुसार जहाँ प्रसिद्धि के कारण अध्याहार हो, वहाँ नेयार्थ को दोष नहीं माना जाता।[5]

---

१. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यं शिथिलं तद्विपर्ययः।
गौडीयैरिष्यते तत्तु बन्धप्राशस्त्यगौरवात् ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१२६

२. न दोषः क्वापि वैषम्येऽप्यर्थालंकारकारणात्।
पौरस्त्यैरादृतत्वाच्च शब्दाडम्बरतोऽपि वा ॥—वही, १.१२७

३. अकठोरमपि बध्नन्ति दीप्तमित्यपरे पुनः।
तेषां मतेन तस्यापि दूषणं नैव विद्यते ॥—वही, १.१२८

४. अविरुदङ्गनाबालप्रसिद्धार्थं प्रसादवत्।
विपर्ययोऽस्याप्रसन्नं चित्रादौ तन्न दुष्यति ॥—वही, १.१२९

५. अध्याहारादिगम्यार्थं नेयार्थं प्रागुदाहृतम्।
स गम्यते प्रसिद्धेश्चेन्न तद्दोषवदिष्यते ॥—वही, १.१३०

२१—ग्राम्य—जहाँ अर्थप्रतिपादन असभ्य हो, वहाँ ग्राम्य दोष होता है। ऐसा ग्राम्योक्तियों में ही होता है। किन्तु भोजराज के मत में यदि वही अर्थ विदग्धोक्ति में हो, तो वहाँ ग्राम्यत्व दोष न होकर गुण हो जाता है।[1]

२२—असमस्त—ओजोगुण के विपर्यय को भोज ने असमस्त दोष कहा है। उनके अनुसार दीप्त-अर्थ में ओज रहता है। अतः यदि ओजो-विपर्यय असमस्त दोष भी दीप्त हो ता वह भी गुण बन जाता है।[2]

२३—अनिर्व्यूढ—जहाँ समस्तासमस्त पद-प्रयोग की समान रीति का निर्वाह नहीं होता वहाँ अनिर्व्यूढ़ दोष होता है। किन्तु जब वर्णन अनेक रसयुक्त हो, तो रसानुरूप रीति का परिवर्तन गुण ही माना जाता है। अतः वह गुण हो जाता है।[3]

२४—अनलंकार—अलंकार हीन वाक्य की योजना में अनलंकार दोष माना जाता है। किन्तु पूर्वापर के अनुसन्धान से वह दोष गुण बन जाता है।[4]

वाक्यार्थगत वैशेषिक गुण

१—अपार्थ—समुदाय-अर्थ की एकता के अभाव में अपार्थ दोष होता है। जहाँ किसी व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त अनेक उक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध होकर कोई अर्थ नहीं प्रकट कर पातीं, वहाँ उक्त दोष होता है। किन्तु प्रयोक्ता के औचित्य के कारण (यथा बालक, उन्मत्त, शोकाकुल आदि द्वारा प्रयुक्त) वह दोष गुण में बदल जाता है।[5] बालक आदि की उक्तियों में परस्पर सम्बन्ध का न स्थापित होना स्वाभाविक ही है। भोजराज की अपार्थ दोष धारणा दण्डी से प्रभावित है।

---

१. असभ्यार्थं मतं ग्राम्यं तद् ग्राम्योक्त्येव दुष्यति।
विदग्धोक्तौ तु तस्याहुर्गुणवत्वं मनीषिणः ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण १.१३१

२. ओजः समासभूयस्त्वं तद्दीप्तार्थेषु बद्ध्यते।
विपर्य्ययोऽस्यासमस्तं तद्दीप्त' चेन्न दोषभाक् ॥—वही, १.१३२

३. समस्तमसमस्तं वा न निर्वहति यद् वचः।
तदनिर्व्यूढमस्यापि न दोषं क्वापि तद्यथा ॥—वही, १.१३३

४. निरलंकारमित्याहुरलंकारोज्झितं वचः।
पूर्वोत्तरानुसन्धाने तस्य साधुत्वमिष्यते ॥—वही, १.१३४

५. समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थं प्रचक्षते।
तन्मत्तोन्मत्तबालानाभुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥—वही, १.१३६

२—अप्रयोजन—जब किसी अन्य वर्णन द्वारा कोई अर्थ गतार्थ हो चुका हो, तब उसी का वर्णन अथवा प्रयोजनहीन वर्णन अप्रयोजन दोष माना जाता है। किन्तु कहीं-कहीं उसका भी निर्दोष प्रयोग प्राप्त होता है।[1]

३—एकार्थ—पहले कहा गया कोई अर्थ, बिना किसी विशेषता के यदि फिर उसी रूप में कहा जाता है तो वहाँ एकार्थ दोष माना जाता है। किन्तु रसाक्षिप्त चित्त वाले मनुष्य द्वारा प्रयुक्त होने की दशा में यह दोष नहीं रह जाता।[2]

४—सन्दिग्ध—कहाँ कोई कवि संशय उत्पन्न करने के लिए ही सन्दिग्धार्थ का प्रयोग करता है, वहाँ यह दोष न होकर गुण बन जाता है।[3]

५—अप्रक्रम—जहाँ वाक्य या प्रबन्ध में अर्थ के पौर्वापर्य का विपर्यय रहता है, वहाँ अप्रक्रम दोष होता है। यदि विचित्रता लाने के उद्देश्य से यह किया जाता तो वहाँ यह क्रम-विपर्यय रूप अपक्रम गुण बन जाता हैं।[4]

६—खिन्न—जहाँ रीति का निर्वाह नहीं होता, वहाँ खिन्न दोष माना जाता हैं। किन्तु रीति का निर्वाह न होने की दशा में भी काव्य की कान्ति मलिन नहीं होती, तो यह दोष वहाँ नहीं होता।[5]

७—अत्युक्ति या अतिमात्र—जहाँ लौकिक अर्थ का अतिक्रमण करके अलौकिक वर्णन की रीति अपनायी जाती है, वहाँ अत्युक्ति या अतिमात्र दोष होता है। किन्तु गौडमार्गी कवियों की रुचि अत्युक्तिपूर्ण वर्णन में अधिक

---

१. तदप्रयोजनं यच्च गतार्थमर्थमेव तत्।
तस्यापि क्वापि निर्दोषः प्रयोगो दृश्यते यथा ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१३७

२. अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते।
तदेकार्थं रसाक्षिप्तचेतसां तन्न दुष्यति ॥—वही, १.१३८

३. संशयायैव सन्दिग्धं यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥—वही, १.१३९

४. वाक्ये प्रबन्धे चार्थानां पौर्वापर्यविपर्ययः।
दोषः सोपक्रमो नाम चित्रहेतौ न दुष्यति ॥—वही, १.१४०

५. यस्मिन् रीतेरनिर्वाहः खिन्नं तदभिधीयते।
न दोषस्तस्य तु क्वापि यत्रच्छाया न हीयते ॥—वही, १.१४१

होती है। अतः गौडमार्ग में यह दोष न होकर गुण होता है[1]

८—परुष—निष्ठुर अर्थ वाला परुष दोष अत्यन्त गर्हित होता है किन्तु वह भी विरुद्धलक्षणा आदि में प्रयुक्त होने पर दोष नहीं माना जाता।[2]

९—विरस—विरस दोष वहाँ होता है, जहाँ अप्रासंगिक रस का वर्णन हो। किन्तु ऐसे स्थलों में, जहाँ रस या वस्तु की प्रधानता अभीष्ट हो, वहाँ विरस दोष न रहकर गुण हो जाता है।[3]

१०-११—अधिकोपम एवं हीनोपम—इन दोनों वैशेषिक गुणों का स्वरूप पीछे वाक्यगत वैशेषिक गुणों में देखा जा चुका है। भोज ने इन दोनों के वाक्यार्थगत रूप में भी गुणत्व को स्वीकार किया है।[4]

१२—असदृशोपम—उपमान से उपमेय की विषमता होने पर यह दोष होता है। किन्तु व्यतिरेकोपमा में यह गुण बन जाता है।[5]

१३—अप्रसिद्धोपम—जहाँ (उपमा अलंकार में) लोकप्रसिद्ध उपमान की योजना न हो वहाँ यह दोष होता है। भोजराज ने किन्हीं स्थितियों में इसका भी गुणत्व माना है।[6]

१४—निरलंकार—अलंकाररहित या उक्तिवैचित्र्य हीन वाक्यार्थ में निरलंकार दोष माना जाता है। किन्तु अर्थ में उत्कर्ष रहने पर, वह अलंकार-हीनता भी दोष न रहकर गुण हो जाती है।[7]

---

१. लौकिकार्थमतिक्रम्य प्रस्थानं यत्प्रवर्तते।
तदत्युक्तिरिति प्रोक्तं गौडानां मनसो मुदे॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१४४

२. परुषं निष्ठुरार्थं तु यदतीव विगर्हितम्।
विरुद्धलक्षणाद्यासु तदुक्तिषु न दुष्यति॥—वही, १.१४५

३. अप्रस्तुतरसं प्राहुर्विरसं वस्तु सूरयः।
अप्राधान्ये तदेष्टव्यं शिष्टैः स्याद्रसवस्तुनोः॥—वही, १.१४६

४. वही. १४७-१४८

५. उपमानेन वैषम्यादभवेदसदृशोपमम्।
तस्याभ्यनुज्ञामिच्छन्ति व्यतिरेकोपमादिषु॥—वही, १.१४९

६. यस्योपमानं लोकेषु न प्रसिद्धं तदिष्यते।
अप्रसिद्धोपमं नाम तत् क्वचिन्नैव दुष्यति॥—वही, १.१५०

७. निरलंकारमित्याहुरलंकारोज्झितं वचः।
अर्थौर्जित्येषु तस्यापि क्वचिन्निर्दोषता मता॥—वही, १.१५१

१५—अश्लील—यह भी अनित्य दोष है । कहीं-कहीं यह भी गुणत्व को प्राप्त कर लेता है ।[1]

१६–२४—विरुद्धत्व—इस दोष के नौ प्रकार हैं और ये सभी स्थिति-विशेष में कवि कौशल से गुणत्व को प्राप्त करते हैं[2]—

(क) प्रत्यक्ष विरोध—देश विरोध, काल विरोध और लोकविरोध—ये तीन इसके भेद हैं ।

(ख) हेतुविद्याविरोध—युक्तिविरोध, औचित्यविरोध तथा प्रतिज्ञा-विरोध ।

(ग) आगमविरोध—धर्मशास्त्रविरोध, अर्थशास्त्रविरोध और कामशास्त्र विरोध ।

दण्डी ने भी इन सभी विरुद्ध दोषों का स्थिति-विशेष में गुणत्व स्वीकार किया था । भोजराज ने अक्षरशः दण्डी की ही धारणा को ग्रहण कर लिया है ।

भोज द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त वैशेषिक गुणों के स्वरूप का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त सभी वैशेषिक गुण वस्तुतः गुण माने जा सकते हैं । कुछ दोष तो मार्गान्तर या स्थितिविशेष में गुण अवश्य हो जाते हैं किन्तु सभी नहीं । किन्हीं कारणों वश वे कहीं-कहीं अदोष मात्र होते हैं । ऐसी स्थिति में हम उन्हें न तो दोष कह सकते हैं न गुण । भोजराज कृत कारिकाओं को देखने से यह साफ पता चलता है कि वे भी अनेक दोषों के गुणत्व का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं करते और न ही कोई उदाहरण देते हैं । हाँ, उन दोषों की अदोषता का प्रतिपादन कर वैशेषिक गुणों में उनका परिगणन अवश्य कर दिया है । इस विषय में प्रतिपादन के विस्तार को देखने से भोजराज की यह प्रवृत्ति (भावना) स्पष्ट ज्ञात होती है कि किसी भी प्रकार 'मौका चूकने' की सम्भावना न रह जाय ।

भोजराज ने मुख्य रूप से स्वीकृत पूर्वोक्त चौबीस गुणों को पुनः कई प्रकार से वर्गीकृत किया है । प्रथमतः मुख्यतया और अमुख्यतया को आधार बनाकर

---

१. असभ्यार्थं यदश्लीलं तदर्थान्तरवाचि वा ।
तस्येह दृश्यते भूम्ना प्रयोगो नाभिदुष्यति ।।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १.१५२

२. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ।।—वही, १.१५६ तथा
काव्यादर्श, ३.१७९

उनके दो वर्ग 'सोल्लेख' और 'निरुल्लेख' किये गये हैं। तत्पश्चात् उनके तीन अन्य वर्गों का उल्लेख किया गया है—प्रथम शब्दार्थगत और द्वितीय तथा तृतीय रसगत। रसारम्भक और रसभाव आरब्ध—ये दो भेद रसगत गुणों के हैं।

पद, वाक्य और वाक्यार्थ के गुणों का विचार करने के साथ ही भोजराज ने प्रबन्धगत गुणों के सम्बन्ध में भी विचार किया है। इससे उनकी गुण सम्बन्धी विस्तृत धारणा का सहज ही अनुमान होता है। उनके प्रबन्धगत गुणों के तीन वर्ग हैं—शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थोभयगत। इन तीनों वर्गों में कुल मिलाकर चौदह प्रबन्धगुण हैं।

शब्दगत प्रबन्ध-गुण के चार भेद हैं—संक्षिप्तग्रन्थत्व, अविषमबन्धत्व, अनतिविस्तीर्णसर्गादित्व और श्लिष्टसन्धित्व।

अर्थगत प्रबन्ध-गुण के पाँच भेद हैं—चतुर्वर्गफलायत्तत्व, चतुरोदात्तनायकत्व, रसभावनिरन्तरत्व, विधिनिषेधव्युत्पादकत्व और सदलंकारवाक्यत्व।

शब्दार्थोभयगत प्रबन्ध-गुण भी पाँच हैं—रसानुरूपसन्दर्भत्व, पात्रानुरूपभाषात्व, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्व, समस्तलोकरञ्जकत्व और सदलंकारवाक्यत्व।[1]

उपर्युक्त प्रबन्ध-गुणों की कल्पना भोजराज ने स्वतंत्र रूप से सर्वप्रथम की। पूर्ववर्ती आचार्यों ने महाकाव्य के अंग के रूप में जिन तत्त्वों का उल्लेख किया था, वे सब भोजराज द्वारा गुण के रूप में गृहीत हो गए। इसके अतिरिक्त भी कुछ नवीन गुण भोज द्वारा कल्पित हुए। शब्दार्थोभयगत प्रबन्धगुणों के विषय में भोजराज ने अपना मत व्यक्त किया है कि इनकी सत्ता से महाकाव्य रस से वियुक्त नहीं होते।[2]

---

१. तत्र महाकाव्यादौ यथासम्भवं संक्षिप्तग्रन्थत्वम्, अविषमत्वम् (श्रव्यवृत्तत्वम्) अनतिविस्तीर्णसर्गादित्वम् श्लिष्टसन्धित्वं चेति शब्दगुणाः। चतुर्वर्गफलायत्तत्वम्, चतुरोदात्तनायकत्वम्, रसभावनिरन्तरत्वम्, विधिनिषेधव्युत्पादकत्वम्, सुसूत्रसंविधानकत्वमित्यर्थगुणाः। रसानुरूपसन्दर्भत्वम्, पात्रानुरूपभाषत्वम्, अथानुरूपच्छन्दस्त्वम् समस्तलोकरंजकत्वम्, सदलंकारवाक्यत्वमित्युभयगुणाः।—शृंगारप्रकाश (डॉ० वी० राघवन : भोज का शृंगारप्रकाश, पृ० ३२१)

२. तेऽमी शब्दार्थोभयगुणाः महाकाव्येषु रसावियोगहेतवो भवन्ति।

—शृंगारप्रकाश (डॉ० वी० राघवन : भोज का शृंगारप्रकाश, पृ० ३२१)

अग्निपुराण—

अग्निपुराणकार ने गुण को परिभाषित किया है। उसकी गुण सम्बन्धी धारणा स्वतन्त्र ही है। अग्निपुराण के अनुसार जिस (धर्म) से काव्य में प्रचुर कान्ति आती है, वह गुण है।[३] वह गुण सामान्य और वैशेषिक, दो प्रकार का होता है।[४] सामान्य गुणों के तीन वर्ग किए गए हैं—शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थोभयगत। काव्यदोष, जो स्थितिविशेष में काव्य के शोभाकारक बन कर गुणत्व को प्राप्त कर लेते हैं, वैशेषिक गुण कहे गए हैं। गुणों के विभाजन और स्वरूप निर्धारण में हम अग्निपुराणकार और भोजराज की धारणाओं में पर्याप्त समानता पाते हैं। कहीं-कहीं लक्षण और उदाहरण ज्यों के त्यों दोनों के ही मिलते हैं।

सामान्य-गुण-धारणा के अन्तर्गत अग्निपुराण में काव्य-गुणों का स्वरूप भावात्मक है। सामान्य गुण के तीनों वर्गों में कुल मिलाकर उन्नीस काव्य-गुणों के भेद वर्णित हैं। यहाँ उनके स्वरूप का परीक्षण किया जा रहा है—

शब्दगत सामान्य गुण—इनकी संख्या सात है,[१] जो क्रमशः अधोलिखित हैं—

१—श्लेष—काव्य में शब्दों का सुश्लिष्ट सन्निवेश श्लेष गुण माना जाता है।[२]

२—लालित्य—अग्निपुराण की लालित्य गुण धारणा का सम्बन्ध व्याकरण से भी है। वहाँ लालित्य गुण के लक्षण में कहा गया है कि जहाँ 'गुण' और 'आदेश' के द्वारा सभी अक्षर, पदों से सुसम्बद्ध रहें और जहाँ सन्धि न की जाय, वहाँ लालित्यगुण होता है।[३] व्याकरण में 'गुण' का अर्थ—'अ', 'ए' और 'ओ' स्वर है।[४] इसी प्रकार 'आदेश' का अर्थ

३-४.—यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।
सम्भवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा ॥—अग्निपुराण, ३४६.३

१. श्लेषो लालित्यगाम्भीर्यसौकुमार्यमुदारता।
सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ॥—वही, ३४६.५

२. सुश्लिष्टं सन्निवेशत्वं शब्दानां श्लेष उच्यते।—वही, ३४६.६

३. गुणादेशादिनापूर्वं पदसम्बन्धमक्षरम्।
यत्र सन्धीयते नैव तल्लालित्यमुदाहृतम् ॥—वही, ३४६.७

४. अदेङ् गुणः।—अष्टाध्यायी १.१.२

है--एक शब्दरूप का दूसरे शब्दरूप में विधान। इस प्रकार लालित्य गुण और आदेश द्वारा अक्षरों के सुस्पष्ट रहने पर जोर दिया गया है। यही आशय संधिहीनता का भी है। अतः अग्निपुराण का 'लालित्य', 'स्फुटाक्षरत्व' कहा जा सकता है। अग्निपुराण की यह गुणधारणा, भोजराज के पृथक्पदत्व माधुर्य के समीप है, जिसे उन्होंने शब्दगुण माना है। अग्निपुराणकार ने पदमाधुर्य का उल्लेख नहीं किया है और न ही भोज ने पद लालित्य का। इन दोनों गुणों में समानता होने के कारण ही सम्भवतः दोनों आचार्यों ने इनमें से किसी एक ही गुण का स्वरूप प्रतिपादन उचित समझा। चूँकि एक ने माधुर्य का विवेचन किया था अतः दूसरे ने लालित्य का स्वरूप प्रतिपादित कर दिया।

३--गाम्भीर्य--जहाँ विशिष्ट लक्षण के अनुरूप पद का उल्लेख हो और उत्तानपदता हो; वहाँ गाम्भीर्य गुण होता है। इसे ही कुछ आचार्य शब्दता (सुशब्दता)कहते हैं।[1] श्लोक में आए हुए 'विशिष्टलक्षणोल्लेख्य' का अर्थ 'शब्दशास्त्रसम्मतप्रदप्रयोग' है। भोजराज ने इसे ही 'सुपतिङ्व्युत्पत्ति' मानते हुए 'सुशब्दता' गुण कहा है। 'उत्तानशब्दकम्' का अर्थ है--उच्च-भावव्यञ्जक तथा विशिष्ट आडम्बर वाले पद। इस प्रकार भोजराज का सुशब्दता गुण अग्निपुराण का गाम्भीर्य गुण ही प्रतीत होता है।

४--सौकुमार्य--सुकुमारता गुण वह है जहाँ प्रायः अनिष्ठुराक्षरों से बने शब्द प्रयुक्त किये जाँय।[2] अग्निपुराण की यह गुणधारणा दण्डी और भोज दोनों की सुकुमारता गुणधारणा के समान ही है।

५-उदारता—अग्निपुराण के अनुसार, उत्तानपदता और श्लाघ्य विशेषणों का योग औदार्य गुण है।[3] इसके पूर्व आचार्य दण्डी ने संकेत किया था कि कुछ लोग श्लाघ्य विशेषण को उदारता गुण मानते हैं। इसी आधार पर भोज ने अपने उदात्त गुण की कल्पना कर ली थी। अग्निपुराणकार ने दण्डी की धारणा में श्लाघ्य विशेषण के साथ ही उत्तानपदता को जोड़कर अपने औदार्य गुण की धारणा को विकसित किया।

---

१. विशिष्टलक्षणोल्लेख्य-लेख्यमुत्तानशब्दकम्।
गाम्भीर्यं कथयन्त्यार्यास्तदेवान्ये सुशब्दताम्॥—अग्निपुराण, ३४६.७

२. अनिष्ठुराक्षरप्रायशब्दता सुकुमारता॥—वही, ३४६.८

३. उत्तानपदतौदार्यं युतं श्लाघ्यैर्विशेषणैः।—वही, ३४६.९

६--७--(सत्या एवं यौगिक) = ओज----अग्निपुराणकार ने शब्दगुणों में ओज का परिगणन ही नहीं किया है किन्तु लक्षण क्रम में ओज का ही लक्षण दिया गया है, जबकि मूलतः परिगणित दो शब्दगुण सत्या और यौगिकी एकदम गायब हैं। यद्यपि 'सत्यैव यौगिकी' पाठ के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं और ये दोनों गुणसंज्ञायें भी गुण परम्परा में अपूर्व ही हैं, तथापि आश्चर्य है कि अग्निपुराणकार ने गणनाक्रम में इन दोनों का उल्लेख करके भी लक्षणक्रम में इन्हें सर्वथा विस्मृत कर दिया और इन दोनों के स्थान पर अनुल्लिखित 'ओज' गुण का लक्षण दिया। तथ्य जो कुछ भी हो, अग्निपुराण के वर्तमान संस्करणों में यथोपलब्ध सामग्री के अनुसार यहाँ हम उस के द्वारा प्रस्तुत ओजो-गुण के लक्षण पर ही विचार करेंगे।

अग्निपुराण के अनुसार, ओज, 'समासभूयस्त्व' है और वह पद्यादि का प्राण है।[1] एकदम यही परिभाषा आचार्य दण्डी की भी है, जिसे भोजराज ने भी अपनाया था। किन्तु दण्डी और अग्निपुराणकार की परिभाषा में एक मौलिक अन्तर यह है कि दण्डी ने इसे 'गद्य-जीवित' कहा था और केवल गौड मार्ग में पद्य में उसे वांछनीय माना था किन्तु अग्निपुराण ने उसे सर्वत्र पद्यादि का प्राण घोषित कर दिया।

अर्थगत सामान्य गुण--अग्निपुराण में निरूपित अर्थगत सामान्य गुणों की संख्या छः है।[2] यहाँ उनके स्वरूप के सम्बध में क्रमशः विचार किया जा रहा है।

१—माधुर्य—क्रोध, ईर्ष्या आदि की दशा में भी आकृति की गम्भीरता से व्यक्त धैर्यशीलता को माधुर्य गुण कहा गया है।[3] भोजराज ने भी क्रोधादि की अवस्था में व्यवहार की अतीव्रता को अर्थगत माधुर्य माना था। अग्निपुराण का अर्थगत माधुर्य भी व्यक्ति के धैर्य का गुण है।

२—संविधान—अपेक्षित अर्थ की सिद्धि में जो सहकारी हो, उसे संविधान नामक अर्थगत गुण कहा गया है।[4] यह एक नवीन गुण है।

---

१. ओजः समासभूयस्त्वमेतत्पद्यादिजीवितम्।----अग्निपुराण ३४६.१०

२. माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदा षट् चकासति। -वही, ३४६.१२

३. क्रोधेर्ष्याकारगाम्भीर्यं धैर्यगाहिता।—अग्निपुराण, ३४६.१३

४. संविधानपरिकरः स्यादपेक्षितसिद्धये।—वही, ३४६.१३

भोजराज ने अपने प्रबन्धगत गुणों के अन्तर्गत संविधानसुसूत्रता नामक एक गुण का उल्लेख अवश्य किया था। भोजराज की अर्थश्लेष की धारणा भी कुछ ऐसी ही है। नामकरण की दृष्टि से समानता होते हुए भी अग्निपुराण की तथा भोज की गुणधारणाओं के विषय और स्वरूप में अन्तर है।

३—कोमलत्व—अग्निपुराण के अनुसार, कोमलत्व नामक अर्थगत गुण वहाँ माना जाता है, जहाँ काठिन्यादि से निर्मुक्त तथा सायास शब्द के सन्निवेश का त्यागकर मृदुता का निर्वाह हो।[1] अग्निपुराण की यह धारणा (गुणधारणा) कुछ अंशों में भोज के अर्थसौकुमार्यगुणधारणा से मेल खाती है।

४—उदारत्व—जहाँ स्थूल लक्ष्य प्रकट करने की प्रवृत्ति लक्षित हो, वहाँ गुण की उदारता स्पष्ट ही है। इसमें आशय का सौष्ठव स्पष्ट रूप से रहता है।[2]

५—प्रौढ़ि—कवि के अभीष्ट अर्थ को पुष्ट करना ही प्रौढ़ि गुण है। अग्निपुराण के अनुसार, जहाँ अभिप्राय के निर्वाह को सम्पन्न करने वाली प्रौढ़ और हेतुगर्भित युक्तियाँ रहती हैं, वहाँ प्रौढ़ि गुण माना जाता है।[3] भोजराज ने भी अर्थगत प्रौढ़ि गुण को विवक्षित अर्थ का निर्वाह कहा है। इस प्रकार इनकी गुणधारणा के ही समान अग्निपुराण की भी गुणधारणा है।

६—सामयिकत्व—अग्निपुराण की यह नवीन गुण धारण है। भोज ने भी इस नाम का कोई गुण कल्पित नहीं किया था। कवि द्वारा शब्द की किसी व्युत्पत्ति की व्यञ्जना कराना ही सामयिकत्व गुण है। अग्निपुराण में इसका लक्षण करते हुए कहा गया है कि जहाँ स्वतंत्र या परतन्त्र रूप से अर्थ को बाह्य या आन्तरिक योग से व्युत्पन्न किया जाता है, वहाँ सामयिकत्व होता है।[4]

---

१. यत्काठिन्यादिनिर्मुक्तः सन्निवेशविशिष्टता।
तिरस्कृत्यैव मृदुता भाति कोमलतेति सा॥—अग्निपुराण, ३४६.१४

२. लक्ष्यते स्थूललक्ष्यत्वप्रवृत्तयेर्यत्र लक्षणम्।
गुणस्य तदुदारत्वमाशयस्यातिसौष्ठवम्॥—वही, ३४६.१५

३. अभिप्रेतं प्रति यतो निर्वाहस्योपपादिकाः।
युक्तयो हेतुगर्भिण्यः प्रौढ़ाः प्रौढिरुदाहृता॥—वही, ३४६.१६

४. स्वतंत्रस्यान्यतन्त्रस्य बाह्यान्तः समयोगतः।
तत्र व्युत्पत्तिरर्थस्य या सामयिकेति सा॥—वही, ३४६.१७

शब्दार्थोभयगत सामान्य गुण—

अग्निपुराण में शब्दार्थोभयगत ६ सामान्य गुण प्रदर्शित किए गए हैं।[1]

१—प्रसाद—प्राचीन आचार्यों के समान ही, प्रसिद्धार्थक पदविन्यास को प्रसाद गुण माना गया है।[2]

२—सौभाग्य—अग्निपुराणकार ने सौभाग्य को उदारत्व का पर्याय मानकर दण्डी द्वारा उदारत्व के दिये गये लक्षण को ही सौभाग्य गुण की परिभाषा में उद्धृत कर लिया है। जिस कथन से कोई उत्कर्षवान् गुण प्रतीत हो, वही उदारत्व गुण है। अग्निपुराण इसे ही सौभाग्य का लक्षण मानता है।[3]

३—यथासंख्य—अग्निपुराण से पूर्व आचार्यों ने यथासंख्य को अलंकार ही माना था। सर्वप्रथम अग्निपुराण में इसे गुण रूप में ग्रहण किया गया। आचार्य दण्डी द्वारा अलंकार (यथासंख्य) के लक्षण[4] में प्रयुक्त 'अनुद्देश्य' पद को अग्निपुराणकार ने लेकर यथासंख्य गुण की परिभाषा की है। तदनुसार जहाँ अनुद्देश्य से सामान्य का अन्यत्र आरोपण होता है, वहां यथासंख्य गुण माना जाता है।[5] अनुद्देश्य का अर्थ है—अन्वित कथन।

यथासंख्य अलंकार में पूर्वकथित बातों का उसी क्रम में कही जाने वाली बातों से अन्वय होता है। इसे दण्डी ने उद्दिष्ट पदार्थों का यथाक्रम अनुद्देश्य कहा था।

४—प्रशस्तता—जहाँ दारुण अर्थ का वर्णन अदारुण शब्दों से किया जाय वहां प्रशस्तता गुण होता है।[6] वामन का सौकुमार्य अर्थगुण और भोज का

---

१. तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्तता ।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट्प्रपंचविपश्चिताः ॥—अग्निपुराण, ३४६.१९

२. सुप्रसिद्धार्थपदता प्रसाद इति गीयते ॥—वही, ३४६.२०

३. उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥—वही, ३४६

४. उद्दिष्टानां पदार्थानामनुद्देशो यथाक्रमम् ।
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानां क्रम इत्यपि ॥—काव्यादर्श, २.२७३

५. यथासंख्यमनुद्देशः सामान्यमतिदिश्यते ।—अग्निपुराण, ३४६

६. समये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः ।
अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनम् ॥—वही, ३४६

सुशब्दता नामक गुण भी स्वरूपतः प्रशस्तता गुण ही है। इस प्रकार अग्निपुराणकार ने एक प्राचीन गुणधारणा को नवीन संज्ञा से अभिहित किया है।

५—पाक—किसी भी प्रकार की उच्च परिणति को पाक कहा गया है। अग्निपुराण में इसका लक्षण करके इसके चार भेद बताये गए हैं।[1] यह पाक गुण संज्ञा अग्निपुराण की एक नवीन उद्‌भावना है जो भोजराज की प्रौढ़ि गुण की परिभाषा में बीज रूप में प्राप्त होती है। वहाँ व्याख्या करते हुए वृत्तिभाग में भोज ने कहा है कि नालिकेरी पाक, मृद्वीकापाक आदि वाक्य-परिपाक ही प्रौढ़ि है। अतः अग्निपुराण का पाकगुण और भोज का प्रौढ़ि गुण स्वरूपतः एक ही हैं।

६—राग—अग्निपुराण में परिगणित उभयगत गुण राग सर्वथा एक नवीन गुण है। इसका लक्षण करते हुए कहा गया है कि जो गुण काव्य-परम्परा में विशेष रूप से आता है, उसे राग कहा जाता है। अभ्यास से उत्पन्न यह राग सहज कान्ति में भी स्थित रहता है।[2] हारिद्र राग, कौसुम्भराग और नीलीराग, ये तीन, राग के भेद हैं। भोजराज ही क्या किसी भी आचार्य ने राग-गुण का उल्लेख नहीं किया है।

अग्निपुराण में वर्णित उपयुंक्त उन्नीस सामान्य गुणों के विवेचन से कतिपय बातें सामने आती हैं। अग्निपुराणकार ने अपने पूर्ववर्ती परम्परागत गुण संज्ञाओं में से कतिपय संज्ञायें स्वीकार करते हुए भी उनके स्वरूप के सम्बन्ध में उनका अनुसरण नहीं किया है। वामनादि के दस गुणों में से नाम को ग्रहण करके लक्षण में भेद कर दिया है। उन्होंने अन्य आचार्यों द्वारा वर्णित किन्हीं अलंकारों को भी गुण रूप में परिवर्तित कर लिया है और कुछ गुणों की कल्पना सर्वथा स्वतन्त्र रूप से की है। अग्निपुराण का गुणों का वर्गीकरण लीक से हटकर हुआ है। इन्होंने भावात्मक सामान्य गुणों को शब्दगत और अर्थगत रूप से परिकल्पित किया है किन्तु अग्निपुराण का वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक है। उन्होंने गुणों के तीनों वर्गों को ही स्वतन्त्र रूप से कल्पित किया है। जो गुण शब्दाश्रित हैं, उनसे अतिरिक्त गुण अर्थाश्रित हैं और इन दोनों से ही

१. उच्चैः परिणतिः क्वापि पाक इत्यभिधीयते।
मृद्वीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुर्विधः ॥—अग्निपुराण, ३४६

२. काव्येच्छया विशेषो यः स राग इति गीयते।
अभ्यासोपहितः कान्तिः सहजामपि वर्तते ॥—अग्निपुराण, ३४६

अतिरिक्त गुण शब्दार्थोभयाश्रित हैं। भरत और दण्डी की गुणधारणा में यद्यपि ऐसा स्पष्ट वर्गीकरण तो नहीं मिलता किन्तु गुणों के लक्षण में उनकी प्रकृति की प्रवृत्तियों का अनुशीलन करने से यह जान पड़ता है कि कुछ गुण केवल अर्थगत और कुछ उभयगत हैं। सम्भवतः यही बीज अंकुरित होकर अग्निपुराण में व्यक्त हुआ हो।

यद्यपि गुणों के नाम और लक्षण में, अग्निपुराणकार और भोजराज में पर्याप्त समानता दिखाई देती है, तथापि यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन किससे प्रभावित है। भोजराज का समय निश्चित है किन्तु अग्निपुराण के समय के विषय में मतभेद होने से हीं ऐसी द्विविधा की स्थिति उत्पन्न हुई है। अतः कौन उत्तमर्ण है और कौन अधमर्ण, इस विवाद में न पड़कर हम यही कहना चाहेंगे कि बहुलतया दोनों के विचार समान हैं। फिर भी अग्निपुराण की धारणा संक्षिप्त है और वहीं भोजराज की गुणधारणा अत्यन्त व्यापक है।

वैशेषिक गुण

अग्निपुराण में काव्यदोषों का वर्णन के बाद कुछ स्थितियों में कतिपय काव्यदोषों की अदोषता दिखाई गई है। उन स्थितियों में ऐसे अदोषत्व में गुणत्व की कल्पना करके उन्हें ही काव्य का वैशेषिक गुण कहा जा सकता है।

तर्कशास्त्र में वर्णित कुछ दोष काव्य में आकर दोष नहीं रह जाते। क्योंकि वे श्रोताओं या पाठकों को मनस्ताप नहीं उत्पन्न करते। ये दोष हैं—असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनेकान्तिकता, सत्प्रतिपक्षत्व, कलातीतसंकर, पक्ष और सपक्ष नास्तित्व तथा विपक्ष-अस्तित्व।[1] काव्य में तर्क की अपेक्षा भावना की प्रधानता होने के कारण उपर्युक्त तर्कदोष काव्य-दोष नहीं माने जाते। किन्तु इस अदोषत्व को वैशेषिक गुणत्व की कोटि में रखना उचित नहीं है। चूंकि वे काव्यगत दोष हैं ही नहीं, अतः उनके वैशेषिक गुण होने का प्रश्न ही नहीं

१. असिद्धत्वं विरुद्धत्वमनैकान्तिकता तथा।
एवं सत्प्रतिपक्षत्वं कालातीतत्वसंकरः॥
पक्षे सपक्षे नास्तित्वं विपक्षेऽस्तित्वमेव तत्।
काव्येषु परिषद्यानां न भवेदप्यरुन्तुदम्॥
—अग्निपुराण, ३४७

उठता। क्योंकि वैशेषिक गुण तो उन्हें ही माना जाता है जो काव्य दोष हों और स्थिति विशेष में जिनका शोभाधायकत्त्व प्रमाणित होता हो।

अग्निपुराण में वर्णित अन्य दोष-गुण इस प्रकार हैं—

१—निरर्थत्व—दुष्कर आदि में निरर्थत्व, दोष नहीं रहता। दुष्कर का अर्थ है समास आदि कठिल स्थल। निरर्थत्व के ग्यारह भेद माने गए हैं[1]।

२—गूढार्थत्व—दुष्कर आदि में गूढार्थत्व भी दोष नहीं माना जाता क्योंकि वहाँ वह क्लेशजनक नहीं होता।[2]

३—ग्राम्यत्व—शास्त्र एवं लोक में विश्रुत ग्राम्यता उद्वेगकारिणी न होने से दोष नहीं मानी जाती।[3]

४—क्रियाहीनत्व—जिस वाक्य में क्रिया का अध्याहार हो जाता है, वहाँ क्रियाहीनता को दोष नहीं मानते।[4]

५—भ्रष्टकारकत्व—जहाँ आक्षेप से कारक का अध्याहार हो जाय, वहाँ भ्रष्टकारकता के दोषत्व का परिहार हो जाता है[5]

६—विसन्धित्व—दुर्वच प्रयोग में पाठ-काठिन्य के कारण विसन्धित्व को दोष नहीं माना जाता।[6] इसे व्यस्तसन्धिता भी कहते हैं और अनुप्रास में यह दोष नहीं माना जाता क्योंकि वहाँ वर्ण या पद की आवृत्ति अपेक्षित होती है।[7]

७—व्युत्क्रमत्व—अर्थसंग्रहण में व्युत्क्रमत्व को दोष नहीं माना जाता।[8]

---

१. एकादश निरर्थत्वं दुष्करादौ न दुष्यति।—अग्निपुराण, ३४७
२. दुःखाकरोति दोषज्ञान् गूढार्थत्वं न दुष्करे।—वही, ३४७
३. न ग्राम्यतोद्वेगकारी प्रसिद्धेर्लोकशास्त्रयोः —वही, ३४७
४. क्रियाभ्रंशे न लक्ष्मास्ति क्रियाध्याहारयोगतः।—वही, ३४७
५. भ्रष्टकारकताक्षेपबलाध्याहृतकारके।—वही, ३४७
६. कष्टनाशाद्विसन्धित्वं दुर्वचादौ न दुर्भगम्।—वही, ३४७
७. अनुप्रासे पदावृत्तिर्व्यस्तसम्बन्धिता शुभा।—वही, ३४७
८. नार्थसंग्रहणे दोषो व्युत्क्रमाद्यैर्न लिप्यते।—अग्निपुराण ३४७

८—उपमादोष—यदि उपमेय और उपमान भिन्न लिंग वाले हों, तो वहाँ विभक्ति, वचन और लिंगगत उपमादोष नहीं रह जाते।[1]

९—पुनरुक्ति या अत्युक्ति—एक ही व्यक्ति बात को अनेक बार कहे तो उसे दोष नहीं माना जाता।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोष-गुणों का प्रतिपादन करने में भी अग्नि-पुराणकार ने भोजराज से पर्याप्त समानता दिखाई है। यहाँ भी विचार करने की बात वही है कि उपर्युक्त दोषों की अदोषता तो मानी जा सकती है किन्तु उनका गुणत्व कैसे हुआ, इस पक्ष में तर्क अथवा प्रमाण नहीं प्रस्तुत किये गये।

जयदेव

जयदेव ने अपने काव्यशास्त्र के ग्रन्थ चन्द्रालोक के चतुर्थ मयूख में काव्य-गुणों का विवेचन किया है। उन्होंने भरत आदि आचार्यों के दस गुणों को ही अपनाया है किन्तु लक्षण केवल आठ गुणों का ही किया है। कान्ति और अर्थव्यक्ति गुणों को क्रमशः शृंगार तथा प्रसाद गुण में अन्तर्भूत करके उन्होंने केवल गुणों की ही स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार किया है।[3]

जयदेव की गुणधारणा, दो प्रकार की विचारधाराओं का समन्वय है। वे प्राचीन शब्दार्थाश्रित गुण मानने वाले आचार्यों तथा रसाश्रित गुण मानने वाले ध्वनिवादी आचार्यों के मध्यवर्ती हैं। उन्होंने गुणों की संख्या और उनके स्वरूप का विवेचन तो पारस्परिक वामनादि की मान्यताओं के आधार पर किया है किन्तु गुण (सामान्य) के विषय में उनकी जो धारणा, है, वह ध्वनिवादी आचार्यों की गुणधारणा से प्रभावित है। यद्यपि वे स्पष्ट रूप से गुण को रसाश्रित नहीं मानते किन्तु गुणों को शौर्य की तरह आत्मा का धर्म स्वीकार किया है।[4]

उन्होंने जिन आठ गुणों की स्वतन्त्र सत्ता प्रतिपादित कर उनके स्वरूप का प्रतिपादन किया है, यहाँ उन गुणों के सम्बन्ध में पर्यालोचन किया जा रहा है।

---

१. विभक्तिसंज्ञालिंगानां यत्रोद्वेगो त धीमताम्।
संख्यायास्तत्र भिन्नत्वमुपमानोपमेययोः॥—अग्निपुराण, ३४७

२. अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिः शुभा।—वही, ३४७

३. शृंगारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसंग्रहः।—चन्द्रालोक, ४.१०

४. अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा।—चन्द्रालोक, ४.१०

१—श्लेष—जयदेव ने श्लेष को दो प्रकार का माना है—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। इनकी परिभाषायें भी अलग-अलग दी हैं। जहाँ किसी असम्भव अर्थ को युक्ति द्वारा सम्भव बनाया जाय, वहाँ अर्थश्लेष होता है।[1] यह धारणा, वामन की अर्थश्लेष—'घटना'-की धारणा से साम्य रखती है। जहाँ सन्धि के कारण अथवा सजातीय पदों के प्रयोग के कारण अनेक पद एक पद की तरह प्रतीत हों, वहाँ शब्दश्लेष होता है।[2]

२—प्रसाद—जिस प्रकार स्वच्छजल में पड़ी हुई वस्तु स्वयं ही बाहर से स्पष्ट दिखाई देती है, उसी प्रकार जहाँ काव्य में प्रतिपादित अर्थ अनायास अवभासित हो जाय, वहाँ प्रसाद गुण होता है।[3] जयदेव ने प्रसाद की परम्परागत गुणधारणा, 'झटित्यर्थप्रतीति' को ही प्रकारान्तर से व्यक्त किया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जयदेव ने 'अर्थव्यक्ति' को भी प्रसाद के अन्तर्गत ही माना है।

३—समता—जयदेव ने समता गुण की दो परिभाषाएं दी हैं। पहली परिभाषा के अनुसार समता, 'अल्पसमासत्व' है।[4] अर्थात् जहाँ समास कम हों अथवा छोटे-छोटे समास हों, वहाँ समता नामक गुण होता है। दूसरी परिभाषा के अनुसार, जहाँ वर्ण आदि की तुल्यता हो, वहाँ समता गुण होता है।[5]

यहाँ जयदेव कृत समता गुण का प्रथमलक्षण पाञ्चाली रीति से अथवा भरत के प्रसाद गुण से मिलता है और द्वितीय लक्षण अनुप्रास अलंकार से समानता रखता है।

४—समाधि—जयदेव का समाधि गुण, काव्य की रसमयता का गुण है। जिस चमत्कारी अर्थ के श्रवण से सहृदयों का हृदय रसाप्लुत हो जाय, उस अर्थ की महिमा (चमत्कार) को समाधि गुण कहते हैं।[6]

१–२. श्लेषो विघटमानार्थघटमानत्ववर्णनम्।
स तु शाब्दः सजातीयैः शब्दैर्बन्धः सुखावहः ॥—चन्द्रालोक, ४.१

३. यस्मादन्तः स्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते।
सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः ॥—वही, ४.३

४. समताल्पसमासत्वम्।—चन्द्रालोक, ४.४

५. वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथवा।—वही, ४.४

६. समाधिरर्थमहिमा लसद्घनरसात्मना।—वही, ४.५

५--माधुर्य--जयदेव ने माधुर्य गुण को परिभाषित करने के लिए जिन पदों का प्रयोग किया है[1] उनमें से एक पद 'पुनरुक्तस्य' की दो व्याख्याएँ सम्भव हैं। 'पुनरुक्तस्य' का विच्छेद करने पर 'पुनः+उक्तस्य'--इस प्रकार दो पद प्राप्त होते हैं। 'पुनः' को 'उक्तस्य' से अलग कर माधुर्य के पूर्व अन्वित करने पर पहली व्याख्या होगी--"काव्य में चारुता का आधान करने वाला उक्ति वैचित्र्य, माधुर्य गुण होता है। दूसरी व्याख्या "पुनरुक्तस्य" को एक पद मानने पर सम्भव होती है--'पुनरुक्त का रोचक वैचित्र्य माधुर्य गुण है।' उदाहरण भाग[2] को देखने से यह प्रतीत होता है कि दूसरी व्याख्या से परिभाषित जो माधुर्य गुण है, वही जयदेव को अभीष्ट है। भावमग्न अवस्था में एक शब्द की आवृत्ति भाव में सौन्दर्य का आधान करती है, अतएव वह गुण-कोटि में आ जाती है।

६—ओज—जयदेव ने ओज को अर्थगत और शब्दगत माना है। ऐसी सम्भावना उनकी दो परिभाषाओं से होती है। सर्वप्रथम उन्होंने अर्थ की प्रौढ़ि को ओज कहा है। साथ ही विकल्प से उसे अतिविस्तार का संक्षेप भी कहते हैं[3]। किसी कार्य के अनाधार को आधार बतला देना, यही प्रौढ़ि है। यही जयदेव का अभिमत अर्थगुण ओज है। इसी प्रकार लम्बी चौड़ी बात को संक्षेप में कह देने को वे शब्दगुण ओज मानते हैं।

७—सौकुमार्य—पर्याय परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न अपारुष्य ही सौकुमार्य है। जहाँ कहीं अमंगलजनक अश्लील पद को हटाकर, उसी अर्थ का बोधक अन्य पद रख दिया जाय, वहाँ सौकुमार्य गुण होता है[4]। ऐसी ही धारणा, वामन के अर्थसौकुमार्य की थी।

८—उदारता—चातुर्य से जो बात कही जाय (अर्थात् विदग्धोक्ति) उसे उदारता गुण कहते हैं। यह ग्राम्यता दोष का अभाव मात्र नहीं है[5]। जो बात चतुराई से नहीं कही जायेगी, वहाँ ग्राम्यता दोष होगा। अतः जहाँ

---

१. माधुर्यं पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम् ।---वही, ४.६

२. वयस्य पश्य पश्यास्याश्चञ्चलं लोचनाञ्चलम् ।---वही ४.६

३. ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य संक्षेपो वाऽतिभूयसः ।—चन्द्रालोक, ४.७

४. सौकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात् ।—वही, ४.८

५. उदारता तु वैदग्ध्यमग्राम्यत्वात् पृथङ्मता ।—वही ४.९

ग्राम्यता दोष का अभाव होगा, वहाँ उदारता गुण होना चाहिए। किन्तु ग्राम्यता दोष के अभाव में उदारता नहीं होती। जयदेव ने उदारता को अग्राम्यता से पृथक् माना है। वामन ने अग्राम्यता को ही उदारता कहा था और उसका स्वरूप अभावात्मक माना था किन्तु जयदेव ने उदारता को भावात्मक माना है। जयदेव की यह गुणधारणा, भरत के औदार्य गुणलक्षण के समीप है, जिसमें उन्होंने अनेकार्थ विशेष, सौष्ठव संयुक्त सूक्त पर बल दिया था।

विद्यानाथ

विद्यानाथ ने काव्यगुणों का विवेचन करते हुए प्रायः भोजराज का अनुसरण किया है। उन्होंने भोजराज के चौबीस गुणों का उल्लेख किया है।[1] किन्तु उनके वर्गीकरण को उन्होंने अस्वीकार किया है। वे गुणों को शब्दगत ही मानते हैं, अर्थगत नहीं। क्योंकि वे गुणों को संघटनाश्रित मानते हैं।[2] प्रतापरुद्रयशोभूषण (प्रतापरुद्रीय) के टीकाकार कुमारस्वामी ने कहा है कि कुछ गुणों की अर्थगतता दुर्घट होने से ही शब्दाश्रित गुणों की स्वीकृति उचित है।[3]

विद्यानाथ ने गुणों का लक्षण करने में भी भोजराज से पर्याप्त सहायता ली है। अधिकांश गुणों का लक्षण सरस्वतीकण्ठाभरण में से उद्धृत किया है। कुछ तो यथावत् हैं और कुछ में मात्र कुछ शब्दों को हेरफेर कर दिया है।

विद्यानाथ की गुणधारणा का पर्यालोचन करते हुए हम देखते हैं कि सभी चौबीस गुणों को उन्होंने भावात्मक नहीं माना है। वे यह मानते हैं कि इनमें से कुछ का गुणत्व तो दोषाभावमात्र से है। कुछ का स्वतः ही उत्कर्ष के

---

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वं तथा कान्तिरुदारता॥
ओजः सुशब्दता प्रेयानौर्जित्यमथ विस्तरः।
समाधिः सौक्ष्मगाम्भीर्ये संक्षेपो भाविकं तथा।
सम्मितत्वं तथा प्रौढ़ी रीतिरुक्तिर्गतिस्तथा।
—प्रतापरुद्रीय, गुणप्रकरण, १-३ पृ० २१६

२. एतेषां गुणानामर्थगतत्वमपि केचिदिच्छन्ति। प्राचामाचार्याणां मतेन संघटनाश्रयत्वमेव गुणानाम्।—वही, वृत्ति, पृ० २२५

३. बहूनां पदानामेकपदवदवभासमानत्वादिलक्षणे श्लेषादौ अर्थगतत्वस्य दुर्घटत्वादिति भावः। —वही, रत्नापणटीका, पृ० २२५

कारण गुणत्व है। अतः जो गुण स्वतः काव्योत्कर्षविधायक हैं, वे परम उत्कृष्ट गुण माने जाते हैं। सभी आचार्य दोषाभाव मात्र को गुण का हेतु नहीं मानते। जो दोषाभाव के कारण गुण मानते हैं वे ही सौकुमार्य आदि को गुण मानते हैं।[1] दोषाभावरूप गुण विद्यानाथ की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार के गुण, जो भोजराज द्वारा वैशेषिक गुणों के रूप में वर्गीकृत हुये थे, विद्यानाथ को आकृष्ट नहीं कर सके और उन्होंने उसमें रुचि प्रदर्शित न करते हुए कुछ की गणना मात्र की है।

सौकुमार्यगुण श्रुतिकटुदोष का परिहार है। ग्राम्यदोष का निराकरण रूप कान्तिगुण स्वीकार किया। अपुष्टार्थ दोष परिहार के लिए अर्थव्यक्ति मानी गई। सम्मितत्व गुण न्यूनाधिकपद का निराकरण माना गया। अनुचितार्थ दोष को मिटाने के लिए उदात्तता की स्वीकृति हुई। विसन्धिदोष का अभाव और्जित्य है। पतत्प्रकर्ष दोष के परिहार हेतु रीति गुण माना गया। क्लिष्टत्व दोष का अभाव प्रसाद माना गया। अश्लील दोष का परिहार करने के लिए उक्तिगुण की कल्पना की गयी। सुशब्दता च्युतिसंस्कृति दोष का अभाव है। समतागुण प्रक्रमभग्नता का निराकरण है। परुष दोष की निवृत्ति के लिए प्रेयान् अभीष्ट हुआ। इस प्रकार कुछ दोषों के परिहार द्वारा अनेक गुणधारणायें प्रादुर्भूत हुईं।[2]

---

१. एषां मध्ये केषांचिद् दोषपरिहारकत्वेन गुणत्वम्। केषांचित् स्वत एवोत्कर्ष हेतुत्वादगुणत्वम्। तत्र ये स्वत एव चारुत्वातिशयहेतवस्ते परमुत्कृष्टाः। दुष्टत्वपरिहारहेतूनां गुणत्वं न सर्वसम्मतम्। ये तु दोषाभावतया गुणत्वमिच्छन्ति तेषामेव सौकुमार्यादयो गुणत्वेन सम्मताः।—प्रतापरुद्रीय,

—वृत्ति, पृ० २१६

२. श्रुतिकटुरूपदोषनिराकरणाय सौकुमार्यं सम्मतम्। ग्रामदोषनिराकरणाय कान्तिः स्वीकृता। अपुष्टार्थनिराकरणायार्थव्यक्तिर्मता। न्यूनाधिकपदनिराकरणाय सम्मितत्वं मतम्। अनुचितार्थनिराकरणार्थमुदात्तता स्वीकृता। विसन्धिनिराकरणार्थमौर्जित्यं मतम्। पतत्प्रकर्षनिराकरणाय रीतिरिष्टा। च्युतसंस्कृतिपरिहारार्थं सौशब्दामिष्टम्। प्रक्रमभङ्गनिराकरणाय समता मता। परुषदोषनिवृत्यर्थं प्रेयान् मतः। एवं यथासम्भवं केषांचिद्दोषपरिहारकत्वेन गुणत्वम्।

—वही, वृत्ति, पृ० २१६

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यानाथ ने अर्थगत गुणों का तो सर्वथा परित्याग कर ही दिया, वैशेषिक गुणों के प्रति भी कोई रुचि नहीं प्रदर्शित की। केवल शब्दगुणों को ही स्वीकार किया।

विद्यानाथ द्वारा स्वीकृत गुणों का स्वरूप इस प्रकार हैं—

१—श्लेष—जहाँ अनेक पद एक पद की तरह प्रतीत हों, वहाँ श्लेष गुण होता है। पदों की श्लिष्टता ही श्लेष गुण है।[1]

२—प्रसाद—प्रसिद्धार्थपदता ही प्रसाद गुण है।[2] तत्काल अर्थावबोध के कारण इसे प्रसाद गुण कहते है।[3] यह क्लिष्टत्व दोष का परिहार है।

३—समता—अविषम कथन समता नामक गुण है।[4] समता गुण प्रक्रम-भङ्ग-दोष का विपर्यय है।

४—माधुर्य—वाक्य में जो पृथक्पदता होती है, वही माधुर्य गुण है।[5]

५—सौकुमार्य—सुकुमार अक्षरों के प्रयोग में सौकुमार्य गुण माना गया है।[6] भोज ने इसे 'अनिष्ठुराक्षरप्राय' कहा था। यह श्रुतिकटुत्व दोष का अभाव है। विद्यानाथ के अनुसार अनुस्वारयुक्त कोमलवर्ण सुकुमार है।[7]

६—अर्थव्यक्ति—विद्यानाथ ने सम्पूर्णवाक्यता को अर्थव्यक्ति कहा है। अर्थ का प्रतिपादन करने में वाक्य की निराकांक्षता के कारण होने वाली परिपूर्णता अर्थव्यक्ति नामक गुण कही जाती है।[8] यह अपुष्टार्थ दोष का परिहाररूप है।

---

१. मिथः संश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।—प्रतापरुद्रीय, पृ० २१७

२. प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते।—वही, पृ० २१७

३. झटित्यर्थसमर्पकत्वात् प्रसादः।—वही, वृत्ति पृ० २१७

४. अवैषम्येण भणनं समता सा निगद्यते।—वही, पृ० २१७

५. या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यं प्रकीर्त्यते।—वही, पृ० २१८

६. सुकुमाराक्षरप्रायं सौकुमार्यं तदुच्यते।—वही, पृ० २१८

७, सुकुमारत्वं नाम सानुस्वारकोमलवर्णत्वम्। यथा—
अमन्दानन्दनिष्यन्दसुन्दरीवदनेन्दुभिः।
नगरे काकतीन्द्रस्य दिवाप्याभाति चन्द्रिका॥—वही, वृत्ति, पृ० २१८

८. यत्तु सम्पूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम्।
अर्थप्रतिपादने वाक्यस्य निराकांक्षतया परिपूर्णत्वादर्थव्यक्तिः।—वही, पृ० २१८

७—कान्ति—बन्ध की अतिशय उज्ज्वलता को कान्ति गुण माना गया है।[1] भोज की ही परिभाषा में 'अतिशय' विशेषण लगाकर इन्होंने कान्ति का लक्षण बनाया।

८—औदार्य—विकटाक्षरबन्धत्व को औदार्य गुण कहते हैं।[2] विद्यानाथ ने भोज के शब्दौदार्य की ही परिभाषा ग्रहण की है, जिसे उन्होंने वामन से लिया था।

९—उदात्तता—श्लाघ्य विशेषणों का योग उदात्तता गुण माना गया है।[3]

१०—ओज—समासबहुलता ही ओज है।[4]

११—सुशब्दता—सुप् और तिङ् की व्युत्पत्ति ही सुशब्दता गुण है।[5]

१२—प्रेय—चाटूक्तियों से पूर्ण प्रिय कथन को प्रेय गुण कहा गया है।[6]

१३—और्जित्य—बन्ध की गाढ़ता ही और्जित्य गुण है।[7] यह विसन्धि-दोष का परिहार है।

१४—समाधि—किसी एक वस्तु के धर्म का यदि अन्यत्र आरोपण किया जाय तो वहाँ समाधि गुण होता है।[8]

१५—विस्तर—किसी वर्णित अर्थ के समर्थन (पुष्टि) के लिए विस्तार-पूर्वक कथन को विस्तर नामक गुण कहा गया है।[9]

१६—सम्मितत्व—अपेक्षित पदों से, कम पदों का प्रयोग न्यूनपदत्व और अधिकपदों का प्रयोग अधिकपदत्व, दोष माना जाता है। सम्मितत्व गुण में इन दोनों दोषों का परिहार प्राप्त होता है। अतः विवक्षित अर्थ को सुव्यक्त

१. अत्युज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये कान्तिरितीष्यते।—प्रतापरुद्रीय, पृ० २१९
२. विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमिष्यते।—वही, पृ० २१९
३. श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता।—वही, पृ० २२०
४. ओजः समासभूयस्त्वम्।—वही, पृ० २२०
५. सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्तिः सौशब्द्यं परिकीर्त्यते।—वही, पृ० २२०
६. प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ यद्विधीयते।—वही, पृ० २२१
७. और्जित्यं गाढबन्धत्वम्।—वही पृ० २२१
८. समाधिरन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम्।—वही, पृ० २२२
९. समर्थनप्रपंचोक्तिरुक्तस्यार्थस्य विस्तरः—वही, पृ० २२२

करने हेतु जितने पदों का प्रयोग अपेक्षित हो, ठीक उतने ही पदों का प्रयोग करना सम्मितत्व गुण कहा गया है।[1]

१७—गाम्भीर्य—ध्वनिमत्ता को गाम्भीर्य गुण कहा गया है।[2] इसमें भी भोज का अनुसरण है। ध्वनि को गुण में अन्तर्भूत करना उचित नहीं।

१८—संक्षेप—किसी विस्तृत अर्थ वर्णन को संक्षिप्त कर देना संक्षेप गुण है।[3]

१९—सौक्ष्म्य—शब्दों की अन्तः सञ्जल्परूपता को सौक्ष्म्य गुण कहते हैं।[4] इसकी व्याख्या करते हुए कुमारस्वामी ने रत्नापण टीका में कहा है कि विवक्षित अर्थ को (समीचीन कथन को) जब वाक्य में गर्भित रूप से प्रयुक्त किया जाता है, तो वही अन्तःसंजल्परूपता को प्राप्त होने के कारण सौक्ष्म्य गुण कहा जाता है।[5] भोजराज ने भी यही लक्षण बताया है।

२०—प्रौढि—उक्ति का परिपाक (=परीपाक) प्रौढि गुण माना गया है।[6]

२१—उक्ति—विदग्धकथन को विद्यानाथ ने उक्ति नामक गुण कहा है।[7] यह भोजराज की विशिष्टभणिति से अभिन्न ही है। वक्रोक्ति या उक्तिवैचित्र्य को ही यहाँ 'उक्ति' गुण के रूप में परिभाषित किया गया है। उक्ति को विद्यानाथ ने अश्लीलत्व दोष का परिहार माना है।

२२—रीति—उपक्रम का निर्वाह रीति नामक गुण कहा गया है।[8]

---

१. यावदर्थपदत्वं तु सम्मितत्वमुदाहृतम्।—प्रतापरुद्रीय पृ० २२२

२. ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्।—वही, पृ० २२३

३. संक्षिप्ताऽर्थाभिधानं यत् तत् संक्षेपः प्रकीर्त्यते।
अतिविस्तरकथनयोग्यार्थस्य संक्षेपोक्तेः संक्षेपः।—वही पृ० २२३

४. अन्तःसंजल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते। वही, पृ० २२३

५. समीचीनो जल्पः संजल्पः विवक्षितार्थः सोन्तःकृतो गर्भितो यत्र तद्रूपत्वमन्तः संजल्परूपत्वं सौक्ष्म्यमित्यर्थः।–वही, रत्नापणटीका, पृ० २२३

६. प्रौढिरुक्तेः परीपाक इति काव्यविदो विदुः।—वही, पृ० २२४

७. विदग्धभणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः।–प्रतापरूद्रीय, पृ० २२४

८. यथोपक्रमनिर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते।–वही, पृ० २२४

२३—भाविक—भावानुरूप वाक्यवृत्ति ही भाविक गुण है ।[१]

२४—गति—स्वरों के आरोह-अवरोह की चारुता गति नामक गुण है ।[२]

इस प्रकार विद्यानाथ के गुण विवेचन को देखने से कहीं भी उसमें मौलिकता के दर्शन नहीं होते । सब कुछ पिष्टपेषण ही है ।

रत्नापणटीकाकार कुमार स्वामी के अनुसार विद्यानाथ यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से प्राचीन आचार्यों की गुणधारणा का पोषण करते है तथापि वे हृदय से आनन्दवर्द्धन के अनुयायी हैं क्योंकि उन्होंने आनन्दवर्द्धन के समान, गुण को काव्य की आत्मा का उत्कर्षाधायक धर्म माना है ।[३]

आनन्दवर्धन—

काव्य में ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में गुणों का विवेचन किया है । उन्होंने गुण को संघटनाश्रयी न मानकर अंगीभूत रस-भावादि के आश्रित माना है । गुण को परिभाषित करते हुए उनका कथन है कि जो उस प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहने वाले (माधुर्यादि) हैं, उनको गुण कहते हैं ।[४] वृत्तिभाग में गुण को शौर्यादिवत् मानते हुए उसे उन्होंने काव्य की आत्मा के साथ सम्बद्ध कर दिया ।[५] अतः गुण बाह्य न होकर आन्तरिक हो गय़ ।

गुण वस्तुतः रस के ही धर्म हैं । आनन्दवर्द्धन ने शास्त्रीय आधार पर गुण का रसादि के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है । ध्वन्यालोक में माधुर्य, ओज और प्रसाद, ये तीन ही काव्य गुण स्वीकृत किए गए हैं और इसी के आधार पर ध्वनिवादी (रसवादी) आचार्यों ने तीन काव्यगुणों के सिद्धान्त का पोषण किया । प्राचीन आचार्यों में यद्यपि भामह ने भी तीन ही गुणों—माधुर्य, ओज और

---

३. भावतो वाक्यवृत्तिर्या भाविकं तदुदाहृतम् ।-वही, पृ० २२५

४. गतिर्नाम सुरम्यत्वं स्वरारोहावरोहयोः ।-वही, पृ० २२५

५. स्वयमेवोक्तवान् काव्यप्रकरणे······हारादिवद·········।
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौयादय इव स्थिताः ॥
आत्मोत्कर्षावहाः···········इति ।-वही रत्नापणटीका पृ० २२६ ।

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।—ध्वन्यालोक, २.६

२. ये तमर्थं रसादिलक्षणमंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् ।
—वही, २.६ की वृत्ति ।

प्रसाद को ही स्वीकार किया है, तथापि वे गुण नामतः समान होने पर भी स्वरूपतः भिन्न हैं। भामह ने गुणों का निर्धारण दीर्घसमास, अल्पसमास पद-रचना के आधार पर किया था, जबकि आनन्दवर्धन द्वारा किया गया निर्धारण रससापेक्ष अर्थात् चित्तवृत्ति की द्रुति, दीप्ति पर आश्रित है। अब यहाँ हम आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित गुणों के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

माधुर्य--शृंगार ही सबसे अधिक आनन्ददायक मधुर रस है। उस शृंगारमय काव्य के आश्रित ही माधुर्य गुण रहता है।[1] रसों में शृंगार की श्रेष्ठता का संकेत करते हुए आनन्दवर्धन का कथन है कि शृंगार ही अन्य रसों की अपेक्षा अधिक आह्लादजनक होने से मधुर है। उसको प्रकाशित करने वाले शब्दार्थयुक्त काव्य का वह माधुर्यगुण होता है।[2] अभिनवगुप्त ने लोचन में आनन्दवर्धन की माधुर्यधारणा का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि मधुर शृंगार रसव्यक्त कर सकने की शब्दार्थ की सामर्थ्य ही माधुर्य गुण है।[3]

आगे आनन्दवर्धन की मान्यता है कि संभोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस में माधुर्य उत्कर्षयुक्त होता है क्योंकि उसमें चित्त अधिक आर्द्रता को प्राप्त करता है।[4] अभिनवगुप्त ने इस कथन को और अधिक विशद करते हुए लोचन में स्पष्ट किया है कि संयोग शृंगार की अपेक्षा वियोग शृंगार में चित्त को आर्द्र करने की शक्ति अधिक होती है और करुण रस में उससे भी अधिक। इस प्रकार संयोग शृंगार यदि मधुर है, तो वियोग शृंगार मधुरतर और करुण रस मधुरतम। अतः वियोग शृंगार व्यञ्जक शब्दार्थ में, संभोग की अपेक्षा अधिक प्रकर्ष रहता है तथा उससे भी अधिक प्रकर्ष करुण रस की व्यञ्जना करने वाले शब्दार्थ में रहता है।[5]

---

१. शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥---ध्वन्यालोक, २.७ लोचन।

२. शृंगार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः।--वही, २.७ की वृत्ति।

३. मधुरश्शृंगाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्।
—ध्वन्यालोक, २.७ लोचन।

४. शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥—वही, २.८

५. संयोगश्शृंगारान्मधुरतरो विप्रलम्भः ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभि—व्यंजनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाह—शृंगार इति।
—वही, २.८ लोचन।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि आनन्दवर्धन ने 'शृंगार एवं मधुर' कह कर एक मात्र शृंगार के ही माधुर्य गुण युक्त होने का प्रतिपादन नहीं किया है। क्योंकि स्वयं ही उन्होंने करुण को और भी अधिक माधुर्य गुण वाला माना है। 'शृंगार ही मधुर है'—ऐसा कहने का उनका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि काव्यात्मभूत रस ही मधुर है, शरीरभूत शब्दार्थ नहीं। शब्दार्थ को मधुर कहना वस्तुतः मात्र उपचार (लाक्षणिक प्रयोग) ही है।[१]

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने माधुर्य गुण को मुख्यतः असमास या अल्पसमास रचना से, श्रुत्यनुप्रास एवम् अग्राम्यता आदि से सम्बद्ध किया था। आनन्दवर्धन ने इसे शृंगार एवं मधुर रस से युक्त माना है।

ओज—आनन्दवर्धन के अनुसार, चित्त की दीप्ति ही ओज है। काव्य में विद्यमान रौद्रादि रस दीप्ति से लक्षित होते हैं। उस दीप्ति के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के आश्रय से ओज रहता है।[२] रौद्र, वीर और अद्भुत रस अत्यन्त उज्ज्वलतारूप कहे जाते हैं। उसके प्रकाशक शब्द दीर्घसमासरचना से अलंकृत वाक्य हैं।[३] बहुधा दीर्घ समासयुक्त वाक्य, रौद्र आदि रस के व्यंजक होते हैं। अतः उन्हें ओजोगुणयुक्त कहा जाता है। किन्तु यह कथन उपचार मात्र है। उस ओज का प्रकाशक अर्थ, दीर्घसमासरचना से रहित प्रसादगुणयुक्त पदों से बोधित अर्थ होता है।[४] अतः अल्पसमास रचना में भी ओज पाया जाता है। आनन्दवर्धन ने दोनों प्रकार के वाक्यों में ओजोगुण की उपस्थिति दिखलाने वाले दो उदाहरण दिये हैं।

प्राचीन आचार्यों ने ओज को दीर्घसमासरचना का पर्याय मान लिया था। भामह से लेकर भोजराज तक ने समासबहुलता को ओज के रूप में मान्यता

---

१. × × × अपि त्वात्मभूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादय उपचारेण तु शब्दार्थयोरित्येवकारेण द्योत्यते।—ध्वन्यालोक, २.८ लोचन।

२. रौद्रादयो रसादीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतुशब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥—वही, २.९

३. रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते। तत्प्रकाशपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालंकृतं वाक्यम्।
—वही, २.९ की वृत्ति।

४. तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः।
—वही, २.९ की वृत्ति।

प्रदान की थी। केवल वामन ही ऐसे आचार्य थे, जिन्होंने ओज को 'गाढ़-बन्धत्व' कहा था। दण्डी ने इसे गद्य का प्राण माना और गौड मार्ग में पद्य में समादृत बताया। स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों ने इसे रीति के साथ सम्बद्ध करके गौडी रीति में ओज का सद्भाव तथा वैदर्भी में अभाव कल्पित किया। आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति के साथ ओजोगुण के इस प्रकार सम्बन्ध को नकारते हुए, उसे रौद्रादि रसों से सम्बद्ध कर दिया तथा चित्त की दीप्ति रूप माना। इस प्रकार उन्होंने दीर्घसमास तथा अल्पसमास से युक्त दोनों प्रकार के वाक्यों में ओजोगुण की सम्भावना को स्पष्ट करते हुए उन्हें उदाहृत कर अपनी मान्यता को पुष्ट किया।

प्रसाद—काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व (बोद्धा के हृदय में झटिति व्यापनकर्तृत्व) है और जो समस्त रसों तथा रचनाओं में रहने वाला है, उसे प्रसाद गुण समझना चाहिए।[1] आनन्दवर्धन ने प्रसाद गुण के स्वरूप का इस प्रकार प्रतिपादन करने के बाद वृत्ति में उसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ की स्वच्छता प्रसाद गुण है। वह सब रसों का साधारण गुण है और सभी रचनाओं में समान रूप से रहता है। मुख्य रूप से व्यंग्यार्थ की अपेक्षा से ही उसे स्थित समझना चाहिए।[2] अभिप्राय यह है कि इस गुण के अभाव में रस की व्यंजना सम्भव नहीं होती। असमस्त अथवा अल्पसमासयुक्त रचना भी प्रसाद गुण के अभाव में शृंगार आदि रसों की व्यञ्जना करने में समर्थ नहीं होती। इस प्रकार रस की शीघ्र व्यंजना करने वाले शब्द और अर्थ भी उपचार वश प्रसाद गुणयुक्त माने जाते हैं।

अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन की इस गुणधारणा को स्पष्ट करते हुए लोचन में लिखा है कि रचना में प्रसाद गुण के सद्भाव से काव्य रस शीघ्रतापूर्वक सहृदय के हृदय में प्रविष्ट हो व्याप्त हो जाता है। जिस प्रकार लकड़ी मे अग्नि सहसा व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार जहाँ रस सहृदय के हृदय को तुरन्त

१. समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥—ध्वन्यालोक, २.१०

२. प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वसाधारणो गुणः। सर्वरचना-साधारणश्च। व्यंग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।
—वही, २.१० की वृत्ति।

अभिभूत कर लेता है, वहाँ प्रसाद गुण रहता है । यह सभी रसों का गुण है । व्यंग्यार्थ के प्रति शब्द और अर्थ की समर्पकता होने से उपचार से शब्द और अर्थ में भी प्रसाद गुण माना जाता है ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्धन ने माधुर्य और ओज की अपेक्षा प्रसाद गुण को अधिक महत्त्व प्रदान किया । वे दोनों गुण तो कुछ ही रसों में स्थित माने गए हैं किन्तु प्रसाद का सद्‌भाव सभी रसों में अनिवार्यतः स्वीकार किया गया है । इसीलिए काव्य में रसों के प्रति व्यंजकत्व आता है । अतः प्रसाद, काव्य का सर्वाधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण गुण है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन गुणों को रस का धर्म मानते हैं । उपचार से उसका सम्बन्ध शब्दार्थ से भी है किन्तु वह संघटनाश्रित नहीं है ।

मम्मट

मम्मट ध्वनिवादी आचार्य थे । इसी कारण उन्होंने आनन्दवर्धन की गुणधारणा को स्वीकार किया । किन्तु उन्होंने आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों का एकदम अन्धानुसरण नहीं किया है । उन्होंने प्राचीन आचार्यों के भी गुण सम्बन्धी मतमतान्तरों का सूक्ष्मविश्लेषण कर, उसके अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण पक्षों को अपनी सहमति प्रदान की तथा उसका ग्रहण करके आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों के साथ उनका समन्वय करते हुए अपनी गुणधारणा का प्रतिपादन किया है । उन्होंने आचार्य वामन से काव्य में गुणों की अपरिहार्यता तथा आनन्दवर्धन से गुणों की रसधर्मता का ग्रहण कर दोनों का समन्वय करके गुण के सम्बन्ध में अपनी मौलिकता का भी समावेश करते हुए सिद्धान्त स्थापित किया है ।

काव्यप्रकाश में मम्मट ने गुण का सामान्यलक्षण दिया है । उनके अनुसार, आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान काव्य के आत्मभूत प्रधान रस के

१. समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तृन्प्रति स्वात्मावेशेन व्यापकत्वं झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेनाकलुषोदकदृष्टान्तेन च तद्‌कालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः उपचारात्तु तथाविधे व्यंग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः ।—ध्वन्यालोक २.१० लोचन ।

जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं, वे गुण कहे जाते हैं।[1] इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने वृत्ति में लिखा है—"जैसे शौर्य आदि आत्मा के ही धर्म होते हैं, शरीर (आकार) के नहीं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते हैं, वर्णों के नहीं किन्तु कहीं-कहीं, शौर्य आदि के उपयुक्त शारीरिक बनावट को देखकर, 'इसका आकार ही शूरवीर है'—इस प्रकार का व्यवहार होने से, अन्यत्र अशूर में भी केवल दुबली पतली-छोटी आकृति को देखकर—'यह भला क्या शूर होगा'—ऐसा भ्रान्त व्यवहार होने लगता है, उसी प्रकार मधुर आदि गुणों के व्यंजक सुकुमार आदि वर्णों की सुकुमारता आदि मात्र से माधुर्यादि का तथा मधुर आदि रसों के अंगभूत उन वर्णों के असुकुमार होने से उनके अमाधुर्यादि का भ्रान्त व्यवहार होने लगता है। अतः माधुर्य आदि गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं। वे वर्णों के आश्रित मात्र नहीं रहते अपितु वे उपयुक्त वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं।[2]

मम्मट की गुणपरिभाषा का विश्लेषण करने से उनकी गुणधारणा के महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक पक्षों का उद्घाटन होता हैं। आनन्दवर्धन के समान ही उन्होंने भी गुण को काव्य के अंगीरस का धर्म कहा है। जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं और उनसे आत्मा में उत्कर्ष आता है उसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्य के आत्मभूत प्रधान रस के धर्म हैं और उनसे उसमें उत्कर्ष आता है। यद्यपि गुण को रस का धर्म कह देने मात्र से ही उनके नित्यसम्बन्ध की प्रतीति (अचला स्थिति का ज्ञान) हो जाता है, तथापि अत्यन्त सुस्पष्ट करने के लिए मम्मट ने अलग से भी (लक्षण में) 'अचला स्थिति' का उल्लेख किया है। काव्यप्रदीप में गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की इस धारणा को स्पष्ट

---

१. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥—काव्यप्रकाश, ८।६६

२. आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारात्, अन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अभिश्रान्तप्रतीतयो यथाव्यवहरन्ति तद्वत्·········रसपर्यन्तप्रतीतिबन्ध्या व्यवहरन्ति। अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।
—काव्यप्रकाश, ८।६६ की वृत्ति।

करते हुए, रस के साथ सम्बन्ध की दृष्टि से गुण के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण बातें कहीं है—

१—गुण रस के धर्म हैं। २—रस के साथ उनकी अव्यभिचारी स्थिति है। ३—वे नियत रूप से (अविच्छिन्नरूपेण) रस के साथ रहते हुए उसका उपकार (उत्कर्ष) करते हैं।[1]

मम्मट ने गुण को शब्द का धर्म मानने के सिद्धान्त को नकार दिया है। उनका कहना है कि समुचित वर्णों से गुण की व्यंजना अवश्य होती है किन्तु वे गुण वर्णमात्र पर आश्रित नहीं रहते। अतः 'मधुर वर्ण'—यह कहना एक लाक्षणिक प्रयोग मात्र है।

आनन्दवर्धन के ही समान मम्मट ने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद यही तीन गुण माना है[2] और उनके स्वरूप का निर्धारण सहृदय की चित्तवृत्ति के आधार पर किया है। यहाँ हम मम्मट द्वारा प्रतिपादित इन तीनों गुणों के स्वरूप का विवेचन (क्रमशः) करेंगे।

माधुर्य—मम्मट के अनुसार, चित्त के द्रुति (द्रवीभाव) का कारण और शृंगार में रहने वाला जो आह्लादकत्व है, वही माधुर्य गुण है।[3] यह माधुर्य गुण सम्भोग शृंगार में चित्त की कठोरता को दूर करके उसमें द्रुति अर्थात् द्रवीभाव उत्पन्न करता है।[4] लक्षण में मम्मट द्वारा प्रयुक्त आह्लादनकत्व नहीं अपितु आह्लादस्वरूपत्व है। क्योंकि शृंगार आदि रस आह्लादजनक नहीं अपितु आह्लादरूप ही होते हैं। अतः 'आह्लादक' अर्थ 'आह्लाद' ही है और यह 'क' प्रत्यय स्वार्थ में किया गया है। अतः आह्लादक का अर्थ आह्लादकारी या आह्लाद हेतु नहीं होगा। यदि गुण को आह्लाद का हेतु माना जाय तो उसे आह्लादरूप रस का भी हेतु मानना होगा, किन्तु रस, गुण से उत्पन्न नहीं होता। अतः गुण आह्लाद का कारण नहीं, अपितु आह्लादस्वरूप ही है।

---

१. एवं च रसस्योत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं, तथात्वे सति रसाव्यभिचारिस्थितित्वम् अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वं चेति लक्षणत्रयं गुणानां द्रष्टव्यम्।
—काव्यप्रदीप, ८।६६ (काव्यप्रकाश टीका)।

२. माधुर्यौजःप्रसादाख्याः।—काव्यप्रकाश, ८।६८

३. आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।—वही, ८।६८

४. शृंगारे अर्थात् सम्भोगे। द्रुतिर्गलितत्वमिव।—वही, ८।६८ की वृत्ति।

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि आह्लाद तो सभी रसों का स्वरूप है न कि केवल शृंगार रस का। इसलिए यदि माधुर्य को आह्लादस्वरूप माना जाय तो रौद्रादि दीप्त रसों में जहाँ माधुर्य नहीं रहता, वहाँ आह्लाद का अभाव मानना पड़ेगा। जो मूल का ही विघातक होगा अर्थात् रस के स्वरूप की मौलिक धारणा के ही विरुद्ध होगा। इस शंका का समाधान मम्मट द्वारा, माधुर्य गुण की परिभाषा में ही उपलब्ध हो जाता है। वहाँ उन्होंने स्पष्टतः ही लिखा है कि शृंगार रस में चित्त की द्रुति का कारणभूत आह्लाद ही माधुर्य गुण है। इससे अन्य रसों की आह्लादकता का विघात नहीं होता। वस्तुतः दीप्त रसों में भी आह्लाद रहता है किन्तु वहाँ चित्त की द्रुति नहीं होतो। अतः उन दीप्त रसों में माधुर्य-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। गोविन्दठक्कुर ने काव्यप्रदीप में उक्त स्थल पर यह समाधान किया है।[1]

माधुर्यगुण संयोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार तथा शान्तरसों में क्रमशः उत्तरोत्तर प्रकर्षावस्था में रहता है।[2] इसका कारण मम्मट ने अत्यन्त द्रुति का होना बताया है।[3] चित्त की द्रुति की मात्रा के आधार पर इन रसों में माधुर्य गुण के प्रकर्ष का निर्धारण हुआ है। संभोग शृंगार की अनुभूति-दशा में जो चित्त की द्रुति होती है, उससे अधिक करुण में, करुण से अधिक विप्रलम्भ शृंगार में और सबसे अधिक शान्त रस में होती है। इस प्रकार इन रसों में माधुर्य का प्रकर्ष उत्तरोत्तर अधिक होता है। यद्यपि माधुर्य के स्वरूप के विषय में उन्होंने स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। आनन्दवर्धन ने सम्भोग की अपेक्षा विप्रलम्भ में और उसकी अपेक्षा करुण रस में चित्त की द्रुति अधिक मानी थी। किन्तु मम्मट ने इसके विपरीत यह माना कि करुण की अपेक्षा विप्रलम्भशृंगार में चित्त-द्रुति अधिक होती है। इस प्रकार करुण में विप्रलम्भ की अपेक्षा माधुर्य का प्रकर्ष रहता है। आनन्दवर्धन ने तो शान्तरस में माधुर्य

---

१. आनन्दस्वरूपत्वं चेत्तर्हि सर्वेषामेव रसानामित्यत आह—द्रुतिकारणमिति। द्रुतिश्चेतसो गलितत्वमेव द्वेषादिजन्यकाठिन्याभावः। तथा च यद्वशेन श्रोतुर्निर्मनस्कतेव सम्पद्यते तदाह्लादकत्वस्वरूपं माधुर्यमित्यर्थः।

—काव्यप्रदीप, ८।६८

२. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।—काव्यप्रकाश, ८।६९

३. अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात्।—वही, ८।६९, वृत्ति।

गुण होने का उल्लेख भी नहीं किया था किन्तु मम्मट ने शान्त रस में माधुर्य का सर्वाधिक प्रकर्ष स्वीकार किया है।

ओज—ओज चित्तवृत्ति के विस्तार का गुण है। इसका स्वभाव माधुर्य से विपरीत है। मम्मट ने इसका लक्षण करते हुए कहा है कि वीररस में रहनेवाली चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति, ओज है।[1] इस प्रकार चित्त को प्रज्ज्वलित करने वाला गुण ओज कहा गया है। मम्मट की मान्यता है कि वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः ओज का आधिक्य पाया जाता है।[2] इस प्रकार वीररस की अपेक्षा वीभत्स रस में और उसकी अपेक्षा रौद्र रस में ओज की मात्रा अधिक होती है। इसका कारण यह है कि वीर रस में जिगीषा, वीभत्स में तितिक्षा और रौद्र में जिघांसा होती है। इन भावों में क्रमशः चित्त की दीप्ति उत्तरोत्तर अधिक होती है। यही कारण है कि वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में उत्तरोत्तर ओज का आधिक्य मिलता है।

गोविन्द ठक्कुर ने अभिनवगुप्त की मान्यता का अनुमोदन करते हुए वीभत्स रस में ओज और माधुर्य गुण का मिश्रण होना स्वीकार किया है। मम्मट ने शृंगारादि में माधुर्य और वीरादि में ओज गुण का विधान प्राधान्य के आधार पर किया है। किन्तु हास्य, अद्भुत और भयानक रसों में दोनों गुण रहते हैं अतः उनमें किसी गुण की स्थिति नहीं बताई गई।[3]

ओज गुण के आश्रयभूत रसों के सम्बन्ध में मम्मट की मान्यता, आनन्द-वर्धन से नितान्त भिन्न है। आनन्दवर्धन ने इसे रौद्रादि का गुण कहा था, जहाँ 'आदि' पद से लोचनकार अभिनवगुप्त ने वीर और अद्भुत रसों का ग्रहण किया था। मम्मट ने अद्भुत रस में एकान्ततः ओज के सद्भाव को अस्वीकार करते हुए उसके स्थान पर वीभत्स रस का ग्रहण किया है।

प्रसाद—मम्मट ने काव्यप्रकाश में प्रसाद गुण का लक्षण करते हुए कहा है कि सूखे ईंधन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान जो

---

१. दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।—काव्यप्रकाश, ८।६९

२. वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।—वही, ८।७०

३. तदेतद्वीररौद्रयोर्निष्प्रतिपक्षं बीभत्से तु माधुर्यलवानुविद्धमिति विशेषः। प्राधान्येन माधुर्यौजसोरेकैकविधानमत्र प्रकान्तमतो हास्याद्भुतभयानकेषु न किंचिद्विहितम्। तेषूभयगुणप्राधान्यात्।—काव्यप्रदीप, ८।६९–७०

चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है, वह सर्वत्र (सभी रसों में) रहने वाला प्रसाद गुण है ।[1] यह काव्य का सर्वरसव्यापी गुण है। इसलिए इसमें माधुर्य और ओज—इन दोनों का स्वभाव समभाव से समाहित है । ओज में चित्त की दीप्ति और माधुर्य में चित्त की द्रुति (द्रवीभाव) है। फलतः प्रसाद में भी चित्त की दीप्ति (ज्वलनशीलता) और द्रुति (द्रवीभावपआर्द्रता), दोनों दशाओं का सम्मिश्रण होता है । इन दोनों ही दशाओं की व्यंजना के लिए मम्मट ने प्रसाद गुण की परिभाषा में दो दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं । प्रसाद गुण के सद्भाव से काव्य-रस सहृदय के चित्त में झटिति उसी प्रकार व्याप्त होता है, जैसे शुष्क इंधन में अग्नि । इससे ओजोगुण प्रधान रसों की अनुभूति काल में चित्त के दीप्त हो उठने की व्यंजना की गई है । इसी प्रकार प्रसाद गुण के सद्भाव से काव्य रस सहृदय के चित्त में तत्काल उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे स्वच्छ (धुले हुए निर्मल) वस्त्र में जल व्याप्त हो जाता है । इससे माधुर्य गुण प्रधान रसों की अनुभूति काल में चित्त के द्रवीभूत अथवा आर्द्र होने की व्यञ्जना की गई है । मम्मट ने इन दोनों दृष्टान्तों को अभिनवगुप्त की लोचन टीका में आनन्दवर्धन के समर्पकत्व की व्याख्या में प्रयुक्त 'शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्त' और 'अकलुषोदकदृष्टान्त' के आधार पर समायोजित किया है ।

इस प्रकार मम्मट ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की ही प्रसाद गुणधारणा को स्वीकार किया है । प्रसाद गुण की स्थिति सभी रसों और सभी रचनाओं में होती है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मम्मट ने भी आनन्दवर्धन की ही तरह गुणों का स्वरूप सहृदय की चित्तवृत्तियों के आधार पर निर्धारित किया है । यही कारण है कि उन्होंने इसे रसों से सम्बद्ध किया न कि संघटना से । साथ ही उन्होंने उपचारतः गुणों का आश्रय शब्द और अर्थ को भी माना है ।[3] आनन्दवर्धन ने भी उपचार से गुणों की वर्णगतता को स्वीकार किया था ।

---

१. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥

—काव्यप्रकाश, ८।७०-७१

२. सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु ।—काव्यप्रकाश, ८।७०-७१ की वृत्ति ।

३. गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।—वही, ८।७१

मम्मट ने माधुर्यादि तीनों गुणों के व्यंजकों का उल्लेख करते हुए उनके उदाहरण भी दिये हैं। उनका कथन है कि वर्ण, समास तथा रचना उन गुणों के व्यंजक होते हैं।[1] सर्वप्रथम माधुर्य गुण के व्यंजकों का उल्लेख करते हैं—अपने शिर पर स्थिति अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त ट—वर्ग को छोड़कर शेष स्पर्शवर्ण, ह्रस्व रकार और णकार, समासरहित या स्वल्पसमास-युक्त रचना माधुर्य गुण की व्यञ्जक होती है।[2] इसी बात को उन्होंने आगे वृत्ति भाग में और अधिक विशद किया है।[3]

माधुर्य गुण के व्यञ्जकों का उल्लेख करने के बाद मम्मट ने ओज गुण के व्यंजकों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, ट वर्ग के समस्त वर्ण, शेष वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्णों के अतिरिक्त द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के साथ संयुक्त रेफ और तुल्य वर्णों का योग तथा श, ष वर्ण, दीर्घ समास और उद्धत रचना (गुम्फ), ओजो गुण के व्यंजक होते हैं।[4] इसे ही वृत्ति भाग में और अधिक स्पष्ट करके बताया है।[5]

इसी प्रकार (इन दोनों गुणों के व्यंजकों का निरूपण करने के बाद मम्मट ने प्रसाद गुण के व्यंजकों का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है कि (जिस वर्णसमूह, समास या रचना) के द्वारा श्रवणमात्र से शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वह सभी (वर्णों, समासों तथा रचनाओं) में रहने वाला प्रसाद गुण माना गया है।[6]

---

१. वर्णाः समासो रचना तेषां व्यंजकतामिता ।—काव्यप्रकाश, ८।१३

२. मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।

३. ठडढवर्जिताः कादयो यान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफणकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः समासाभावो मध्यमः समासो वेति समासः तथा माधुर्य-वती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका ।—वही, ८।७४ की वृत्ति ।

४. योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोः रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धृत ओजसि ॥—काव्यप्रकाश, ८।७५

५. वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोः द्वितीयचतुर्थयोः रेफेण अथ उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित् तुल्ययोस्तेन तस्यैव सम्बन्धः टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः शकारष-कारौ, दीर्घसमासः विकटा संघटना ओजसः ।—वही, ८।७५ की वृत्ति ।

६. श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥—वही, ८।७६

आचार्य मम्मट ने रसाश्रित माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन्हीं तीन गुणों की सत्ता स्वीकार करके पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत दस गुणों का दृढ़तापूर्वक खण्डन कर दिया है।[1] उनका कथन है कि वामनादि के दसों गुणों में से कुछ तो इन्हीं तीन में अन्तर्भूत हो जाते हैं, कुछ दोषाभावरूप ही होते हैं और शेष कहीं पर गुण न होकर दोष ही बन जाते हैं, अतः दस गुण नहीं माने जा सकते।[2]

वृत्ति भाग में सर्वप्रथम मम्मट ने दस शब्दगुणों का खण्डन (अन्तर्भावादि) प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार, अनेक पदों की एक पद के समान प्रतीति-रूप जो श्लेष और उतार-चढ़ाव का क्रमरूप समाधि, विकटत्वरूप उदारता तथा ओजोमिश्रित शैथिल्य रूप प्रसाद; उनका 'ओज' गुण में अन्तर्भाव हो जाता है। पृथक्पदत्वरूप माधुर्य तो मम्मट द्वारा भी प्रकारान्तर से उसी संज्ञा वाला साक्षात् स्वीकृत ही कर लिया गया है। अर्थव्यक्ति भी 'प्रसाद' द्वारा कह ही दिया गया है। मार्गाभेदरूपिणी समता कहीं कहीं दोष हो जाती है। कष्टत्व और ग्राम्यत्व के दोष कहे जाने से उनके परित्याग द्वारा क्रमशः अपारुष्यरूप सौकुमार्य और औज्ज्वल्य रूप कान्ति भी स्वीकृत ही हो गए। इस प्रकार दश शब्दगुण नहीं है।[3]

उपर्युक्त रीति से दस शब्द गुणों की मान्यता का निषेध करने के बाद मम्मट ने दस अर्थगुणों की अनुपपत्ति भी प्रदर्शित की है—

पद के प्रतिपाद्य अर्थ (बोधन) में वाक्य रचना, वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ में पद का कथन, विस्तार या संक्षेप और अर्थ का साभिप्रायत्व ये प्रौढ़ि

---

१. त्रयस्ते न पुनर्दश।—काव्यप्रकाश, ८।६८

२. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥—वही, ८।७२

३. बहूनामपि पदानामकेपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यभंग्या साक्षादुपात्तम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। × × × × कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपं सौकुमार्यं औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।
—वही, ८।७२ की वृत्ति।

के पाँच भेद कहे गए हैं। इस प्रकार की प्रौढ़ि, जो ओज कही गई है, वह तो वैचित्र्यमात्र है, गुण नहीं; क्योंकि उसके बिना भी काव्य-व्यवहार हो सकता है। अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लीलत्व और ग्राम्यत्व के परिहार द्वारा साभिप्रायत्वरूप ओज, अर्थवैमल्य रूप प्रसाद, उक्ति वैचित्र्यरूप माधुर्य, अपारुष्यरूप सौकुमार्य तथा अग्राम्यत्व रूप उदारता गुण, दोषाभाव के रूप में स्वीकृत ही हैं। आगे अभिधीयमान स्वभावोक्ति अलंकार से रसध्वनि तथा दीप्तरसत्व रूप कान्ति स्वीकार कर ली गई। क्रम-कौटिल्य-अनुल्बणत्व-उपपत्ति योगरूप रचनास्वरूप श्लेष भी विचित्रता मात्र है। अवैषम्यरूप समता का अभाव दोष होगा अतः समता दोष मात्र है, गुण नहीं। क्योंकि कौन ऐसा बुद्धिमान है, जो अन्य प्रकरण में अन्य बात कहे। और यदि अयोनि या अन्यच्छायायोनि अर्थ का दर्शन ही न हो तो काव्य कैसे बने, अतः अर्थदृष्टिरूप समाधि भी गुण नहीं है।[1]

अन्ततः निष्कर्ष रूप से मम्मट का कथन है कि जो ये (उपर्युक्त दस) शब्दगुण और अर्थगुण कहे गए हैं, उन्हें अलग नहीं मानना चाहिए।[2] अतः गुण तीन ही हैं।

---

१. पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥ इति या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः। अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वामंगलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यम्, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि। अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यंग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम्। अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः। कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात्। अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् काव्यम् इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः।

—काव्यप्रकाश, ८।७२ वृत्ति।

२. तेन नार्थगुणा वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये। —वही, ८।७३

इस प्रकार मम्मट की गुणधारणा का विवेचन किया गया। हमने देखा कि मम्मट ने आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए गुण का स्वरूप, उसके तीन भेद और उनके लक्षणों का प्रतिपादन किया है। इसमें कहीं-कहीं वे पर्याप्त रूप से मौलिक भी हैं। दस शब्दगुणों और अर्थगुणों का खण्डन करके तीन ही गुणों के सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक मण्डन किया है।

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ भी गुण निरूपण करने में आनन्दवर्धन और मम्मट की विचारसरणि में अवस्थित हैं। यद्यपि विश्वनाथ ने गुण सम्बन्धी मूलधारणा का ग्रहण इन्हीं दो आचार्यों से किया है तथापि उनकी अपनी अलग स्वतन्त्र मान्यता भी है, जिसे उन्होंने गुण स्वरूपों का प्रतिपादन करते समय प्रकाशित किया है।

विश्वनाथ ने भी आनन्दवर्द्धन और मम्मट की पद्धति पर गुण को परिभाषित किया है। उनके अनुसार, देह में आत्मा के समान, काव्य में अंगित्व अर्थात् प्राधान्य प्राप्त रस के धर्म, उसी प्रकार गुण माने जाते हैं, जैसे शौर्य आदि आत्मा का गुण कहा जाता है।[१] इन्होंने भी तीन ही—माधुर्य, ओज और प्रसाद माना है।[२] इन गुणों का स्वरूप निर्धारण करने के मूल में विश्वनाथ की यह मान्यता है कि माधुर्यादि गुण चित्तवृत्तियों के ही प्रकार हैं। यह हम उन गुणों के विश्वनाथ कृत स्वरूप प्रतिपादन का विवेचन करेंगे।

माधुर्य—विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में माधुर्य का जो लक्षण किया है, उसके अनुसार, चित्त का द्रवीभावरूप आह्लाद, माधुर्य गुण कहा जाता है।[३] मूलकारिका की व्याख्या में लिखी गई वृत्ति में विश्वनाथ ने मम्मट की मान्यता का खण्डन किया है। उनका कथन है कि किसी ने (मम्मट ने) 'माधुर्य को द्रुति का कारण' कहा है, वह उचित नहीं है। क्योंकि द्रुति या द्रवीभाव आस्वादस्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है। आस्वाद या आह्लाद रस का ही पर्याय है। इस प्रकार द्रुति, रस से अभिन्न होने के कारण

---

१. रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा गुणाः।—साहित्यदर्पण, ८।१

२. माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।—वही, ८।१

३. चित्तद्रवीभावमय आह्लादो माधुर्यमुच्यते।—वही, ८।२

कार्य नहीं है। अतः जब द्रुति कार्य है ही नहीं, तो उसका कारण कैसा ?[१] इसलिए आह्लादरूप माधुर्य को चित्त द्रुति का कारण नहीं माना जा सकता। आनन्दवर्धन भी माधुर्यादि को चित्त-द्रुति आदि का कारण नहीं अपितु चित्त-वृत्ति का स्वरूप ही मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने शृंगारादि को ही मधुर कहा था। निष्कर्षतः विश्वनाथ की यह मान्यता आनन्दवर्धन की तत्सम्बन्धी मान्यता के अधिक समीप है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि चित्त की द्रुति को आह्लाद से अभिन्न माना जायगा तो वह रस से भी कम भिन्न नहीं होगी और जब द्रुति ही माधुर्य है, तब माधुर्य भी रसरूप होना चाहिए, फिर वह गुण रूप होते हुए रस का धर्म कैसे होगा। इस प्रकार माधुर्यादि गुणों को रस धर्म मानने के विश्वनाथ के ही सिद्धान्त का खण्डन (वदतो व्याघात) हो जायगा। इस शंका का समाधान विश्वनाथ ने अत्यन्त कौशलपूर्वक, चित्त के द्रवीभाव की व्याख्या में ही कर दिया है। उनके अनुसार, सहृदय के चित्त में होने वाली आर्द्रता ही चित्त की द्रुति कही जाती है।[२] यह आर्द्रता ही माधुर्य है और यह शृंगाररसजनित है। अतः रस का धर्म है।

यह माधुर्य गुण किन रसों में और किस मात्रा में होता है—इस विषय में विश्वनाथ सर्वतोभावेन मम्मट से सहमत हैं। इनके अनुसार भी माधुर्य गुण, [३]सम्भोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रस में क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक होता है। इस प्रकार शान्तरस में सर्वाधिक मात्रा में माधुर्य गुण की स्थिति होती है।

उपचारतः वर्णों की गुणव्यञ्जकता के सम्बन्ध में भी विश्वनाथ अपने पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्यों की धारणा का ही अनुसरण करते हैं। आचार्य मम्मट ने माधुर्य गुण व्यञ्जक जिन वर्णों का उल्लेख किया था और जिस प्रकार

१. यत्तु केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति तन्न। द्रवीभावस्यास्वाद-स्वरूपाह्लादभिन्नत्वेन कार्यत्वाभावात्।—साहित्यदर्पण ८।२ की वृत्ति।

२. द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मककाठिन्यमन्युक्रोधादिदीप्तत्वविस्मय-हासाद्युपहितविक्षेपपरित्यागेन रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन सह सहृदय-चित्तार्द्रप्रायत्वम्।—साहित्यदर्पण, ८।२ की वृत्ति।

३. सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।—वही, ८।२

की संघटना को उचित माना था, विश्वनाथ ने उन सबको यथावत् ही स्वीकार कर लिया है। विश्वनाथ के अनुसार भी, ट, ठ, ड, ढ से भिन्न वर्ण, अपने वर्गों के आदि तथा अन्तिम वर्णों (ङ, ण, न, म) से संयुक्त होकर माधुर्य के व्यञ्जक होते हैं। इसी प्रकार लघु, र तथा ण वर्ण समासरहित और छोटे-छोटे समास वाली मधुर रचनायें भी माधुर्य गुण की व्यञ्जक होती हैं।[1]

ओज—इस गुण के स्वरूप के सम्बन्ध में भी मम्मट की धारणा से विश्वनाथ की धारणा में मौलिक अन्तर है। जहाँ मम्मट ने ओज को चित्त के दीप्तत्व का हेतु माना था, वहीं विश्वनाथ ने ओजोगुण का लक्षण करते हुए उसे (ओज को) चित्त का विस्तार रूप दीप्तत्व माना है।[2]

इस गुण की स्थिति के सम्बन्ध में भी विश्वनाथ, मम्मट से ही सहमत हैं। इनके अनुसार भी ओजोगुण क्रमशः वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में उत्तरोत्तर अधिक होता है।[3] इस प्रकार रौद्ररस में ओज की स्थिति सर्वाधिक होती है।

ओजोगुण की व्यञ्जना करने वाले वर्णों और संघटना के सम्बन्ध में भी विश्वनाथ ने मम्मट के मत से अभिन्नता प्रदर्शित की है। इनके अनुसार भी वर्गों के प्रथम अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का द्वितीय अक्षर और तृतीय अक्षर के साथ मिला हुआ चतुर्थ अक्षर, ट, ठ, ड, ढ, श और ष वर्ण ऊपर नीचे या दोनों ओर रेफ से संयुक्त वर्ण, दीर्घ समास और उद्धत रचना—ये सभी ओजोगुण के व्यञ्जक माने गये हैं।[4]

प्रसाद—विश्वनाथ की प्रसाद गुण धारणा अभिनवगुप्त और मम्मट से अभिन्न ही है। अन्तर केवल यही है कि उन आचार्यों ने ओज और माधुर्य

---

१. मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।—साहित्यदर्पण, ८।३,४

२. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते॥—वही, ८।४

३. वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु।—वही, ८।५

४. वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठडढैः सह।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यंजकतां गताः॥
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी।—वही, ८।५-७

के साथ प्रसाद की सहस्थिति की कल्पना कर जिन दो दृष्टान्तों का प्रयोग किया था, उसमें एक 'स्वच्छ वस्त्र में जल की तरह'—दृष्टान्त (माधुर्य गुण के सापेक्ष्य) को विश्वनाथ ने छोड़ दिया है। विश्वनाथ के अनुसार इंधन में अग्नि की तरह जो क्षिप्रवेग से चित्त में व्याप्त हो जाय वह प्रसाद गुण है। यह प्रसाद गुण सभी रसों और समस्त रचनाओं में रह सकता है।[1] इसके व्यञ्जकों के विषय में विश्वनाथ की धारणा अपने पूर्ववर्ती मम्मटादि आचार्यों की धारणा से संगत है। विश्वनाथ के अनुसार भी जो शब्द श्रवणमात्र से अपने अर्थ का बोध करा दें, वही इस गुण के व्यंजक है।[2]

यद्यपि प्रधानतः ये तीनों ही गुण रसों के धर्म हैं, तथापि उपचारतः (लक्षणा से) इन्हें शब्द (और अर्थ) का धर्म भी माना जाता है।[3] जैसे शौर्य, आत्मा का धर्म है, किन्तु कभी-कभी 'आकार में ही यह शूर है—' ऐसा लाक्षणिक प्रयोग होता है, उसी प्रकार रस के धर्म, गुणों को भी काव्य-शरीर स्थानीय शब्द (और अर्थ) में स्थित कहा जाता है। इस प्रकार गुण, शब्द और अर्थ के भी धर्म माने जाते हैं।

आचार्य मम्मट की ही पद्धति का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ ने भी प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत दस शब्दार्थगुणों की व्यर्थता और इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भावादि को प्रदर्शित किया है। साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने उसे अधोलिखित प्रकार से निरूपित किया है—

प्राचीन आचार्यों द्वारा कहे गये श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद शब्द-गुणों का अन्तर्भाव ओज में हो जाता है।[4] (वामन का) (पृथक्पदतारूप) शब्दमाधुर्य भी माधुर्य गुण द्वारा स्वीकार ही कर लिया गया है।[5] कान्तिगुण

---

१. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।—साहित्यदर्पण, ८.७–८

२. शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः।—वही ८.८

३. एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्योच्यते बुधैः।—वही, ८.९

४. श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः।
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्तिते ॥—वही, ८.९-१०

५. माधुर्यव्यंजकत्वं यदसमासस्य दर्शितम्। पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवांगीकृतं पुनः।
वही, ८.१०–११

ग्राम्यत्व का और सौकुमार्य दुःश्रवत्व का अभाव है।[1] प्रसाद गुण से ही अर्थव्यक्ति का भी ग्रहण कर लिया गया।[2] मार्गभेदरूपिणी समता कहीं-कहीं दोष भी हो जाती है। गुण होने की स्थिति में इसका भी इन्हीं तीन गुणों में यथोचित रूप से अन्तर्भाव हो जाता है।[3] अर्थगत ओज, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता और औदार्य—ये सभी गुण दोषाभाव-रूप मात्र हैं। इन पाँचों अर्थगुणों का क्रमशः अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूपाश्लीलत्व और ग्राम्यत्व दोष के परिहार द्वारा माना ही गया।[4] अर्थव्यक्ति गुण स्वभावोक्ति अलंकार में तथा कान्ति गुण रस ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य में अन्तर्भूत है।[5] श्लेष केवल विचित्रता है और समता भी दोषाभाव रूप है।[6] समाधि को गुण नहीं माना जा सकता।[7] इस प्रकार प्राचीनों के उक्त गुणों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ की गुणधारणा पर आचार्य मम्मट का अत्यधिक प्रभाव है। किन्तु गुण को चित्तवृत्ति का हेतु न मानकर चित्तवृत्तिस्वरूप ही मानना, विश्वनाथ की गुणचिन्तन के क्षेत्र में मम्मट से अलग अपनी मौलिकता है।

विद्याधर

एकावली के पंचम उन्मेष में विद्याधर ने काव्यगुणों का विवेचन किया है। विद्याधर का यह गुणनिरूपण पिष्टपेषण मात्र है। उन्होंने सर्वतोभावेन मम्मट

---

१. ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता।—साहित्यदर्पण, ८.१२

२. अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः।—वही, ८.११

३. क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी।
अन्यथोक्तगुणेष्वस्याअन्तः पातो यथायथम्॥—वही, ८.१३

४. ओजः प्रसादोमाधुर्य सौकुमार्यमुदारता। तदभावस्य दोषत्वात् स्वीकृता अर्थगा गुणा॥ एषां पंचानामप्यर्थगुणानां यथाक्रममपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामंगलरूपाश्लीलग्राम्यत्वानां निराकरणेनैवाङ्गीकारः।

—वही, ८.१४ एवं वृत्ति।

५. अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यलंकारेण तथा पुनः।
रसध्वनिगुणीभूतव्यंग्याभ्यां कान्तिनामकः॥—वही, ८.१५

६. श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम।—वही, ८.१६

७. न गुणत्वं समाधेश्च।—वही, ८।१६

का अनुसरण किया है और यत्रतत्र पद-पदावली के परिवर्तन के साथ मम्मट की ही बातों का प्रतिपादन किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने कहीं भी मौलिकता नहीं प्रदर्शित की है। हाँ, गुणनिरूपण को संक्षिप्त अवश्य किया है। यहाँ हम विद्याधर की गुणधारणा की समीक्षा कर रहे हैं।

विद्याधर के अनुसार, आत्मा में शौर्यादि के समान, काव्य के अंगी रस में स्थित होकर उसे उत्कर्ष प्रदान करने वाले (धर्म) गुण कहे जाते हैं।[1] गुण लक्षण का प्रतिपादन करने वाली इस कारिका की व्याख्या करते हुए स्वोपज्ञ-वृत्ति में विद्याधर का कथन है कि माधुर्यादि गुण, आत्मा में शौर्यादि की तरह समवायवृत्ति से अंगीरस में स्थित रहते हुए उत्कर्ष हेतु होते हैं। विद्याधर के अनुसार उपचारतः अक्षरों को भी माधुर्यादि गुणों का व्यञ्जक कहा जाता है। जिस प्रकार लम्बे चौड़े शरीर वाले को देखकर, अधीरबुद्धि वाले लोग अशूर को भी 'यह शूर है' ऐसा मान लेते हैं, उसी प्रकार मधुर रस की व्यञ्जना करने वाले सुकुमार वर्णों में भी माधुर्यादि गुणों का व्यवहार करने लगते हैं। वस्तुतः गुण रस के ही धर्म होते हैं।[2]

विद्याधर ने भी रसाश्रित तीन ही गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद—स्वीकार किया है।[3] उनका लक्षण भी संक्षेपतया ही प्रतिपादित किया है।[4]

माधुर्य—माधुर्य गुण का लक्षण करते हुए विद्याधर ने उसे आनन्द को प्रवाहित करने वाला बताया है।[5] किन्तु बात इतने से ही स्पष्ट नहीं होती।

---

१. अंगिनि रसे स्थिता ये बिभ्रत्युत्कर्षहेतुतां सततम्।
आत्मनि शौर्यादय इव ते नामैते गुणाः कथिताः॥—एकावली, ५।१

२. आत्मनि शौर्याद्य इव समवायवृत्यांगिनि रसे स्थिताः सन्त उत्कर्षहेतवो भवन्ति माधुर्यादयो गुणाः। × × × × अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यंज्यन्ते। यथा प्रांशुतममवलोक्याशूरेऽपि शूरोऽयमिति शूरत्वबुद्धि विदधत्यविश्रान्तबुद्धयस्तथा मधुरादिरसधर्मव्यञ्जकत्वदर्शनात् सुकुमारेषु वर्णेष्वपि माधुर्यादि व्यवहरन्ति। वस्तुतस्तु रसस्य धर्मा गुणाः।
—एकावली, ५।६ की वृत्ति

३. त्रीनभिधाय गुणान्।—वही, ५।९

४. संक्षेपेणाधुना लक्ष्म गुणानां प्रणिगद्यते।—एकावली, ५।२

५. आनन्दस्यन्दिता तज्ज्ञैर्माधुमर्यभिधीयते॥—वही, ५।२

क्योंकि सभी रस आनन्दस्वरूप ही हैं।[1] यही कारण है कि विद्याधर ने आगे लिखा है कि वह चित्त को द्रवीभूत (जैसा) करता है।[2] मल्लिनाथ ने भी व्याख्या करते हुए 'तरल' टीका में लिखा है कि 'आनन्दस्यन्दिता' का अभिप्राय 'आह्लादैकमयत्व' से है और 'चित्त की विलीनता' का आशय 'चित्त के द्रवत्व (आर्द्रता)' से है।[3] विभिन्न रसों में माधुर्य गुण की स्थिति के सम्बन्ध में भी विद्याधर ने मम्मट के ही सिद्धान्त का अनुमोदन किया है। इनके अनुसार भी माधुर्य गुण, क्रमशः सम्भोग श्रृंगार, करुण विप्रलम्भ श्रृंगार और शान्त रसों में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है।[4] इस प्रकार माधुर्य गुण की स्थिति सर्वाधिक शान्तरस में रहती है।

ओज—ओज को आत्मविस्तार का कारणभूत दीप्ति माना गया है।[5]

मल्लिनाथ ने कहा है कि दीप्ति प्रज्ज्वलन है और यह चित्त के विकास का कारण है।[6] यह भी वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः अधिकाधिक उत्कर्ष को प्राप्त होता है।[7] किन्तु विद्याधर ने यहाँ मम्मटादि से अलग हटकर, स्वतंत्रतया अपनी मौलिकता प्रदर्शित करते हुए ओज की सर्वोत्कृष्ट स्थिति भयानक रस में मानी है। उनका कहना है कि स्वभाव की दीप्तता के कारण मनोमज्जनात्मक स्वभाव वाले भी भयानक रस में ओज अत्यन्त उत्कर्ष युक्त होता है।[8] इस प्रकार उन्होंने ओज गुण को वीर, वीभत्स और रौद्र रस के अतिरिक्त भयानक रस में भी स्वीकार किया है।

---

१. आनन्दो वै सः। (रसो वै आनन्दः)।

२. चित्तस्य विलीनत्वमिवार्पयत्।—एकावली, ५।३

३. आनन्देति—आह्लादैकमपत्वमित्यर्थः।.........चित्तस्य विलीनत्वं द्रवत्वम्।
—वही, ५।२–३ की तरल टीका

४. सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्ते च तत्क्रमात्। काष्ठां पुष्यति।—वही, ५।३

५. ओजो दीप्त्यात्मविस्तारकारणं परिकीर्तितम्।—वहीं, ५।४

६. दीप्तिः प्रज्वलनं तद्रूपो य आत्मविस्तारश्चित्तविकासस्तत्कारणमित्यर्थः।
—वही ५।४ की तरल टीका।

७. वही, ५।४

८. वही, ५।४

प्रसाद—शुष्क ईंधन में अग्नि की तरह, जो चित्त में झटिति व्याप्त हो जाता है, वह सभी रसों में रहने वाला, प्रसाद गुण माना गया है[1] विद्याधर ने यद्यपि प्रसाद के सम्बन्ध में भी मम्मट की ही गुणधारणा का अनुवर्तन किया है तथापि उन्होंने उनके द्वारा प्रयुक्त दो दृष्टान्तों में से एक को छोड़ दिया है। केवल अग्नि का दृष्टान्त ग्रहण किया है, जल का दृष्टान्त छोड़ दिया है। किन्तु उनके टीकाकार मल्लिनाथ ने तरल टीका में स्पष्ट करते हुए दोनों दृष्टान्तों की ओर संकेत किया है—"अग्नि के समान"—यह रौद्रादि रस के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है और इसके साथ ही श्रृंगारादि रसों में स्वच्छ जल की तरह का दृष्टान्त समझना चाहिए।[2]

विद्याधर ने भी प्राचीन आचार्यों के समस्त दस गुणों का अन्तर्भाव एवं निष्प्रयोजनता और दोषाभावरूपता प्रदर्शित की है। किन्तु उन्होंने शब्द और अर्थ गुणों की अलग गणना न करके केवल दस गुणों का कथन मात्र ही किया है। इसमें भी उन्होंने चतुराई दिखाई है। संज्ञा की समानता को दृष्टि से माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन गुणों को छोड़कर दस में से शेष सात गुणों का ही अन्तर्भावादि प्रदर्शित किया है और प्रायः मम्मट के ही कथन को उद्धृत किया है। श्लेष, समाधि और औदार्य ओजोगुण के अन्तर्गत स्वीकृत हैं। अर्थव्यक्ति तो प्रसाद से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। समता दोषाभावरूप है, गुण नहीं तथा सौकुमार्य और कान्ति तो दोष के विपर्यय रूप हैं।[3]

इस प्रकार विद्याधर का गुणनिरूपण अत्यन्त संक्षिप्त और पूर्वाचार्यों का सिद्धान्तानुवर्ती है।

---

१. यश्चित्तं व्यश्नुतेऽह्नाय शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादो मतः सर्वरससाधारणस्थितिः ॥—एकावली, ५।६

२. प्रसादं लक्षयति–य इति। अनलवदिति रौद्राद्यभिप्रायेण, श्रृंगारादिषु तु स्वच्छाम्बुवदिति द्रष्टव्यम्। अतएवोक्तं काव्यप्रकाशे––
शुष्केन्धनमग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥ इति।
—एकावली, ५।६ की तरल टीका।

३. एकावली, ५।७-८, श्लेषः समाधिरौदार्यमपि स्वीकृतमोजसा।
× × × ×
सौकुमार्यं च कान्तिश्च भवेद्दोषविपर्ययः ॥

१. वाग्भट—वाग्भट ने अपने अलंकारग्रन्थ 'वाग्भटालंकार' में प्राचीन आचार्यों के दस गुणों का उल्लेख किया है ।[१] इन्होंने भी गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की है । गुणों के अभाव में निर्दुष्ट शब्दार्थ प्रशस्य नहीं होते है ।[२] वाग्भट ने गुण विवेचन में प्राचीन आचार्यों की गुणधारणा का ही उपयोग किया है । कोई मौलिकता नहीं प्रदर्शित की है । यहाँ उनके द्वारा प्रतिपादित दश गुणों का लक्षण प्रस्तुत किया जाता है—

१—औदार्य—जहाँ पद एक दूसरे से मिले रहते हैं और अर्थ की चारुता को प्रकट करते हैं, वहाँ औदार्य गुण माना जाता है ।[३] वामन और दण्डी की औदार्यगुणधारणा का यह सम्मिलित रूप है ।

२—समता—बन्ध की जो अविषमता है, वही समता गुण कहा गया है ।[४]

३—कान्ति—बन्ध की उज्ज्वलता को ही कान्ति गुण कहा गया है ।[५]

४—अर्थव्यक्ति—अर्थ का अनेयत्व, अर्थव्यक्ति नामक गुण है ।[६]

५—प्रसाद—प्रसाद के लिए 'प्रसत्ति' शब्द प्रयुक्त हुआ है । झटिति अर्थ का अवबोध कराने वाला गुण 'प्रसत्ति' (प्रसाद) कहा गया है ।[७]

६—समाधि—अन्य के गुण का अन्यत्र निवेशन ही समाधि गुण है ।[८]

७—श्लेष—जहाँ परस्पर पद अनुस्यूत हों, वहाँ श्लेष गुण माना गया है ।[९]

---

१. औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता । समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥—वाग्भटालंकार, ३।२

२. अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना । तानीदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान् ॥—वही, ३।१

३. पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ॥ —वही, ३।३

४. बन्धस्य यदवैषम्यं समता सोच्यते बुधैः ।—वही, ३।५

५. यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता तथा ॥—वही, ३।५

६. यदनेयत्वमर्थस्य साऽर्थव्यक्तिः स्मृता यथा ।—वही ३।९

७. झटित्यर्थार्पकत्वं यत्प्रसत्तिः सोच्यते तथा ॥—वही, ३।९

८. स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते ।—वही, ३।१०

९. श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् ॥—वही, ३।११

८—ओज—ओजो गुण, 'समासभूयस्त्व' है और वह गद्य में अतिसुन्दर होता है।[1]

९—माधुर्य—सरसार्थपदता को माधुर्य गुण कहा गया है।[2]

१०—सौकुमार्य—पदों का अनिष्ठुराक्षरत्व, सौकुमार्य नामक गुण है।[3]

इस प्रकार वाग्भट ने गुणों का शब्दार्थाश्रित अलग-अलग भेद न करके केवल दस गुणों का प्रतिपादन, प्राचीन आचार्यों की गुणधारणा को मिला जुला कर किया है।

हेमचन्द्र—

आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' के चतुर्थ अध्याय में गुण निरूपण किया है। इन्होंने प्रधानतया आनन्दवर्धन और मम्मट की गुणधारणा का ही अनुवर्त्तन किया है। इन्होंने भी ध्वनिवादी आचार्यों के समान गुण को प्रधान रूप से रसाश्रित और गौण रूप से शब्दार्थाश्रित माना है।[4] गुणों को रसोत्कर्ष का हेतु मानते हुए, हेमचन्द्र ने भी तीन ही गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद—स्वीकार किया है।[5]

माधुर्य—शृंगार रस में चित्त-द्रुति का हेतु कहा गया है। शृंगार का अर्थ है संभोग शृंगार। हेमचन्द्र के अनुसार संभोग शृंगार के हास्य, अद्‌भुत आदि रस जो कि अंग हैं, माधुर्य उनमें भी रहता है।[6] माधुर्य गुण की स्थिति के सम्बन्ध में हेमचन्द्र की मान्यता मम्मटादि से भिन्न है। उन्होंने क्रमशः इसे

---

१. ओजः समासभूयस्त्वं तद् गद्येष्वतिसुन्दरम्।—वाग्भटालंकार, ३।११

२. सरसार्थपदत्वं यत् तन्माधुर्यमुदाहृतम्॥—वही, ३।१४

३. अनिष्ठुराक्षरत्वं यत् सौकुमार्यमिदं यथा।—वही, ३।१४

४. ते (गुणाः) च रसस्यैव धर्माः उपचारेण तु तदुपकारिणो शब्दार्थयोरुच्यन्ते।
—काव्यानुशासन, १, पृ० १९

५. गुणानां च रसोत्कर्षहेतुत्वं सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम्।
इदानीं तद्‌भेदानाह—माधुर्यौजः प्रसादास्त्रयो गुणाः॥—वही, ४, पृ० २३२

६. द्रुतिहेतुमाधुर्यं शृंगारे। द्रुतिरार्द्रता गलितत्वमिव चेतसः। शृंगारेऽर्थात्सम्भोगे। शृंगारस्य च ये हास्याद्‌भुतादयो रसा अंगानि, तेषामपि माधुर्यं गुणः।—वही, ४, पृ० २४१

शान्त, करुण और विप्रलम्भ में उत्तरोत्तर अधिक माना है।[1] माधुर्यव्यञ्जक वर्णों तथा रचना के विषय में वे मम्मट से सहमत हैं।

ओज—चित्त की दीप्ति अर्थात् उज्ज्वलिता का हेतु ओज है। अर्थात् जिसके कारण चित्त का विस्तार हो, वह ओजोगुण माना जाता है। यह ओज गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः अधिकाधिक रहता है। उन रसों के अंगभूत रसों तथा अद्भुत में भी अधिकता के साथ रहता है।[2] ओजोगुण के व्यंजक वर्ण तथा रचनायें वही है जैसा कि मम्मट मानते हैं।

प्रसाद—सभी रसों में चित्त के विकास का हेतु प्रसाद गुण है। शुष्क ईंधन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छवस्त्र में जल की भाँति सहसा होने वाली चित्त की व्याप्ति को विकास कहते हैं।[3] सुनने मात्र से ही अर्थ का बोध कराने वाले शब्द और रचनाएँ इसके व्यंजक हैं।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की स्वकृत 'विवेक' टीका में प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत दस गुणों का उल्लेख कर, उनमें से पाँच गुणों को पाठ धर्म मानने वाले किसी अन्य आचार्य (अथवा आचार्यों) के मत का उल्लेख किया है। साथ ही इसे व्यर्थ की कल्पना बताया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ओज, प्रसाद, माधुर्य, साम्य (समता) और औदार्य ये पाँच पाठगुण हैं। बिना रुके प्रवाह के साथ पढ़ना, ओजः; पदों को रुक-रुककर पढ़ना, प्रसाद; आरोहावरोह की लय के साथ पढ़ना, माधुर्य; स्पष्ट उच्चारण के साथ पढ़ना, औदार्य; और समान स्वर में पढ़ना, साम्य (समता) गुण है।[5] हेमचन्द्र का

१. शान्तकरुणविप्रलम्भेषु सातिशयम्।—काव्यानुशासन, ४, पृ० २४१।

२. दीप्तिहेतुरोजो वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिकम्। दीप्तिरुज्ज्वलिता। चित्तस्य विस्तार इति यावत्। क्रमेणेति वीराद्बीभत्से ततोऽपि रौद्रे। तेषामंगेऽद्भुते च सातिशयमोजः।—वही, ४, पृ० २४२।

३. विकासहेतुः प्रसादः सर्वत्र।
विकासः शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवच्च सहसैव चेतसो व्याप्तिः। सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु।—वही, ४, पृ० २४३।

४. इह श्रुतिमात्रेणार्थप्रत्यायका वर्णवृत्तिगुम्फः।—वही, ४, पृ० २४३

५. ओजः प्रसादमधुरिमानाः साम्यमौदार्यञ्च पदेत्यपरे। तथा हि-यद्दर्शि विच्छेदं पठतामोजः। विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः। आरोहावरोहतरंगिणि पाठे माधुर्यम्। ससौष्ठवमेव स्थानं पठतामौदार्यम्। अनुच्चनीचं पठतां साम्यमिति।—काव्यानुशासन टीका, पृ० २४०।

कथन है कि इन पाँचों गुणों को कुछ लोग छन्दोगुण मानते हैं। जैसे स्रग्धरादि में ओज, इन्द्रवज्रादि में प्रसाद : मन्दाक्रान्तादि में माधुर्य, विषमवृत्तों में औदार्य और शार्दूलविक्रीडित आदि में समता गुण पाया जाता है। हेमचन्द्र ने इससे अपनी असहमति प्रदर्शित की है।[1]

केशव मिश्र

केशव मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'अलंकारशेखर' के सप्तम, अष्टम और नवम मरीचि में क्रमशः शब्दगुणों, अर्थगुणों और वैशेषिक गुणों का निरूपण किया है। यद्यपि उनकी विवेचन पद्धति भोजराज का अनुसरण करती है तथापि उनकी गुणधारणा स्वतन्त्र है। प्रकारान्तर से, उन्होंने, गुणों को शौर्यादिवत् कहकर[2] उनकी रसाश्रयता को स्वीकार किया है। मुख्य रूप से गुणों की स्थिति शब्दों और अर्थों में मानते हुए उन्होंने दोषाभाव रूप से वैशेषिक गुणों को भी मान्यता दी है।[3] केशव मिश्र के अनुसार, शब्दगुण पाँच प्रकार के होते हैं—संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि। इन्हीं पाँच में अन्य सभी शब्दगुणों का अन्तर्भाव हो जाता है।[4] किन्तु शेष गुणों का इन पाँच गुणों में अन्तर्भाव का प्रकार उन्होंने नहीं प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार थोड़े से अक्षरों द्वारा अधिक अर्थ का कथन संक्षेप गुण है।[5] श्लाघ्य विशेषणता को उदात्त कहा जाता है।[6] तत्काल अर्थ का बोध कराने को प्रसाद कहते हैं।[7]

---

१. तदलीकमिदं कल्पनातन्त्रं यद्विषयविभागेषु पाठनियमः स कथं गुणनिमित्तमिति छन्दोविशेषनिवेश्या गुणसम्पत्तिरिति केचित्। तथा हि स्रग्धरादिष्वोजः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रादिषु प्रसादः। मन्दाक्रान्तादिषु माधुर्यम्। शार्दूलादिषु समता। विषमवृत्तेष्वौदार्यम्। सोऽयमनवगाहितप्रयोगाणां विभागक्रमः।
—काव्यानुशासन, पृ० २४०

२. गुणाः शौर्यादिवत्।—अलंकारशेखर, ७, पृ० २०

३. गुणः सामान्यतो द्वेधा शब्देष्वर्थेषु च स्थितः।
दोषाणामप्यदोषत्वं प्राहुर्वैशेषिकान् गुणान्॥—वही, ७.१, पृ० २०

४. संक्षिप्तत्वमुदात्तत्वं प्रसादोक्तिसमाधयः।
अत्रैवान्यसमावेशात्पञ्च शब्दगुणाः स्मृताः॥—वही, ७.२ पृ० २०

५. तत्र स्वल्पाक्षरेण भूयोऽर्थकथनं संक्षेपः।—अलंकारशेखर, ७ पृ० २०

६. श्लाघ्यविशेषणत्वमुदात्तत्वम्।—वही, पृ० २०

७. झटित्यर्थप्रत्यायकत्वं प्रसादम्।—वही, पृ० २१

कौशलपूर्वक विशेष अर्थ का लाभ उक्ति कहा जाता है।[1] किसी अन्य धर्म का अन्यत्र आरोपण समाधि नामक शब्द गुण है।[2]

केशव मिश्र ने चार ही अर्थगुण माने हैं। उनका कहना है कि भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्ति और सुधर्मिता, ये चार अर्थगुण हैं और शेष सभी अर्थगुण इन्हीं में संगत हो जाते हैं।[3] यहाँ भी उन्होंने अन्तर्भाव प्रकाश नहीं दिखाया है। उनके अनुसार, अभिप्रायपूर्णकथन भाविकत्व गुण माना जाता है।[4] दारुण अर्थ के लिए अदारुण पद का प्रयोग सुशब्दता गुण है।[5] यथोचित क्रम से वस्तु का कथन पर्यायोक्ति है।[6] जहाँ विशेषण द्वारा विशेष्य-लाभ हो वहाँ सुधर्मिता अर्थगुण होता है।[7]

केशवामिश्र ने अलंकारशेखर के नवम मरीचि में वैशेषिक गुणों का भी संक्षिप्त वर्णन किया है। उनका वैशेषिक गुण वर्णन भी भोजराज की वैशेषिक गुणधारणा का सर्वांशतः अनुवर्तन करता है। मौलिकता नाम की कोई वस्तु नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ साहित्यशास्त्र के प्रौढ़ एवं तार्किक आचार्य थे। उनकी चिन्तन पद्धति, उनके प्रकृष्ट पाण्डित्य के अनुरूप स्वाभिमान से युक्त, न्यायशास्त्र की सरणि से संगत है। 'रसगंगाधर' इसका परिचायक है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती मान्य आचार्यों के सिद्धान्त की समीक्षा करने के पश्चात् ही उनका खण्डन मण्डन किया है। अपनी प्रखर तार्किक प्रतिभा के बल पर उन्होंने वस्तु-विषय के प्रतिपादन में अद्‌भुत नवीनता का समावेश किया है। 'रसगंगाधर' के प्रथम आनन में गुण विवेचन के प्रसंग में भी पण्डितराज की

---

१. कौशलादर्थविशेषलाभ उक्तिः।—अलंकारशेखर, पृ० २१

२. अन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं समाधिः।—वही, पृ० २१

३. भाविकत्वं सुशब्दत्वं पर्यायोक्तिः सुधर्मिता।
चत्वारोऽर्थगुणाः प्रोक्ता परे त्वत्रैव संगताः॥—वही, ८, पृ० २१

४. भाविकत्वमभिप्रायपूर्वकाभिधानम्।—वही, पृ० २१

५ दारुणेऽर्थेऽदारुणपदता सुशब्दता।—वही, पृ० २१

६. येन क्रमेण यद्‌वस्तु तत्क्रमाभिधानं पर्योयोक्तिः।—वही, पृ० २१

७. यत्र विशेषणद्वारा विशेष्यलाभः सा सुधर्मिता।—वही, पृ० २१

प्रतिभा और तार्किक शैली का दर्शन मिलता है। यद्यपि पण्डितराज ने यह कहा है कि काव्य के लक्षण में गुणालंकारादि का सन्निवेश करना उचित नहीं है।[1] तथापि उन्होंने भी अन्य आचार्यों के समान रस को काव्य के आत्मा के रूप में स्वीकार किया है किन्तु उनकी यह मान्यता वेदान्त दर्शन की अनुयायिनी है। आत्मा, वेदान्त दर्शन में निर्गुण माना गया है। उसमें गुण का सद्भाव सम्भव ही नहीं है। इस लिए रस भी काव्य का आत्मा होने के कारण निर्गुण ही माना जाना चाहिए। इस प्रकार वेदान्तदर्शनानुसार, काव्यात्मरूप रस के धर्म के रूप में गुण को स्वीकार नहीं किया जा सकता। निष्कर्षतः पण्डितराज ने गुण की रसधर्मता का खण्डन किया है और वेदान्त की मान्यताओं की परिधि में ही गुणों के स्वरूप का निर्धारण करने की चेष्टा की है।

उन्होंने रसगंगाधर के प्रथम आनन में गुण विवेचन आरम्भ करते समय ही सर्वप्रथम ध्वनिवादी आचार्यों के द्वारा स्वीकृत तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—का उल्लेख करते हुए अपना मत प्रतिपादित किया है। पण्डितराज ने माधुर्यादि तीन गुणों के विषय निर्धारण के प्रसंग में तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, १—किन्हीं आचार्यों के मतानुसार संयोग शृंगार में जो माधुर्य है, उससे अधिक करुण में, उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ में और सर्वाधिक शान्तरस में रहता है क्योंकि इन रसों में क्रमशः उत्तरोत्तर चित्त की द्रुति (द्रवीभाव) होती है। २—दूसरे आचार्यों का मत है कि संयोग शृंगार की अपेक्षा करुण और शान्त में तथा उनसे भी अधिक विप्रलम्भ में माधुर्य गुण रहता है। ३—अन्य आचार्यों के मत में माधुर्य गुण संयोग शृंगार की अपेक्षा करुण, विप्रलम्भ एवं शान्त रसों में अधिक रहता है।[2] यहाँ द्वितीय मान्यता के सम्बन्ध में पण्डितराज का कथन है कि करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार में अधिक माधुर्य होने में यदि सहृदयों का

---

१. लक्षणे गुणालंकारादिनिवेशोऽपि न युक्तः।

—रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ३३

२. × × × माधुर्यौजः प्रसादाख्यांस्त्रीन्गुणानाहुः तत्र "शृंगारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते। उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जननात्" इति केचित्। "संयोगशृंगारात्करुणशान्तयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भे" इत्यपरे। संयोगशृंगारात्करुणविप्रलम्भशान्तेषु निरतिशयितमेव न पुनस्तत्रापि तारतम्यमित्यन्ये।"—रसगंगाधर, पृ० २२४

अनुभव साक्षी है, तो वही प्रमाण है ।[1] इसप्रकार, विप्रलम्भ शृंगार में माधुर्य सर्वाधिक होता है, पण्डितराज को ऐसा मानना अभीष्ट है ।

वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में ओजोगुण का क्रमशः उत्तरोत्तर आधिक्य होता है । क्योंकि उनमें चित्त की दीप्ति उत्तरोत्तर अधिक होती है । अद्‌भुत, हास्य और भयानक में कुछ आचार्य ओज और प्रसाद दो गुण मानते हैं । कुछ लोग केवल प्रसाद गुण ही मानते हैं । वस्तुतः सभी रचनाओं और सभी रसों में प्रसाद गुण साधारण होता है—ऐसा प्रायः सभी आचार्य मानते हैं ।[2] इस प्रकार प्रायः सभी रसों में दो-दो गुण रहते हैं । उपर्युक्त तीन गुणों की तीन चित्तवृत्तियाँ हैं । माधुर्य, ओज और प्रसाद की क्रमशः द्रुति, दीप्ति और विकास नामक चित्तवृत्तियाँ हैं । उन-उन गुणों से विशिष्ट रसों की चर्वणा (आस्वाद) से ये वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।[3]

उपयुक्त गुणों के रसमात्र का धर्म होने पर, "यह रचना मधुर है, यह रचना ओजस्विनी है" इत्यादि व्यवहार कैसे होता है, इस प्रश्न के उत्तर में मम्मट आदि के मत का उल्लेख करते हैं कि यह उसी प्रकार का लाक्षणिक प्रयोग है, जैसे शौर्यादि के आत्मा का गुण होने पर भी, "इसका आकार ही शूर है," इत्यादि व्यवहार होता है ।[4]

पण्डितराज जगन्नाथ ने गुणों की रसधर्मता का खण्डन कौशलपूर्वक किया है । उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि गुण, रस के धर्म हैं, यह सिद्ध करने में न

१. मध्यस्थे तु मते करुणाशान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये यदि सहृदयानामनुभवोऽस्ति साक्षी तदा स प्रमाणम् ।—रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० २२५

२. वीरवीभत्सरौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः । उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तदीप्तेर्जननात् । अद्‌भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति । अपरे तु प्रसादमात्रम् । प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च साधारणः ।
—वही, पृ० २२५–२६

३. गुणानां चैषां द्रुतिदीप्तिविकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः । तत्तद्‌गुणविशिष्टरसचर्वणाजन्या इति यावत् । —वही, पृ० २२६–२२७

४. एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवसितेषु मधुरा रचना, ओजस्वी बन्ध इत्यादयो व्यवहारा आकारोऽस्य शूर इत्यादिव्यवहारवदौपचारिकेति मम्मटभट्टादयः ।—वही, पृ० २२७

तो प्रत्यक्ष प्रमाण और न ही अनुमान प्रमाण प्रवृत्त होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसंग में अग्नि के स्पर्श (उष्ण) गुण और दाह कार्य में भेद का दृष्टान्त देकर तथा अनुमान के प्रसंग में कार्यकारण भाव के आधार पर, गुण की रस-धर्मता का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि जैसे आत्मा निर्गुण है, वैसे ही रस भी निर्गुण है।[1]

आगे पण्डितराज ने शंका उठाई है कि (जब माधुर्यादि गुण रसधर्म नहीं हैं तो) 'श्रृंगार मधुर है' इत्यादि व्यवहार कैसे होगा, इसका समाधान करते हुए पण्डितराज ने कहा है कि ऐसा द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता के कारण होता है। प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रुत्यादि ही माधुर्यादि (स्वरूप) हो जाते हैं।[2] इसका अभिप्राय है कि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता के कारण ही श्रृंगार आदि के लिए मधुर आदि का व्यवहार होता है। श्रृंगारादि रस वस्तुतः माधुर्यादि के प्रयोजक हैं। प्रायः ऐसा होता है कि जो वस्तु जिस धर्म का प्रयोजक होती है, उसका व्यवहार उस वस्तु के धर्म के रूप में ही होने लगता है। पण्डितराज ने अपने इस तर्क की पुष्टि में एक लौकिक दृष्टान्त दिया है। वाजिगन्धा (अश्वगन्धा, जिसे सामान्यतया 'असगन्धा' कहते हैं) नामक औषधि का प्रयोग उष्णता के लिए किया जाता है। अतः उष्णता की प्रयोजकता के कारण वाजिगन्धा को उष्ण कहा जाने लगा।[3]

इस प्रकार विषय का उपसंहार करते हुए निष्कर्ष रूप में पण्डितराज का कथन है कि अदृष्ट आदि से विलक्षण, शब्द-अर्थ-रस और रचना में रहने वाले प्रयोजकत्व का ग्रहण करना चाहिए। अतः व्यवहार के कारण अतिव्याप्ति नहीं होगी। फलतः शब्दार्थ में भी माधुर्यादि के इसी प्रकार स्थित रहने से (आनन्द-

---

१. द्रष्टव्य, रसगंगाधर।—पृ० २२७–२३२

२. अथ श्रृंगारो मधुर इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादि-चित्तवृत्तिप्रयोजकत्वं, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु।

—रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० २३३–३४

३. व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णेतिव्यवहारवदक्षतः।

—रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० २३३–३४

वर्धन-मम्मटादि द्वारा कल्पित) उपचार (अर्थात् लक्षणा) की कल्पना नहीं करनी चाहिए—यह मेरा मत है।[1]

पण्डितराज के उपर्युक्त प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि रस और माधुर्यादि में प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध है, न कि धर्मी-धर्म अथवा गुणी-गुण रूप सम्बन्ध। "अश्वगन्धा उष्ण है"—की ही तरह—"शृंगार मधुर है"—व्यवहार होता है। शब्द और अर्थ भी चित्त की द्रुति आदि के प्रयोजक हैं अतः उन्हें भी मधुर आदि कहा जाता है। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ के मत में शब्दार्थ को मधुर आदि कहने में लक्षणा की कल्पना अनावश्यक है।

गुण निरूपण के क्रम में आगे पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों को उद्धृत करते हुए कहा है कि वे (वामनादि), ये ही दस शब्द-गुण और दस अर्थगुण मानते हैं। नाम (संज्ञा) तो वही है किन्तु लक्षण भिन्न हैं।[2] पण्डितराज ने उन सभी शब्दगुणों और अर्थगुणों के लक्षणों को प्रस्तुत करते हुए उनकी समीक्षा की है। शब्दगुणों में कान्ति और समाधि को छोड़कर शेष श्लेषादि गुणों का वामनसम्मत लक्षण ही, उन्होंने शब्दभेद से उद्धृत किया है। कान्ति[3] और समाधि[4] गुणों के लक्षण का परिष्कार किया है। इसी प्रकार वामन के उदारता गुण में प्रयुक्त 'विकटत्व' की काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों द्वारा की गई "नृत्यत्प्रायत्व" व्याख्या का भी विरोध किया

---

१. प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्। अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः। तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः।—रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० २३४

२. जरत्तरास्तु—"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
　　अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥" इति दश
शब्दगुणान् दशैव चार्थगुणानामनन्ति। नामानि पुनस्तान्येव लक्षणं तु भिन्नम्।—वही, पृ० २३५

३. अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः।—वही, पृ० २४२

४. बन्धगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः। अनयोरेव प्राचीनैरारोहावरोहव्यपदेशः कृतः।—वही, पृ० २४२

है।[1] इसी प्रकार अर्थगत गुणों में, श्लेष[2], माधुर्य[3], अर्थव्यक्ति[4] और समाधि[5] गुणों का लक्षण पण्डितराज ने परिष्कृत रूप से किया है। शेष छः गुणों के लक्षणों को (वामनसम्मत) उसी प्रकार से उद्धृत किया है।

इतना सब करने के पश्चात् पण्डितराज ने (मम्मटाचार्य की पद्धति पर) इन सभी गुणों में से कुछ का अन्तर्भाव माधुर्यादि तीन गुणों में प्रदर्शित करते हुए, कुछ का गुणत्व न मानते हुए और कुछ को दोषाभाव रूप बतलाते हुए कहा है कि इस प्रकार मम्मटादि के मतानुसार गुण तीन ही हैं।[6] समालोचक विद्वानों ने इसे पण्डितराज की सहमति मानते हुए मत व्यक्त किया है कि उन्होंने भी प्राचीनों के इस दस गुणों के सिद्धान्त को अस्वीकार कर तीन ही गुण स्वीकार किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी वर्णों, पदों और रचनाओं की गुणव्यञ्जकता प्रदर्शित की है।[7] उनका यह प्रतिपादन मम्मटादि ध्वनिवादी आचार्यों से प्रायः अभिन्न ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ का उपर्युक्त गुण विवेचन विलक्षण ही है। उन्होंने एतत्सम्बन्धी प्राचीन मतों का विमर्श ही किया है। स्वतन्त्र रूप से गुणों के सम्बन्ध में प्रतिपादन नहीं किया है। ध्वनिवादी आचार्यों की तीन गुणों के

---

१. पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटतेति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते।........
तत्र तेषामेतादृशी विकटत्वलक्षणामुदारतामोजस्यन्तर्भावयन् काव्यप्रकाशकारः कथमनुकूल इति त एव जानन्ति।—रसगंगाधर, प्र०आ०, पृ० २४०

२. क्रियापरम्पराया विदग्धचेष्टितस्य तदस्फुटत्वस्य तदुपपादकयुक्तेश्च समानाधिकरण्यरूपः संसर्गः।—वही, पृ० २४३

३. एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुनः कथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।
—वही, पृ० २४४

४. वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारणक्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः।..........
अयमेवेदानीन्तनैःस्वभावोक्त्यलंकार इति व्यपदिश्यते।--वही, पृ० २४६

५. अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितप्रायो वेति वरालोचनं समाधिः।
--वही, पृ० २५०

६. × × × अतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः।—वही, पृ० २५४

७. द्रष्टव्य, रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० २५४–५८

सिद्धान्त की तथा प्राचीन आलंकारिकों वामनादि के दस गुणों के सिद्धान्त की समीक्षा करने में अवश्य ही उन्होंने कुछ मौलिक उद्भावनायें की हैं। गुणों की रसधर्मता का खण्डन करने के साथ ही दस शब्दार्थ-गुणों को भी अस्वीकार कर दिया है। इसके बावजूद उन्होंने वामन द्वारा किये गये कुछ शब्द गुणों और कुछ अर्थगुणों के लक्षण का परिष्कार भी किया है। इस तरह से हम पाते हैं कि पण्डितराज ने स्वतन्त्र रूप से न तो गुण सामान्य का लक्षण किया और न ही उनके भेद प्रदर्शित किये। गुणों की व्यंजकता का प्रतिपादन भी प्राचीनों का अनुवर्त्तन ही है।

इस प्रकार इस अध्याय में हमने आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक, काव्यशास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों--की गुण के स्वरूप से सम्बद्ध मान्यताओं (अवधारणा, भेद एवं लक्षण) का अनुशीलन किया। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक आचार्यो—नामिसाधु, भट्टोद्भट, प्रतिहारेन्दुराज, रत्नेश्वर, प्रकाशवर्ष, बहुरूपमिश्र, कर्णपूर, अच्युतराय, विश्वेश्वर पाण्डेय आदि ने भी गुणनिरूपण किया है। किन्तु इन सभी ने प्रायः किसी न किसी मान्य आचार्य की गुणावधारणा को ही प्रकार भेद से निरूपित किया है। अतः उनके विशेष महत्त्व को न देखकर, विस्तरभय से यहाँ उल्लेखमात्र से उनके प्रति आदर प्रर्दाशत किया गया।

तृतीय अध्याय
काव्य-गुणों की संख्या

जिस प्रकार काव्य-गुणों के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद हैं, उसी प्रकार गुणों की संख्या के सम्बन्ध में भी आचार्यों में मतैक्य नहीं है। कौन आचार्य काव्य में कितने गुण मानता है ? जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो गुण-विवेचन करने वाले आचार्यों के तीन वर्ग स्पष्ट रूप से बन जाते हैं, जिनमें से दो वर्गों की धारणायें ही अधिक प्रचलित होकर मान्यता प्राप्त कर सकीं। तीसरे वर्ग के आचार्यों में से अनेक इन दोनों वर्गों से भी जुटे हैं और साथ ही उन्होंने स्वयं स्वतन्त्र रूप से गुणों की संख्या निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। अतः हमने ऐसे आचार्यों को उन दो वर्गों से अलग रखकर ही विचार किया है। प्रथम दो वर्गों के आचार्यों की गुणसंख्या सम्बन्धी मान्यताएँ परस्पर समान्तर रूप से व्यवस्थित हैं और कतिपय आचार्यों ने अपनी धारणा के पक्ष में एक-दूसरे की मान्यताओं का खण्डन भी किया है, जिसे हम यहाँ विवेचन क्रम में आगे चलकर उस आचार्य की धारणा का विश्लेषण करते समय प्रदर्शित करेंगे।

गुणों की संख्या निर्धारित करने वाला प्रथम वर्ग ऐसे आचार्यों का है, जो गुणों को शब्दार्थाश्रित मानकर, उसकी संख्या दस मानते हैं। द्वितीय वर्ग के आचार्यों ने गुणों को काव्यात्मक रस का धर्म स्वीकार किया है और उन्हें संख्या में कुल तीन माना है। तृतीय वर्ग में ऐसे कुछ आचार्य हैं, जिन्होंने पूर्वोल्लिखित दोनों वर्गों की परम्परा का उल्लंघन कर गुणों की संख्या निर्धारित करने में अपनी मौलिक कल्पना से काम लिया है। ऐसे आचार्यों में भोजराज, कुन्तक, अग्निपुराणकार आदि प्रमुख हैं। महाभारतकार महर्षि व्यास और कौटिल्य आदि ने भी गुणों का जो उल्लेख किया है, उनकी संख्या विचारणीय है।

भरत

नाट्यशास्त्र में भरत ने दस काव्य गुणों का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम दस काव्यदोषों का वर्णन करके, उन्होंने उसके विपर्यय को गुण कहा है।[1]

---

१. एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
(एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।)
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥—नाट्यशास्त्र, १६|१५(काशी संस्करण)

नाट्यशास्त्र का जो संस्करण बम्बई से काव्यमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है, उसमें इन गुणों को नाट्यगुण कहा गया है और ये नाट्याश्रित दस दोषों के विपर्यय हैं।[1]

भरत ने दस गुणों का उल्लेख करते हुए उनका नामकरण क्रमशः—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति—किया है।[2] भरत ने गुणों का शब्द या अर्थ के आश्रय से भेद नहीं किया है किन्तु उनके द्वारा स्वीकृत काव्यगुणों में से कुछ शब्दगत हैं और कुछ अर्थगत हैं। कुछ गुणों का नामकरण भी इसी आशय से किया गया प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, उन्होंने सौकुमार्य को 'पदसौकुमार्य' कह कर उसे शब्दगत माना है और नामकरण में ही अर्थ की अभिव्यक्ति के प्रति आग्रह प्रदर्शित करते हुए 'अर्थव्यक्ति' नामक काव्यगुण को अर्थगत स्वीकार किया है। इसी प्रकार लक्षण के आधार पर 'पदसौकुमार्य' और 'कान्तिगुण' को शब्दार्थाश्रित मानकर गुणों की उभयाश्रयता का भी संकेत किया है। यद्यपि अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में भरत-प्रतिपादित दसों गुणों को शब्दार्थोभयाश्रित सिद्ध करने का प्रयास किया है तथापि इन गुणों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—शब्दगत, अर्थगत और उभयगत। प्रसाद, माधुर्य, ओज और समता—ये चार शब्दगत; अर्थव्यक्ति, उदारता और समाधि—ये तीन अर्थगत तथा सौकुमार्य, कान्ति और श्लेष—ये तीन शब्दार्थोभयगत काव्य-गुण हैं।

आचार्य भरत द्वारा परिगणित इन गुणों की संख्या और संज्ञा, दोनों ही परवर्ती अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकार की गई।

दण्डी

आचार्य दण्डी ने भरत का ही अनुसरण करते हुए गुणों की संख्या दस मानी है। दण्डी के पूर्व होने वाले आचार्य भामह ने इस प्रकार का कोई

---

१. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः॥
—नाट्यशास्त्र (काव्यमाला संस्करण) १६|१६

२. श्लेषः प्रसादः समता समाधिमाधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥
—वही, १६|१७

लगाव भरत से नहीं प्रदर्शित किया था। भामह की गुण संख्या विषयक मान्यता का उल्लेख हम आगे करेंगे। गुणों की संख्या के साथ ही दण्डी ने भरत द्वारा प्रदत्त गुणों का नाम भी यथावत् ग्रहण कर लिया। भरत ने जिस गुण का जो स्वरूप और लक्षण था, उसी के अनुरूप उसका नामकरण भी किया था। प्रायः दण्डी ने भी भरत द्वारा प्रतिपादित लक्षणों को ही अपने गुण विवेचन का आधार बनाया है। किन्हीं गुणों के विषय में उनकी मान्यता परिवर्तित भी हो गयी है। जिस गुण को भरत ने शब्द प्रधान मानकर उसका नामकरण किया और लक्षण दिया, वही गुण दण्डी की दृष्टि में अर्थप्रधान हो गया। दण्डी एवं भरत द्वारा प्रतिपादित गुणों के लक्षणों की परस्पर तुलना करने से उपयुंक्त अन्तर परिलक्षित होना है।

आचार्य दण्डी ने काव्य शैलियों को 'मार्ग' संज्ञा से अभिहित किया है। उन्होंने वैदर्भ और गौड़ काव्य मार्गों की विशिष्टता प्रदर्शित करते हुए, इन दसों गुणों का उल्लेख किया है। इन गुणों को उन्होंने वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है।[1] उनके अनुसार इन दसों गुणों का गौडमार्ग में प्रायः विपर्यय पाया जाता है।[2]

वामन

भरत और दण्डी द्वारा स्वीकार की गई गुण संख्या, वामन द्वारा भी समादृत हुई। उन्होंने मूलरूप से दस गुण स्वीकार करते हुए भी उन्हें शब्द और अर्थ के आधार पर द्विगुणित कर दिया। परम्परा से प्राप्त इन दस गुणों को वामन ने शब्द गत और अर्थगत मानकर उनकी संख्या बीस कर दी। अभिप्राय यह है कि एक ही नाम के गुण के दो स्वरूप हो गये। दोनों का लक्षण शब्द की दृष्टि से और अर्थ की दृष्टि से किया गया। भरत और दण्डी भी गुणों के अर्थगत और शब्दगत स्वरूप को स्वीकार करते थे किन्तु उन्होंने इस दृष्टि से दोनों को विभक्त कर उनमें पार्थक्य प्रदर्शित करने का कोई प्रयास नहीं किया। उनके कुछ गुण केवल शब्दगत थे और कुछ गुण केवल अर्थगत। वामन ने उन्हीं

---

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।—काव्यादर्श, १।४१-४२

२. एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥—वही, १।४२

दस गुणों में से प्रत्येक को शब्दाश्रित और अर्थाश्रित मानकर स्पष्ट रूप से उसका विभाजन कर दिया । यह वामन की अपनी मौलिकता है ।

दण्डी ने काव्यपद्धति को जिस अर्थ में 'मार्ग' कहा था, प्रायः उसी अर्थ में वामन ने उसके लिए 'रीति' शब्द का प्रयोग किया । किन्तु उन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को काव्य का सर्वस्व घोषित किया । वामन ने गुण को रीति में वैशिष्ट्य का आधान करने वाला काव्यधर्म स्वीकार किया[1] और गुणों के भावाभाव के आधार पर वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों का स्वरूप निर्धारित किया ।

जयदेव

कालक्रम की दृष्टि से वामन के परवर्ती अनेक आचार्यों ने अपनी पूर्व-परम्परा से प्राप्त दस काव्यगुणों की संख्या स्वीकार न करके इस सम्बन्ध में अपनी मौलिक कल्पनायें की हैं । ऐसे अनेक आचार्यों का उल्लेख हम तीसरे क्रम के अन्तर्गत करेंगे । वामन के बहुत बाद होने वाले प्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में भरत द्वारा प्रवर्तित गुण-परम्परा का अनुसरण करते हुए काव्य के दस गुणों का उल्लेख किया है । लेकिन इन दस गुणों में से जय-देव ने आठ गुणों की स्वतन्त्र सत्ता मानी है । श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य और उदारता—ये ही वे आठ गुण हैं, जिनकी स्वतन्त्र सत्ता जयदेव की दृष्टि से पुष्ट होती है । उन्होंने परम्परागत कान्ति गुण का अन्तर्भाव शृंगार रस में तथा अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव प्रसाद गुण में कर लिया ।[2]

वाग्भट

वाग्भट, वामनादि प्राचीन आचार्यों के दस गुणों को मान्यता प्रदान करते हैं । वाग्भटालंकार में उन्हीं दस गुणों का उल्लेख किया गया है ।[3] वाग्भट भी गुणों को भावात्मक मानते हैं । उनकी मान्यता है कि गुणों के अभाव में दोषरहित शब्द और अर्थ भी सुन्दर नहीं होते ।

१. विशेषो गुणात्मा ।—काव्यालंकारसूत्र, १।२।८

२. शृंगारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसंग्रहः ।—चन्द्रालोक, ४।१०

३. औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।
समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥—वाग्भटालंकार, ३।२

द्वितीय वर्ग के आचार्य, गुणों की संख्या असन्दिग्ध रूप से तीन ही मानते हैं। ये सभी आचार्य प्रायः ध्वनिवादी हैं। मम्मट आदि ने तो गुणों की संख्या दस मानने का विरोध करते हुए उसका खण्डन भी किया है। यहाँ अब हम उन आचार्यों तथा उनकी मान्यताओं का उल्लेख करेंगे जो गुणों की संख्या तीन ही मानते हैं।

भामह

आचार्य भामह ने भरत द्वारा प्रवर्तित दस काव्य-गुणों को नहीं माना। उन्होंने काव्य गुणों की संख्या केवल तीन ही मानी है। जिन तीन गुणों का उल्लेख भामह ने किया है,[1] वे भरत के दस गुणों में अवश्य ही परिगणित हैं। किन्तु नामसाम्य के अतिरिक्त भामह और भरत के इन तीनों गुणों में परस्पर कोई समानता नहीं है। भामह ने उनके स्वरूप का निर्धारण स्वतन्त्रतया मौलिक रूप से किया है। भामह द्वारा स्वीकृत तीनों काव्यगुण हैं—प्रसाद, ओज एवं माधुर्य। इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेख्य है कि भामह ने इन तीनों को कहीं भी 'गुण' नहीं कहा है। पदगत समास को इन तीनों गुणों का आधार मानकर भामह ने इन्हें संघटनाश्रित स्वीकार किया है जबकि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने इन्हें स्पष्टतः ही रसाश्रित माना है।

भामह ने भाविक' को प्रबन्ध गुण कहा है।[2] किन्तु भाविक को गुण कहने पर भी उसका विवेचन माधुर्यादि के साथ नहीं किया है। इसका उल्लेख उन्होंने अलंकार वर्णन क्रम में किया है। भामह ने भाविक गुण के हेतु के रूप में भी कई गुणों का उल्लेख किया है—चित्रार्थत्व, उदात्तार्थत्व अद्‌भुतार्थत्व, शब्दानाकुलत्व और कथास्वभिनीतत्व। भाविक गुण इन सभी गुणों का मिश्रण है भामह ने इन गुणों को कहीं भी परिभाषित नहीं किया है।

रीति विवेचन के प्रसंग में भी भामह ने कुछ गुणों का उल्लेख किया है। उन गुणों पर ही रीति का महत्त्व निर्भर रहता है। भामह के अनुसार कोई भी रीति अपने आप में किसी अन्य रीति से न तो श्रेष्ठ होती है और न ही न्यून। अपितु किसी रीति की श्रेष्ठता या न्यूनता का कारण उसमें—प्रसन्न, ऋजु, कोमल, श्रुतिपेशल, अग्राम्य और अनाकुल शब्दार्थ का होना या न

१. काव्यालंकार, २|१–२

२. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। —काव्यालंकार, ३/५३

होना ही है। इन गुणों के सद्भाव में गौडी रीति भी सुन्दर होती है अन्यथा वैदर्भी भी सुन्दर नहीं होती।[१]

यद्यपि भामह ने काव्यालंकार में प्रसंगतः कई अन्य गुणों का भी उल्लेख किया है तथापि परिभाषा केवल माधुर्य, प्रसाद और ओज की ही दी है। वे काव्यगुणों के व्यापकत्व और वैविध्य से परिचित थे किन्तु उन्होंने काव्य गुणों को अपने विवेचन में प्रमुखता नहीं दी है। यही कारण है कि उपर्युक्त तीनों गुणों को परिभाषित करके अन्य काव्यगुणों की ओर संकेत मात्र कर दिया है। दोष-वर्णन में भी भामह ने काव्यदोषों के स्वरूप का प्रतिपादन करने के बाद यह भी संकेतित किया है कि ये दोष भी कहीं काव्य के शोभाजनक हो जाते हैं। ऐसा उन्होंने दुरुक्त और पुनरुक्त दोषों के सम्बन्ध में तो स्पष्ट रूप से कहा है।[२] इसके अतिरिक्त आश्रय के सौन्दर्य से भी दोषों को सुन्दर माना है।[३] इसका अभिप्राय यह किया जा सकता है कि भामह को परिस्थितिविशेष या आश्रयविशेष से दोषों का गुणत्व मान्य था। ऐसी स्थिति में भामह की गुणधारणा विस्तृत हो जाती है।

डा० ए० बी० कीथ ने अपना मत व्यक्त किया है कि चूंकि दण्डी गुणों की संख्या दस मानते थे अतः उनकी इस मान्यता का खण्डन करने के लिए ही भामह ने गुणों की संख्या तीन मानी है। किन्तु इसके पीछे किसी ठोस तर्क का सर्वथा अभाव है। इसके अतिरिक्त अभी तक अधिकांश विद्वान् किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं कि पहले भामह हुए या दण्डी। यदि भामह, दण्डी के पूर्ववर्ती थे, तो डा० कीथ के मत का आधार ही ध्वस्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में डॉ० राघवन् का ही मत विचारणीय है कि भामह और दण्डी द्वारा मान्य गुणों की संख्या में जो भिन्नता है, वह प्राचीनकाल से

---

१. अपुष्टार्थम वक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्। भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥
अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्। गौडीयामपि साधीयः वैदर्भमपि नान्यथा॥
—काव्यालंकार, १|३४–३५

२. अ–सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।—वही, १/५४
ब–भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
.... यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः॥—वही, ४|१४

३. किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।—वही, १|५५

आ रही गुण सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं का फल है। कश्मीरी आचार्यों ने गुणों की संख्या तीन और विदर्भ प्रान्त के आचार्यों तथा उनके अनुयायियों ने गुणों की संख्या दस मानी है।

आनन्दवर्धन

भारतीय काव्यशास्त्र के अप्रतिम आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में गुणों का विवेचन करते हुए उनकी संख्या केवल तीन ही स्वीकार की है। ये तीनों गुण भामह द्वारा स्वीकृत तीनों गुण ही हैं किन्तु नामसाम्य के अतिरिक्त और कुछ भी परस्पर समान नहीं है। भामह के गुणों का स्वरूप आनन्दवर्धन के गुणों के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। इसका कारण दोनों आचार्यों की काव्यगत मान्यताओं का भेद ही है। जैसा कि हम देख चुके हैं, भामह ने गुणों का सम्बन्ध पदगत संघटना से स्थापित किया है और वह काव्यकलेवर से सम्बद्ध होने के कारण बाह्यवादी है। इसके विपरीत ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने गुणों का सम्बन्ध रस से स्थापित कर उसे आन्तरिक बना दिया है। इस प्रकार गुणों का सम्बन्ध काव्य की आत्मा के साथ जुड़ गया। गुण वस्तुतः रसधर्म ही हैं किन्तु कभी-कभी उपचारवशाद् उनका सम्बन्ध रस के व्यञ्जक शब्दार्थ के साथ भी जोड़ दिया जाता है।[1] आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में शास्त्रीय रीति से प्रतिपादन करते हुए गुणों का सम्बन्ध रस-भाव के साथ स्थापित किया है। आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत तीनों गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद ही हैं। आनन्दवर्धन की इस गुणसंख्या का अनुमोदन अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में किया है।

मम्मट

आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन की ही गुण धारणा का अनुमोदन कर उसे आगे बढ़ाया। आनन्दवर्धन की ही तरह मम्मट ने भी गुण को रसधर्म माना और स्पष्टतः प्रतिपादन किया कि जैसे शौर्यादि आत्मा के गुण हैं और वे आत्मोत्कर्ष के हेतु भी हैं, उसी तरह माधुर्यादि गुणों की रस के साथ अचल

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥
ते तमर्थरसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्।
—ध्वन्यालोक, २.६ एवं वृत्ति।

स्थिति रहती है ।[1] आनन्दवर्धन के ही समान मम्मट ने भी गुणों की संख्या तीन ही मानी है । गुण संख्या के विषय में वे इतने दृढ़ हैं कि उन्होंने स्पष्ट रूप से प्राचीन आचार्यों की गुण संख्या के मत का खण्डन करते हुए उसे दस मानने का निषेध किया है । मम्मट का कथन है कि माधुर्य, ओज और प्रसाद, ये तीन ही काव्यगुण हैं, दस नहीं ।[2] पूर्ववर्ती आचार्यों के दस गुणों का प्रपञ्च मम्मट अनावश्यक मानते हैं । यही कारण है कि काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में गुणों का विवेचन करते हुए उन्होंने तथाकथित दसों गुणों के सम्बन्ध में विचार कर उनका निराकरण किया है । प्रसंगतः इस प्रकरण की चर्चा करना गुण-संख्या के संदर्भ में आवश्यक ही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी है । यहाँ हम देखेंगे कि मम्मट ने किस प्रकार दस गुणों का निराकरण कर तीन गुणों को ही प्रतिष्ठित किया है ।

आचार्य मम्मट का कथन है कि वामनादि द्वारा प्रतिपादित उन दस गुणों में से कुछ तो इन्हीं तीन गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद) में अन्तर्भूत हो जाते हैं, कुछ दोषाभाव रूप होते हैं और कुछ तो कहीं-कहीं गुण न रहकर दोष-रूप हो जाते हैं । अतः काव्य गुण किसी भी तरह दस नहीं माने जा सकते ।[3]

आगे वृत्ति भाग में इसको विशद करते हुए मम्मट ने (कथाकथित उन दस गुणों के लक्षण के आधार पर) कहा है कि अनेक पदों की एक पद के समान प्रतीतिरूप श्लेषगुण, आरोह-अवरोह के क्रमरूप समाधि गुण, विकट-त्वरूप उदारता गुण और ओजोमिश्रित शैथिल्य रूप प्रसाद गुण—इन सभी का अन्तर्भाव ओजोगुण में हो जाता है । पृथक्पदस्वरूप माधुर्यगुण को समासरहित रचना की माधुर्यव्यञ्जकता के प्रतिपादन द्वारा प्रकारान्तर से साक्षात् स्वीकार ही कर लिया गया है । अर्थव्यक्ति तो प्रसाद गुण द्वारा ग्रहण ही कर ली गई है । मार्गाभिदरूप समता कहीं दोष हो जाती है । इसलिए समता को गुण कहना उचित नहीं है । इसी प्रकार कष्टत्व और ग्राम्यत्व चूँकि दोषों में परिगणित

---

१. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥—काव्यप्रकाश, ८।६६

२. माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।—वही, ८।६८

३. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥—वही, ८।७२

हैं, अतः उनके परित्याग से अपारुष्यरूप सौकुमार्य तथा औज्ज्वल्यरूप कान्ति-गुण भी दोषाभाव रूप से स्वीकृत कर ही लिए गये हैं। अतः दस शब्दगुण मानना समीचीन नहीं है।[1]

इस प्रकार दस शब्दगुणों की मान्यता का निराकरण करने के बाद अब आगे आचार्य मम्मट ने दस अर्थगुणों की अनुपपत्ति भी प्रदर्शित की है। इस सम्बन्ध में विमर्श करते हुए उनका कथन है कि—पद के प्रतिपाद्य अर्थ का बोधन करने हेतु वाक्य की रचना, वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ में पद का कथन करना, विस्तार या संक्षेप करना और अर्थ का साभिप्रायत्व—इन पाँचों को प्रौढ़ि कहते हैं, इस प्रकार जो प्रौढ़ि ओजोगुण कही गयी है, वह तो विचित्र-तामात्र ही है, गुण नहीं, क्योंकि काव्य-व्यवहार तो उसके अभाव में भी हो सकता है। अपुष्टार्थता, अधिकपदता, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लीलता तथा ग्राम्यत्व के निराकरण द्वारा साभिप्रायत्वरूप ओजोगुण, अर्थवैमल्यरूप प्रसादगुण, उक्तिवैचित्र्यरूप माधुर्यगुण, अपारुष्यरूप सौकुमार्यगुण और अग्राम्यतारूप उदारता गुण तो वस्तुतः दोषाभाव के अन्तर्गत ही माने गये हैं। स्वभावोक्ति अलंकार तथा रसध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यध्वनि से किसी वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता रूप अर्थव्यक्ति (गुण) और दीप्तरसस्वरूप कान्ति (गुण) स्वीकृत हो गये। क्रम-कौटिल्य, अनुल्वणत्व-उपपत्तियोगरूप रचनास्वरूप श्लेष (गुण) भी विचित्रता मात्र है। अवैषम्यरूप समता का अभाव दोष होगा, अतः समता दोष मात्र है, गुण नहीं। क्योंकि कोई पागल ही अन्य प्रकरण की बात अन्य में कहता है, बुद्धिमान व्यक्ति नहीं। इसके साथ ही, यदि अयोनि या अन्यच्छा-

१. बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वं रूपं माधुर्यभङ्ग्या साक्षादुपात्तम्, प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि 'मातंगाः किमु वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः। कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यं रूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

—काव्यप्रकाश, ८।७२ की वृत्ति।

यायोनि अर्थ का दर्शन न हो तो काव्य ही कैसे बने अतः अर्थदृष्टिरूप समाधि भी गुण नहीं है ।[1]

आचार्य वामन ने 'समाधि' नामक गुण का लक्षण करते हुए कहा है कि अर्थ का दर्शन समाधि है (अर्थदृष्टिः समाधिः ३।२।७)। आगे उन्होंने 'अर्थ' का स्पष्टीकरण करते हुए उसके दो भेद किये हैं—'अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छाया-योनिश्च' ३।२।८ । अयोनि का आशय है कारण रहित अर्थात् कवि की कल्पना भाव से उद्भूत और दूसरा अन्यच्छाया को लेकर वर्णित अर्थ । इन्हीं दोनों प्रकार के अर्थों का दर्शन, वामन का समाधि गुण है । इस पर आचार्य मम्मट की आपत्ति यह है कि इन दोनों अर्थों को अधिगत किये बिना कोई भी कवि, काव्य की रचना नहीं कर सकता । अतः यह 'अर्थदृष्टि' तो काव्य के कारणों में गृहीत हो सकती है, काव्य का गुण तो नहीं बन सकती ।

अतएव दस शब्दगुण और अर्थगुण नहीं मानना चाहिए । काव्यगुण वस्तुतः तीन ही हैं ।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने तर्कपूर्वक आचार्य आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करते हुए काव्यगुणों की संख्या परामार्थतः तीन ही सिद्ध की है ।

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों आनन्दवर्धन और मम्मट के द्वारा प्रवर्तित मार्ग पर चलते हुए गुण-निरूपण किया है । विश्वनाथ की दृष्टि

---

१. 'पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढ़िर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥'—इति या प्रौढ़िः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः । तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः । अपुष्टार्थ-त्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वामंगलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्राय-त्वरूपमोजः अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यम्, अपारूष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि । अभिधास्यमानस्वभावो-क्त्यलंकारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यंग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थ-व्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते । क्रमकौटिल्यामुल्बणत्वोपपत्तियोग-रूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम् । अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभाव-मात्रं न पुनर्गुणः । कः खल्वनुन्मत्तोऽस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात् । अर्थस्यायो-नेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम् इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः ।—काव्यप्रकाश, ८।७२ की वृत्ति ।

में भी गुण, काव्य के अंगीरस का धर्म है। माधुर्य, ओज और प्रसाद—यही तीन गुण विश्वनाथ को भी स्वीकार्य हैं।[1] रस का धर्म होने पर भी लक्षणावृत्ति से इन गुणों को शब्द का अर्थ भी माना जा सकता है।[2] आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में रसाश्रित इन तीनों गुणों का विवेचन करते हुए वामनादि द्वारा स्वीकृत गुणों की दस संख्या का खण्डन किया है। आचार्य मम्मट की ही भाँति इन्होंने भी उन दसों गुणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में दिखलाया है। वामनादि प्राचीन आचार्यों के दस शब्द गुणों और दस अर्थ गुणों को पृथक मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, इसी अभिप्राय से विश्वनाथ ने उक्त अन्तर्भाव अधोलिखित प्रकार से दिखलाया है—

प्राचीनों द्वारा कहे गये श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद, ये शब्दगुण ओज के अन्तर्गत हो जाते हैं।[3] अनेक पदों का एक पद के समान भासित होना श्लेष कहा जाता है। प्राचीन आचार्यों के सम्मत श्लेष का उदाहरण देते हुए ('उन्मज्जज्जलकुञ्जरे···' इत्यादि) उन्होंने लिखा है कि इस पद्य का बन्ध विकट है। बन्ध की विकटता ओज ही है। अतः श्लेषगुण ओज से अभिन्न ही है। आरोह और अवरोह के क्रम को समाधि कहते हैं। उत्कर्ष, आरोह और अपकर्ष, अवरोह है। इन दोनों की विरसता न पैदा करने वाला विन्यास ही 'क्रम' कहा जाता है। उदाहरणार्थ—'चञ्चद्भुज···' ॥ इत्यादि पद्य के तीन चरणों में बन्ध आरोहयुक्त और चौथे चरण में अवरोहयुक्त है, तथापि तीव्रप्रयत्न से उच्चार्य होने के कारण ओज के अनुरूप ही हैं। अतः समाधि ओज के ही अन्तर्गत है।[4] उदारता विकटत्व है और विकटत्व पदों की नाचती हुई सी दशा

१. रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥—साहित्यदर्पण, ८।१

२. एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्योच्यते बुधैः।—वही, ८।९

३. श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ॥
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते।—वही, ८।९–१०

४. श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानता। यथा—"उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्र····॥ अयं बन्धवैकट्यात्मकत्वादोज एव। समाधिरारोहावरोहक्रमः। आरोह उत्कर्षः अवरोहोऽपकर्षः। तयोः क्रमो वैरस्यतानावहो विन्यासः। यथा—'चञ्चद्भुज········' इत्यादि। अत्र पादत्रये क्रमेण बन्धस्य गाढता। चतुर्थपादे त्वपकर्षः। तस्यापि च तीव्रप्रयत्नोच्चार्यतया ओजस्विता।
—साहित्यदर्पण, ८।९–१० की वृत्ति।

को कहते हैं। जैसे—'सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणितिरणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च।'— पद्य में वामनादि पूर्वाचार्यों के मत से रसानुसन्धान के बिना ही शब्दों की प्रौढ़ि मात्र से ओज की प्रतीति होती है। ओज से मिले हुए शैथिल्य को प्रसाद माना गया है। अतः यह भी ओज के ही अन्तर्गत है।[1]

प्राचीनों के मतानुसार 'पृथक्पदत्व' लक्षण वाला 'माधुर्य' नामक शब्द-गुण होता है। अलग-अलग पदों का होना अर्थात् समासरहित पदों का होना माधुर्य कहलाता है। पहले जिस असमास को माधुर्यगुण का व्यञ्जक बताया गया है, उसी से यह माधुर्य भी अंगीकृत है। पदों का झटिति अर्थ व्यक्त करना, अर्थव्यक्ति नामक गुण कहा जाता है। अतः यह गुण पूर्वोक्त प्रसाद गुण के ही अन्तर्गत है। ग्राम्यत्व दोष के परित्याग से प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत 'कान्ति' शब्दगुण और दुःश्रवत्व नामक दोष के परित्याग से 'सुकुमारता' नामक शब्दगुण का आधान हो जाता है। उज्ज्वलता ही कान्ति है। ग्राम्यजनों द्वारा प्रयुक्त होने वाले पदों का काव्य में सन्निवेश न करने से लौकिक शोभा से युक्त होना उज्ज्वलता है। अतः ग्राम्यत्वदोष के निवारण से उसका स्वयमेव ग्रहण हो जाता है। पारुष्य (कठोरता) न होना यही सुकुमारता है। अतः ऐसे कठोर पदों के प्रयोग को निषिद्ध कर सुकुमारता का आधान किया जा सकता है।[2]

---

१. उदारता विकटत्वलक्षणा। विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्। यथा—'सुचरण-विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणितिरणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च।' अत्र च तन्मतानुसारेण रसानुसन्धानमन्तरेणैव शब्दप्रौढ़ोक्तिमात्रेणौजः। प्रसाद ओजोमिश्रित शैथिल्यात्मा। —साहित्यदर्पण, ८।९-१० की वृत्ति।

२. माधुर्यव्यंजकत्वं यदसमासस्य दर्शितम्।।
पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवांगीकृतं पुनः।
अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः।।
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम्।
ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता।।
कान्तिरौज्ज्वल्यम्। तच्च हालिकादिपदविन्यासवैपरीत्येन लौकिकशोभा-शालित्वम्। सुकुमारता अपारुष्यम्।

—वही, ८।१०-१२ एवं वृत्ति।

मार्गाभिदरूप समता कहीं दोष हो जाता है। जहाँ वह दोष नहीं होता, वहाँ प्रसाद, माधुर्य और ओज में उसका अन्तर्भाव हो जाता है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त रीति से विश्वनाथ ने प्राचीन आचार्यों के समस्त शब्दगुणों का रसनिष्ठ तीनों गुणों में अन्तर्भाव दिखलाकर आगे अर्थगुणों का अन्तर्भाव भी इन्हीं तीनों गुणों में दिखलाया है।

ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य और औदार्य—इनके अभाव की दोषों में गिनती की गई है। अतः ये गुण हैं। पदों का साभिप्रायत्व अर्थात् उनका किसी विशेष भाव का सूचक होना—'ओज' कहलाता है। 'अपुष्टार्थत्व' नामक दोष के निराकरण से इसका ग्रहण होता है। बिना किसी प्रयोजन के पदों का विन्यास अपुष्टार्थत्व दोष माना जाता है। जब इस दोष का परित्याग किया जायगा तो पदों की साभिप्रायता अपने आप आ जायगी। अतएव 'ओज' नामक अर्थगुण को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थ की विमलता प्रसाद नामक गुण है। अधिकपदता नामक दोष के परिहार से अर्थवैमल्य आ जाता है। उक्ति की विचित्रता या कथन की अपूर्वता माधुर्य नामक अर्थगुण है। यह 'अनवीकृतत्व' दोष के परित्याग से गृहीत होता है। कठोरता का अभाव ही सौकुमार्य का आधान करता है। अग्राम्यत्व उदारता है। अतः ग्राम्यत्व दोष के परिहार से ही यह गुण गतार्थ हो जाता है।[2]

प्राचीन आचार्य वस्तु के स्वभाव की स्फुटता रूप जिस 'अर्थव्यक्ति' को गुण मानते हैं वह तो स्वभावोक्ति अलंकार में ही गतार्थ है। रस की प्रदीप्ति को 'कान्ति' गुण कहते हैं, वह रसध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य में ही अन्तर्भूत है।[3]

---

१. क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभिदस्वरूपिणी।
अन्ययोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥—साहित्यदर्पण, ८।१३

२. ओजःप्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता। तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः ॥ ओजः साभिप्रायत्वम्। प्रसादोऽर्थवैमल्यम्। माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्। सौकुमार्यमपारुष्यम्। उदारता अग्राम्यत्वम्। एषां पञ्चानामप्यर्थगुणानां यथाक्रममपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामंगलरूपाश्लीलग्राम्यत्वानां निराकरणेनैवांगीकारः।
—वही, ८।१४ एवं वृत्ति।

३. अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालंकारेण तथा पुनः।
रसध्वनिगुणीभूतव्यंग्यानां कान्तिनामकः ॥—वही, ८।१५

विद्याधर

अलंकारशास्त्र के अपने ग्रन्थ 'एकावली' में विद्याधर ने गुणों का विवेचन करते हुए ध्वनिवादी आचार्यों के समान तीन गुण ही माना है। उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का स्वरूपकथन[1] संक्षेप में करने के बाद प्राचीन आचार्यों के दश-गुण-वाद का खण्डन करते हुए इन्हीं तीन में उन सब का अन्तर्भाव दिखलाया है।[2]

एकावली पर की गई तरल व्याख्या में मल्लिनाथ ने भी उपर्युक्त अन्तर्भाव का व्याख्यान किया है। इस प्रकार विद्याधर के मत में काव्यगुणों की संख्या तीन ही है।[3]

हेमचन्द्र

'काव्यानुशासन' के कर्त्ता आचार्य हेमचन्द्र ने गुणविवेचन के प्रसंग में ध्वनिवादी आचार्यों का अनुसरण किया है। उन्होंने काव्यगुणों की संख्या स्पष्ट रूप से तीन बताई है। ये काव्यगुण हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।[4] स्वयं द्वारा लिखी गई वृत्ति और टीका में उन्होंने अपने मत का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए पाँच या दस गुण मानने का निषेध करते हुए विभिन्न कारणों से उन गुणों का इन्हीं तीन में अन्तर्भाव दिखलाया है।[5] वामनादि प्राचीन आचार्यों के दस गुणों

---

१. विद्याधर : एकावली, ५।२–६

२. श्लेषः समाधिरौदार्यमपि स्वीकृतमोजसा। अर्थव्यक्तिः प्रसादाच्च कथंचिन्न-तिरिच्यते ॥७॥

समता दोषराहित्यमात्रं स्यान्नपुनर्गुणः। सौकुमार्य च कान्तिश्च भवेद्दोष-विपर्ययः ॥ ८ ॥

पदानामेकपदवद्भासमानत्वं श्लेषः। आरोहावरोहक्रमरूपः समाधिः। विकट-त्वमौदार्यम्। एषामन्तर्भाव ओजसि।.........अर्थव्यक्तिः प्रसादान्नापरा। मार्गाभेदरूपा समता दोषाभावमात्रं न गुणः। अपारुष्यरूपं सौकुमार्यं श्रुति-कटुकस्य दोषस्य विपर्ययः। पदानामौज्ज्वल्यरूपा कान्तिर्ग्राम्यस्य ॥

—एकावली, ५।७-८

३. त्रीनभिधाय गुणान्.........।—वही, ५।९

४. माधुर्यौजःप्रसादास्त्रयो गुणाः।—काव्यानुशासन, अध्याय ४, पृ० २३२

५. त्रयो न तु पञ्चदश वा। लक्षणस्य व्यभिचारादुच्यमानगुणेष्वेवान्तर्भावात्, दोषपरिहारेण स्वीकृतत्वाच्च।—वही, अध्याय ४, पृ० २३२–३३

के उल्लेख के पश्चात् पाठधर्म के रूप में स्वीकृत पाँच गुणों वाले सिद्धान्त का उल्लेख करके उसकी व्यर्थता का प्रतिपादन किया है।[1]

प्रतिहारेन्दुराज

उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका में वामन की गुण धारणा का अनुगमन करते हुए प्रतिहारेन्दुराज ने गुणसंख्या के विषय में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन का ही अनुसरण किया है। उनके मतानुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये तीन ही गुण हैं।[2]

कविकर्णपूर

कर्णपूर ने अलंकारकौस्तुभ में ध्वनिवादी आचार्यों की ही गुण सम्बन्धी मान्यता को अपनाया है। उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये ही गुण मानते हुए इन्हीं में वामनादि प्राचीन आचार्यों के दस गुणों का अन्तर्भाव दिखलाया है।[3]

'श्लेष' केवल विचित्रता है। चूँकि श्लेष द्वारा रस का कोई विशेष उपकार नहीं होता, अतः इसे गुण नहीं कहा जा सकता। 'समता' केवल दोषाभाव रूप है। अतएव इसको भी अलग से गुण मानना समीचीन नहीं है। समाधि को भी गुण नहीं माना जा सकता।[4] यह समाधि, काव्य के शरीरभूत

---

१. अ–तथा हि—''ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणा दश इति केचित्।—काव्यानुशासन टीकाभाग, पृ० २३२

ब–ओजःप्रसादमधुरिमाणः साम्यमौदार्यं च पञ्चेत्यपरे। तथा हि—यददर्शिविच्छेदं पठतामोजः। विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः। आरोहावरोहतरंगिणि पाठे माधुर्यम्। ससौष्ठवमेव स्थानं पठतामौदार्यम्। अनुच्चनीचं पठतां साम्यमिति। तदिदमलीकं कल्पनातन्त्रम् यद्विषयविभागेन पाठनियमः स कथं गुणनिमित्तमिति छन्दोविशेषनिवेश्या गुणसम्पत्तिरिति केचित्।

—वही, टीकाभाग, पृ० २४०

२. तत्र माधुर्यमाह्लादकत्वम्। ओजो गाढ़ता। प्रसादस्त्वव्यवधानेन रसाभिव्यक्त्नुगुणता। तदेतेषां त्रयाणां गुणानां मध्यात् प्रसादस्य प्राधान्यम्।

—काव्यालंकारसारसंग्रहटीका, पृ० ८१

३. डॉ० शोभाकान्त मिश्र : काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, पृ० १९१

४. श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम्।—साहित्यदर्पण, ८।१६

अर्थमात्र की साधिका होती है, काव्य के किसी असाधारण शोभा की आधायिका नहीं होती। अतः इसे भी गुण मानना तर्कसंगत नहीं है।[1]

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने भी मम्मट के ही समान प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शब्द और अर्थ गुणों के दस के समूह का अन्तर्भाव केवल तीन गुणों में दिखाकर, गुणों की संख्या तीन ही मानी है।

उपर्युक्त विवेचन से हमने यह देखा कि दस काव्यगुणों और तीन काव्यगुणों की विचारधारायें प्राचीनकाल से ही परस्पर समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही हैं। किन्तु इन दोनों विचारधाराओं से अलग हटकर आचार्यों का एक ऐसा भी समुदाय है, जो काव्यगुणों की संख्या के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण रखता है। ऐसे आचार्य भी हमें अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक उपलब्ध होते हैं। महाभारत, अर्थशास्त्र, अग्निपुराण से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक ऐसे समुदाय के सदस्य हैं। ये सभी आचार्य यत्र तत्र गुणों के स्वरूप के सम्बन्ध में समान विचार रखते हुए भी संख्या के सम्बन्ध में मौलिक विचारसरणि का प्रवर्तन करते हैं। इनमें से कुछ आचार्यों ने गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ से और कुछ ने रस से स्थापित किया है। तदनुसार गुणों का वर्गीकरण भी आचार्यों द्वारा किया गया है। कुछ आचार्यों ने दस गुणों की मान्यता का, कुछ ने तीन गुणों की मान्यता का खण्डन भी किया है। किन्हीं आचार्यों ने उपर्युक्त गुणसंख्याविषयक दोनों धारणाओं की आलोचना की है। अब हम गुणों की संख्या के सन्दर्भ में इन तृतीय वर्ग के आचार्यों के विचारों का विश्लेषण करेंगे।

महाभारत

महाभारत के शान्तिपर्व में काव्यगुणों का उल्लेख किया गया है।[2] महा-

---

१. "न गुणत्वं समधेश्च।"

अस्य चासाधारणशोभानाधायकत्वान्न गुणत्वम् किन्तु काव्यशरीरमात्रनिर्वर्तकत्वम्।—साहित्यदर्पण ८।१६ एवं वृत्ति।

२. उपेतार्थमभिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम्।

नाश्लक्ष्णं न च सन्दिग्धं वक्ष्यामि परमं ततः॥

न गुर्वक्षरसंयुक्तं पराङ्मुखसुखं न च।

नानृतं न त्रिवर्गेण विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम्॥

न न्यूनं कष्टशब्दं वा विक्रमाभिहितं न च।

न शेषमनुकल्पे न निष्कारणमहेतुकम्॥-महाभारत, शान्तिपर्व, ३२०।८७-८९

भारत के इस गुण-विवेचन ने परवर्ती काव्यशास्त्रीय गुणधारणा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भरत, वामन, दण्डी आदि के द्वारा वर्णित गुणों का स्वरूप महाभारत में वर्णित गुणों से प्रभावित है। भोजराज ने तो महाभारत के इस गुणवर्णन को अपने गुण विवेचन का आधार ही बना लिया। यद्यपि महाभारतकार ने केवल गुणों का नामोल्लेख कर दिया है और उनका लक्षण आदि नहीं दिया है फिर भी उनके नाम के आधार पर उनके स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। महाभारतकार ने कुल चौबीस काव्यगुण माने हैं। इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। भावात्मकगुण, दोषाभावात्मक गुण और वैशेषिक गुण। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने इन गुणों का स्पष्टीकरण किया है।[2] महाभारत में वर्णित २४ गुणों में से छः भावात्मक गुण हैं—१—उपेतार्थ, २—अभिन्नार्थ, ३—न्यायवृत्त, ४—अनधिक, ५—श्लक्ष्ण, और ६—असन्दिग्ध।

दोषाभाव काव्यगुणों की संख्या नौ है—१—गुर्वक्षरसंयुक्त का विपर्यय। २—पराङ्मुखसुखकरविपर्यय, ३—अनृतविपर्यय, ४—त्रिवर्गविरुद्धविपर्यय, ५—असंस्कृतविपर्यय, ६—अन्यून, ७—कष्टशब्दविपर्यय, ८—विक्रमाभिहित और ९—समाधिविपर्यय।

---

२. यहाँ नीलकण्ठी टीका का संक्षेप (अभीष्ट अंश) प्रस्तुत किया जा रहा है—काव्यगुणानाह—उपेतार्थमिति त्रिभिः। अत्रालंकारिकैः श्लेषादयः शब्दगुणाश्चतुर्विंशतिः प्रतिपादिताः। तेऽत्र शब्दान्तरैः संक्षेपेण चान्तर्भावेण च च पंचदश प्रोक्ताः। तत्र केन शब्देन को गुण उच्यते ? कस्मिंश्च को न्तर्भवति तत्संक्षेपेण प्रकाश्यते। तत्र श्लेषादयस्तावद् भोजेन प्रोक्ताः—'श्लेषः प्रसादः समता…… ॥'

उपेतार्थम् अर्थव्यक्तिः। सम्पूर्णवाक्यत्वरूपा। अभिन्नार्थम् अनामार्थम्। प्रसिद्धार्थपदत्वम् प्रसादाख्यम्। न्यायवृत्तं श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योग उदात्ताख्यः। न चाधिकं संक्षिप्तम् नाश्लक्ष्णं श्लेषाद्यष्टगुण युक्तम्। न संदिग्धं विविक्तपदतारूपमाधुर्यवत्। एते षट् वाक्यगुणाः। अतः परं नव पददोषा तेऽपि विपर्ययेण वाक्यगुणा एवेति नञ् सम्बन्धाद्बोध्याः। न गुर्वक्षरसंयुक्तम्। अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमाराख्यम्। निष्ठुराक्षरं तु 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' एवमादि। पराङ्मुखानां सुखकरं ग्राम्यम्। अश्लीलामंगलघृणावदर्थं ग्राम्यमिदं च न तथा। अन्तर्मुखग्राह्यम् सूक्ष्मार्थमित्यर्थः। यथोक्तम्—'अन्तःसंजल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते।'

अर्थशास्त्र (कौटिल्य)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में छः लेखगुणों का वर्णन हुआ है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर उक्त लेखगुण वस्तुतः काव्यगुण ही प्रतीत होते हैं। कौटिल्य द्वारा वर्णित वे छः गुण इस प्रकार हैं —

१—अर्थक्रम गुण—उपक्रम दोष या अभावरूप है।

२—सम्बन्ध गुण—यह भी दोष का अभावरूप ही है। वस्तुतः यह स्वतो-विरोध का परिहार है।

३—परिपूर्णता—न्यूनपदत्व और अधिकपदत्वदोषों का अभाव।

४—माधुर्य।

५—औदार्य।

६—स्पष्टत्व—प्रसाद गुण।

उदाहृतं च, 'केवलं दधाति·······॥' अनृतपुराणाद्यमूलकं मेघसन्देशादिवत्। ततोऽन्यत् श्रुत्यादिमूलकतया प्रौढोक्तिरूपम्। त्रिवर्गेण विरुद्धम्। असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोरिति धर्मशास्त्रविरुद्धम्।··········। श्रेयस्करं प्रेयः संज्ञम्। असंस्कृतम् देश्यम् तद्यथा····'गल्लौ············सखि॥' तदन्यत्। उक्तिसंज्ञं विशिष्टभणितिरूपम्। न्यूनमसमर्थम्—असंगतं पदं यत्तदसमर्थमिति स्मृतम्। इदं तदन्यत् समर्पविस्तररूपम्। कष्टशब्दं छन्दोव्याकरणदोषयुक्तं तदन्यत् क्लिष्टम्।··········। न शेषं शेषः पदान्तराध्याहारः। अनुकल्पे लक्षणा, तया युक्तत्वम्। निष्कारणं निष्प्रयोजनम्। अहेतुकम् युक्तिशून्यम्। अध्याहारलक्षणाफलयुक्त्यपेक्षमित्यर्थः।··············ऐतेर्दोषैर्हीनं भाविकत्वादिगुणान्तरयुक्तम्।·········दोषाणामपि गुणत्वं केनचिन्निमित्तेनोच्यते।··········तदेतदभिप्रेत्योक्तं नववाग्दोषा अष्टादश वाचो गुणा इति॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, ३२०।८७-८९ पर आचार्य नीलकण्ठकृत भारतभावदीप टीका (का संक्षिप्तांश)

१. अर्थक्रमः सम्बन्धः परिपूर्णता, माधुर्यमौदार्यं, स्पष्टत्वम् इति लेखसम्पत्। तत्र यथावदनुपूर्वक्रियाप्रधानस्यार्थस्य पूर्वमभिनिवेश इत्यर्थस्य क्रमः। प्रस्तुतस्यार्थस्यानुपरोधादुत्तरस्य विधानमासमाप्तेरिति सम्बन्धः। अथ पदाक्षराणामन्यूनातिरिक्तता हेतूदाहरणदृष्टान्तैरर्थोपवर्णनाश्रान्तपदैरिति परिपूर्णता। सुखोपनीतचार्वर्थशब्दाभिधानं माधुर्यम्। अग्राम्यशब्दाभिधानमौदार्यम्। प्रतीतिशब्दप्रयोगः स्पष्टत्वमिति। —अर्थशास्त्र, २।२६।१०

इस प्रकार हम देखते हैं कि कौटिल्य ने काव्यगुणों की संख्या छः मानी है, जिसमें तीन गुण दोषाभावरूप हैं और तीन गुण भावरूप हैं। भावरूप ये तीन गुण—माधुर्य, औदार्य और स्पष्टत्व (प्रसाद) परवर्ती काव्यशास्त्र में महत्त्व-पूर्ण माने गये।

अग्निपुराण

अग्निपुराणकार ने काव्यगुणों के दो वर्ग कल्पित किये हैं—सामान्य तथा वैशेषिक। अग्निपुराण में सामान्य गुणों का वर्णन करते हुए उनकी संख्या उन्नीस कही गयी है। किन्तु लक्षण करने के अवसर पर अठारह गुणों का ही उल्लेख मिलता है। इन सामान्य गुणों का विभाजन तीन श्रेणियों में किया गया है—शब्दगतगुण, अर्थगतगुण एवम् उभयगत गुण। शब्दगत गुणों के अन्तर्गत सात नाम गिनाए गये हैं—१—श्लेष, २—लालित्य, ३—गाम्भीर्य, ४—सौकुमार्य, ५—औदार्य, ६—सत्या और ७—यौगिकी।[1] किन्तु इन गुणों का लक्षण करते समय सत्या और यौगिकी का कहीं नामोनिशान नहीं है और इन दोनों के स्थान पर छठें गुण के रूप में ओजोगुण का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।[2] इस प्रकार उदारता (औदार्य) के बाद छठें गुण के रूप में ओज को मानकर शब्दगत गुणों की संख्या छः ही कही जा सकती है।

अर्थगत गुणों के रूप में अधोलिखित ६ का नामोल्लेख किया गया है—१—माधुर्य, २—संविधान, ३—कोमलत्व, ४—उदारत्व, ५—प्रौढि और ६—सामयिकत्व।[3]

इसी प्रकार उभयगत गुणों के रूप में निम्नलिखित ६ गुण परिगणित हैं—१—प्रसाद, २—सौभाग्य, ३—यथासंख्य, ४—प्रशस्यता, ५—पाक और ६—राग।[4]

---

१. श्लेषो लालित्यगाम्भीर्यसौकुमार्यमुदारता।
सत्यैव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ॥—अग्निपुराण, ३४६।५

२. ओजः समासभूयस्त्वमेतत्पद्यादिजीवितम्।—वही, ३४६।१०

३. माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढ़िःसामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति ॥—वही, ३४६।१२

४. तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्तता।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट्प्रपञ्चविपञ्चिताः ॥—वही, ३४६।२०

अग्निपुराण में उल्लिखित उपर्युक्त अठारह गुणों में से अनेक गुण तो वामनादि द्वारा स्वीकृत दस काव्यगुणों में प्राप्त होते हैं। माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीनों की स्थिति तो ध्वनिवादी आचार्यों के यहाँ भी है। शेष नवीन गुण अग्निपुराणकार द्वारा कल्पित हैं।

भोजराज

काव्यशास्त्रीय गुण विवेचन के इतिहास में भोजराज ही एकमात्र ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने काव्यगुणों की संख्या सर्वाधिक स्वीकृत की है। अन्य आचार्यों की अपेक्षा उनकी गुणधारणा भी स्वतन्त्र और मौलिक कही जा सकती है तथापि वह महाभारत की गुणधारणा से प्रभावित प्रतीत होती है, क्योंकि उन्होंने भी महाभारत की तरह ही, काव्यगुणों की संख्या चौबीस मानी है और इनका विवेचन सरस्वतीकण्ठाभरण और श्रृंगारप्रकाश में किया है।

भोजराज ने गुणों के तीन वर्ग कल्पित किए हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। शब्दगत गुणों को बाह्य कहा गया है और आभ्यन्तर गुण अर्थगत गुणों को माना गया। काव्य के कुछ दोष भी विशेष परिस्थितियों में काव्य के अपकर्षक न रहकर शोभाकारक बन जाते हैं। अतः वे दोष न रहकर गुण हो जाते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण के समान ही भोजराज ने भी गुणों को दो मुख्य वर्गों में विभक्त कर, सामान्य गुण-वर्ग के अन्तर्गत शब्दगत और अर्थगत गुणों को रखा तथा वैशेषिक गुणवर्ग के अन्तर्गत—दोष गुणों को रखा।[1]

यद्यपि भोजराज ने मूलरूप से गुणों की संख्या चौबीस ही मानी किन्तु उनकी तीनों श्रेणियों में प्रत्येक की गुण संख्या २४ मानी गई। इस प्रकार भोजराज के अनुसार २४ शब्दगुण, २४ अर्थगुण और २४ वैशेषिक गुणों की परिगणना की गई है। ये कुल मिलाकर २४ × ३ = ७२ हुए।

जिस प्रकार वामन ने मूलतः दस काव्यगुण मानते हुए भी शब्द और अर्थ के भेद से उनकी संख्या २० कर दी उसी प्रकार भोज ने भी सामान्य गुणों

---

१. त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति॥
बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, १

की संख्या २४ मानी और उनके शब्द और अर्थगत भेद करके संख्या ४८ कर दी। गुणों के दोनों प्रकारों में वामन की ही पद्धति का अनुसरण करते हुए नामसाम्य रखा गया है। भोजराज द्वारा स्वीकृत चौबीस गुण इस प्रकार हैं— श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता, उदात्तता, ओज, और्जित्य, सुशब्दता, समाधि, सूक्ष्मता, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति एवं प्रौढ़ि।[1] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गुणों की इस सूची को देखने मात्र से यह ज्ञात होता है कि इन गुणों में ही वामनादि द्वारा स्वीकृत दसों गुण सन्निविष्ट हैं तथा उनके नाम में भी अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त अनेक गुणों की कल्पना भोजराज ने स्वयं की है। भोज ने प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दो नाम वाले एक ही गुण से दो गुणों की सृष्टि कर दी है। यथा, उदारता गुण का लक्षण करते हुए भरत ने एक श्लोक में उसे उदारत्व और दूसरे श्लोक में उदात्त कहा था। भोज ने उन्हें दो अलग-अलग गुण मान लिया—उदारत्व और उदातत्व। चौबीस गुणों की मान्यता स्थापित करने के बावजूद भी भोजराज ने प्राचीनों के दस गुणों को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है। क्योंकि उनके स्वरूपवर्णन के पश्चात् भोजराज का यह कथन विशेष अभिप्राय रखता है कि उन श्लेषादि गुणों का विपर्यय 'अरीतिमत्' दोष उत्पन्न करता है।[2]

काव्य के कतिपय दोष भी अवस्थाविशेष में गुण हो जाते हैं। दोष से परिवर्तित हुए ऐसे गुणों को भोज ने वैशेषिक गुण कहा है।[3] काव्य-दोषों को गुणत्व प्रदान करने वाला कारक 'औचित्य' है। औचित्य से ही काव्यदोष, काव्यगुण बन जाते हैं। इस विषय में अलंकारवादी रुद्रट, दण्डी और ध्वनि-

---

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥
ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥
संक्षेपः सम्मितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १

२. गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः।
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते।—वही, १

३. वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।—वही, १

वादी आनन्दवर्द्धन आदि सभी आचार्य सहमत हैं।[1] इन आचार्यों ने ऐसा मानते हुए भी इन अनित्य दोषों के गुणत्व को कोई व्यवस्थित आयाम नहीं प्रदान किया। भोज का महत्त्व इस सन्दर्भ में विशिष्ट इसीलिए हो जाता है कि उन्होंने इन दोष-गुणों को 'वैशेषिक-गुण' की संज्ञा प्रदान कर उनकी संख्या और स्वरूप को सुव्यवस्थित किया। उन्होंने चौबीस प्रकार के काव्यदोषों का गुणत्व प्रदर्शित किया है। अतः वैशेषिक गुणों की संख्या भी चौबीस है। भोज ने इन वैशेषिक गुणों के भी तीन वर्ग निर्धारित किए हैं—पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थगत।

शब्दगत, अर्थगत और वाक्यगत गुणों पर विचार करने के पश्चात् भोज ने प्रबन्धगत गुणों पर भी विचार किया है। सम्पूर्ण प्रबन्धकाव्य को दृष्टि में रखकर विचार किए गए ये प्रबन्धगत गुण, भोज द्वारा पूर्व वर्णित गुणों (जिनकी संख्या ७२ है) से सर्वथा भिन्न हैं। भोज ने इन प्रबन्धगुणों को भी तीन भागों में विभक्त किया है--शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थोभयगत। ये सभी गुण क्रमशः इस प्रकार हैं[2]—

(क) शब्दगत प्रबन्धगुण—१–संक्षिप्तग्रन्थत्व २–अविषमबन्धत्व अथवा श्रव्यवृत्तत्व, ३—अनतिविस्तीर्णसर्गादित्व और ४–श्लिष्टसन्धित्व।

(ख) अर्थगत प्रबन्धगुण—१–चतुर्वर्गफलायतत्व, २—चतुरोदात्तनायकत्व, ३–रसभावनिरन्तरत्व, ४—विधिनिषेधव्युत्पादकत्व एवं ५–सुसूत्रसंविधानकत्व।

(ग) शब्दार्थोभयगत प्रबन्धगुण—१–रसानुरूपसन्दर्भत्व, २—पात्रानुरूपभाषत्व, ३—अर्थानुरूपछन्दस्त्व, ४—समस्तलोकरंजकत्व तथा ५—सदलंकारवाक्यत्व।

---

१. डॉ० शोभाकान्त मिश्र : काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, पृ० १०६

२. तत्र महाकाव्यादौ यथासम्भवं संक्षिप्तग्रन्थत्वम्, अविषमबन्धत्वम् (श्रव्यवृत्तवम्) अनतिविस्तीर्णसर्गादित्वम् श्लिष्टसंधित्वं चेति शब्दगुणाः। चतुर्वर्गफलायत्तत्वम्, चतुरोदात्तनायकत्वम्, रसभावनिरन्तरत्वम्, विधिनिषेधव्युत्पादकत्वम्, सुसूत्रसंविधानकत्वमित्यर्थगुणाः। रसानुरूपसन्दर्भत्वम्, पात्रानुरूपछन्दस्त्वम्, समस्तलोकरंजकत्वम्, सदलंकारवाक्यत्वमित्युभयगुणाः।

—भोजराज : शृंगारप्रकाश

इस प्रकार भोज द्वारा कल्पित इन सम्पूर्ण प्रबन्धगुणों की संख्या १४ है। इन प्रबन्धगुणों की कल्पना सर्वप्रथम भोजराज ने ही की है। भामह और दण्डी ने जिन तत्त्वों का उल्लेख प्रबन्ध (महाकाव्यादि) के आवश्यक अंगों के रूप में की थी, भोजराज ने उनमें से अधिकांश को प्रबन्धगुण की संज्ञा प्रदान कर उन्हें परिभाषित कर दिया।

भोजराज के गुण विवेचन का आगणन करने के पश्चात् हम स्पष्ट रूप से पाते हैं कि उनके द्वारा स्वीकृत (एवं कल्पित) गुणों की मूलसंख्या २४ × ३ = ७२ + १४=८६ (छियासी) है। किन्तु यदि उनके प्रभेदादि पर भी विचार किया जाय तो यह संख्या १०० से ऊपर पहुँच जाएगी। यह अतिविस्तार अनपेक्षित है।

परवर्ती आचार्यों में से भोज की गुणसंख्या विषयक धारणा का पोषण करने वाले दो आचार्य ही मुख्य रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। विश्वेश्वर की 'चमत्कारचन्द्रिका' में भोज के तेईस गुणों का उल्लेख हुआ है। विश्वेश्वर ने भोज द्वारा स्वीकृत 'प्रौढ़ि' को गुण नहीं माना है।[1] अतः विश्वेश्वर की दृष्टि में काव्यगुणों की संख्या तेईस ही है।

प्रकाशवर्ष ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'रसार्णवालंकार' में काव्य गुणों पर विचार करते हुए भोजराज का ही अनुसरण किया है। प्रकाशवर्ष ने भोज द्वारा स्वीकृत चौबीस गुणों में से 'प्रौढ़ि' और 'गति' नामक गुणों को छोड़कर शेष बाईस गुणों को ही अपनी स्वीकृति दी है।[2] इस प्रकार प्रकाशवर्ष काव्यगुणों की संख्या बाईस ही मानते हैं। किन्तु सामान्य गुणों की इस संख्या के अतिरिक्त उन्होंने भोज के २४ वैशेषिक गुणों को भी यथावत् स्वीकार करके उनका उल्लेख किया है।[3]

कुन्तक

आचार्य कुन्तक ने गुणों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। दस गुण और तीन गुण मानने वाले दोनों प्रकार के आचार्यों की विचारधारा

१. डॉ० शोभाकान्त मिश्र : काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन पृ० १८५

२. वही, पृ० १८६

३. दोषाणामपि येषां स्यादगुणत्वं कारणात् क्वचित्।
चतुर्विंशत्तदुच्यन्ते ते च वैशेषिका गुणाः॥

—रसार्णवालंकार, ७।३५–३६

से बिल्कुल अलग, कुन्तक ने गुण-संख्या और उसके वर्गीकरण के सम्बन्ध में मौलिकता प्रदर्शित की है। सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम—इन तीन काव्यमार्गों का वर्णन करने के पश्चात् अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में कुन्तक ने उन मार्गों के विशेष गुणों पर प्रकाश डाला है। इन विशेष गुणों पर 'असाधारण गुण' कहा गया। ऐसे असाधारण गुणों की संख्या प्रत्येक मार्ग के लिए चार हैं। वे चारों गुण हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। इस प्रकार तीनों मार्गों के असाधारण गुणों की संख्या कुल मिलाकर १२ होती है। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्तक ने उन तीनों मार्गों के लिये साधारण गुण की भी कल्पना की है और उनकी संख्या २ निर्धारित की है। वे दोनों साधारण गुण हैं—औचित्य और सौभाग्य। कुन्तक ने इन दोनों गुणों को पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध का गुण कहा है।[1] चूँकि तीनों मार्गों में इन्हें साधारण कहा गया है अतः तीनों मार्गों के लिए इनकी गुणसंख्या दो ही हुई। किन्तु गुणसंख्या की दृष्टि से यदि हम पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध के इन दो साधारण गुणों की गणना करें, तो इधर इनकी संख्या ४ × २ = ८ होनी चाहिए। वस्तुतः संकलन प्रक्रिया द्वारा गुणसंख्या का भेद अभीष्ट नहीं है अपितु कुन्तक की दृष्टि में ये औचित्य और सौभाग्य दोनों ही साधारण गुण प्रत्येक दशा में दो ही हैं। अतः इन्हें संख्या की दृष्टि से दो ही मानना समीचीन है। इसके विपरीत तीनों मार्गों के असाधारण गुणों में स्वरूप की भिन्नता है। उदाहरण के लिये सुकुमार मार्ग के माधुर्य की प्रकृति, विचित्र मार्ग के माधुर्य की प्रकृति से भिन्न है।[2] ऐसा ही अन्य गुणों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

इस प्रकार सभी तीनों मार्गों के माधुर्यादि चार असाधारण तथा दो साधारण गुणों को मिलाकर कुन्तक के मत में काव्यगुणों की कुल संख्या (३ × ४= १२ + २=१४) चौदह है।

१. एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्जवलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥—वक्रोक्तिजीवित, १।५७

२. (अ)–असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ॥—वही, १।३०

(ब)–वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते।
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥—वही, १।४४

क्षेमेन्द्र

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्यगुण के सम्बन्ध में विचार अपने ग्रन्थ कविकण्ठाभरण में किया है। इस विषय में वे किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य से प्रभावित नहीं है और उनकी गुणधारणा सर्वथा मौलिक है। यद्यपि भामह की तरह उन्होंने भी तीन ही गुण स्वीकार किया तथापि जिन काव्यगुणों का उल्लेख किया है, वे हैं—शब्दवैमल्य, अर्थवैमल्य और रसवैमल्य।[1] इस प्रकार क्षेमेन्द्र के मतानुसार तीन ही काव्यगुण हैं।

जयदेव

जयदेव ने 'चन्द्रालोक' के चतुर्थ मयूख में काव्यगुणों का वर्णन किया है। उन्होंने वामनादि द्वारा मान्य दस काव्यगुणों का उल्लेख करके उनमें से दो गुणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की और केवल आठ गुण ही माना है। प्राचीनों के कान्तिगुण का अन्तर्भाव शृंगाररस में तथा अर्थव्यक्ति गुण का अन्तर्भाव प्रसाद गुण में माना है। इस प्रकार जयदेव के मतानुसार गुणों की संख्या दस न होकर आठ ही है।[2]

विद्यानाथ

गुणधारणा के सम्बन्ध में विद्यानाथ ने प्रायः भोज का अनुसरण किया है। उन्होंने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक अपने अलङ्कार ग्रन्थ में भोजराज द्वारा प्रतिपादित चौबीस काव्यगुणों का उल्लेख किया है।[3]

---

१. तत्र शब्दवैमल्यमर्थवैमल्यं रसवैमल्यमिति त्रयः काव्यगुणाः।

—कविकण्ठाभरण, पृ० १३१

२. शृंगारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसंग्रहः।
अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा ॥—चन्द्रालोक, ४।१०

३. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वं तथा कान्तिरुदात्तता ॥
ओजः सुशब्दता प्रेयानौर्जित्यमर्थविस्तरः।
समाधिः सौक्ष्म्यगाम्भीर्ये संक्षेपो भाविकं तथा ॥
संमितत्वं तथा प्रौढी रीतिरुक्तिर्गतिस्तथा।
चतुर्विंशतिरेते स्युर्गुणाः काव्यप्रकाशकाः ॥

— प्रतापरुद्रयशोभूषण, ६।१–३

बहुरूपमिश्र

धनञ्जय के नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'दशरूपक' की एक टीका 'दशरूपकदीपिका' के नाम से उपलब्ध होती है। इस टीका के कर्ता आचार्य बहुरूप मिश्र हैं। यद्यपि आचार्य धनञ्जय ने दशरूपक में कहीं भी काव्यगुणों की चर्चा नहीं की है तथापि दीपिकाकार बहुरूपमिश्र ने गुणों का संक्षिप्त उल्लेख उचित अवसर निकालकर कर ही दिया है। उन्होंने गुणों को भी अलंकारों की ही वृहत् परिभाषा के अन्तर्गत उल्लिखित किया है, क्योंकि उनकी धारणा है कि काव्य को अलंकृत करने वाले तत्त्व अलंकार कहे जाते हैं। युवती के रूप-लावण्ययौवनादि की भाँति अलंकार्य शरीर में निविष्ट जो तत्त्व शरीर की शोभा के लिए होते हैं, वही वस्तुतः गुण हैं। वे गुण तीन प्रकार के होते हैं—शब्द गुण, अर्थगुण और वैशेषिक गुण।[1]

बहुरूपमिश्र भी गुणधारणा प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं पर ही आश्रित है। उन्होंने मौलिक रूप से कुछ भी नहीं लिखा है। उन्होंने आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित दस काव्यगुणों का उल्लेख किया है। प्राचीनों के दस गुणों के साथ ही भोज ने नवीन चौदह गुणों को मिलाकर उनकी संख्या चौबीस कर दी है। इन चौबीस गुणों का उल्लेख करके बहुरूप मिश्र ने उनका संक्षिप्त विवेचन किया है। इससे यह सम्भावना प्रबल हो जाती है कि वे काव्यगुणों की संख्या के सम्बन्ध में भी भोज का अनुसरण करते हुए उन्हें कुल चौबीस मानते हैं।[2]

---

१. तत्र युवतीरूपलावण्ययौवनादिवदलंकार्यशरीरनिविष्टा ये शरीरशोभायै भवन्ति ते गुणाः। ये त्वलंकार्यात् पृथग्भूता हारनूपुरकेयूरादिवदुपमारूपकादयः काव्यमलंकुर्वन्ति तेऽलंकाराः। तत्र त्रिविधाः गुणाः—शब्दगुणा अर्थगुणा वैशेषिकगुणाश्चेति।—डॉ० अमरनाथ पाण्डेय : दशरूपकदीपिका, पृ० १४२

२. तत्र भरतमुनिना दशगुणा उपदिष्टा :—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥ इति।

भोजराजेन लभ्ये गुणाश्चतुर्दशोक्ताः आहृत्य चतुर्विंशतिः। श्लेषः प्रसादः समता, माधुर्यं, सुकुमारता, अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः (कान्तिरुदात्तत्वम्) औजित्यं, प्रेयः, सुशब्दता, समाधिः, सौक्ष्म्यं, गाम्भीर्यं, विस्तरः, संक्षेप, सम्मितत्वं (भाविकत्वं) गतिरुक्तिः प्रौढिरिति।—वही, पृ० १४२-४३

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' काव्यशास्त्र का एक विलक्षण ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने नव्य न्याय की प्रौढ़ तार्किक पद्धति पर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना की है। वे वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम दुर्धर्ष चिन्तक-मनीषी थे।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भरत, दण्डी, वामनादि अलंकारिकों एवं आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि ध्वनिवादियों द्वारा प्रतिपादित गुण सिद्धान्तों का आलोचन कर उनके मतवैभिन्न का परीक्षण किया है। उन्होंने उपर्युक्त स्वीकृत सिद्धान्तों का परिष्कार करके अपने सिद्धान्त की स्थापना भी की है। पण्डितराज जगन्नाथ की प्रतिपादन शैली मौलिक है।

पण्डितराज ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों तथा ध्वनिवादी आचार्यों के तीन गुणों का उल्लेख किया है। किन्तु उन्होंने प्राचीन आचार्यों के उन्हीं दस गुणों की सीमारेखा में ही रहते हुए उनमें से कुछ गुणों के नवीन स्वरूप की कल्पना अवश्य कर ली है। स्वरूप की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी ध्वनिवादियों के तीनों गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद, नाम की दृष्टि से उन्हीं दस गुणों के अन्दर ही परिगणित किए जा सकते हैं। कहने का आशय यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन काव्यगुणों को माना है। ध्वनिवादियों ने भी इनके नाम वहीं से लिये हैं (नामपरिवर्तन नहीं किया गया) किन्तु अपने सिद्धान्तों के आधार पर उनके स्वरूपों का निर्धारण किया है। अतः एक ही नाम वाले काव्यगुण के स्वरूप में सम्प्रदायगत मान्यताओं के कारण मौलिक भेद आ गया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्राचीन आचार्यों के उन्हीं दस गुणों का उल्लेख करके, उनकी संज्ञा में बिना कोई परिवर्तन किए, कुछ गुणों के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में शब्दार्थगत दस गुणों के ही संख्यापरिमाण में अपनी मौलिक कल्पना से कुछ गुणों का नवीन स्वरूप प्रतिपादित किया है। वस्तुतः उन्हें काव्यगुणों की संख्या क्या अभीष्ट थी, इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में गुणसंख्या के निर्धारण और नियमन के सम्बन्ध में कुछ

प्रयास अवश्य हुए किन्तु उसमें सफलता न मिली। फलस्वरूप किसी एक निश्चित संख्या की प्रतिबद्धता न स्थापित हो सकी और इस सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव रहा। काव्यशास्त्र के आरम्भिक काल में भी आचार्य भरत का अनुसरण करने वाले आचार्य मूलतः दस काव्यगुणों को स्वीकार करके भी अपनी मौलिकता प्रदर्शित करने हेतु उनका वर्गीकरण और विस्तार करते रहे। उन्हीं में से एक भामह ने इस परम्परा का त्यागकर, ध्वनिवादियों के लिए तीन गुणों के सिद्धान्त का बीजवपन किया। जहाँ एक ओर भोजराज ने गुणों की संख्या का अत्यन्त विस्तार कर डाला वहीं दूसरी ओर ध्वनिवादी आचार्यों और विशेष रूप से मम्मट ने प्रबल तर्कों से शब्दार्थगत दस गुणों की संख्या को कम से कम सीमित करने का प्रयत्न किया। किन्तु, प्राचीन आचार्यों के शब्दार्थगत दस गुणों के सिद्धान्त का मूलोच्छेदन न हो सका और वह गुणधारणा भी पलती रही।

अतः हमारी दृष्टि है कि गुणों के दोनों पक्षों—शब्दार्थगत और रसाश्रित, को मान्यता दी जानी चाहिए तथा दस शब्दार्थगतगुण और तीन रसगत गुण स्वीकार कर काव्यगुणों की संख्या तेरह मानना समीचीन होगा।

चतुर्थ अध्याय

गुणों का महत्त्व एवम् अलंकारादि से उनका सम्बन्ध

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास का आलोचन करने पर यह ज्ञात होता है कि यद्यपि आचार्यगण प्रारम्भ से ही काव्य में रस की स्थिति को किसी न किसी प्रकार अनिवार्य रूप से अवश्य स्वीकार करते थे तथापि काव्य के किसी न किसी तत्त्व को उन्होंने विशेष महत्त्व प्रदान किया और उसके लिए उनका विशिष्ट आग्रह रहा है। आचार्यों के इस आग्रह का ही परिणाम विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। अलंकार सम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय और ध्वनिसम्प्रदाय का प्रवर्तन कर आचार्यों ने उसे स्थापित करने में अपनी तरफ से कोई कोरकसर बाकी न रखी। किन्तु इनमें से किसी भी सम्प्रदाय के सिद्धान्त सर्वमान्य न हो सके। रीति, वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदाय तो अधिक विकसित न हो सके किन्तु अलंकार, रस और ध्वनि सम्प्रदायों को व्यापक समर्थन मिला। काव्यशास्त्र के विकास की चरम परिणति (अद्यावधि) ध्वनि के रूप में परिलक्षित होती है। ध्वनितत्त्व के परम प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में ध्वनि को काव्य का आत्मा स्वीकार करते हुए भी अलंकारादि अन्य तत्त्वों का (उपादेयता की दृष्टि से) काव्य में स्थान निरूपित किया है। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर माने ही गये थे। रीति, पदसंघटना के रूप में स्वीकृत हुई। गुणों को आत्मा के उत्कर्षाधायक धर्म के रूप में मान्यता मिली और काव्य का आत्मा स्वीकार हुआ रसादिध्वनि। अलंकारों को काव्य का शोभाजनक बाह्य (एवम् अनित्य) धर्म माना गया। इस प्रकार काव्यसौन्दर्य के सम्बन्ध में सम्प्रदायगत मतवैभिन्न के कारण काव्यगुणों के मूल्यांकन में मतभेद होना तो स्वतःसिद्ध था ही। अतः इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। इसे ध्यान में रखकर यहाँ हम अलंकारादि तत्त्वों से काव्यगुणों के सम्बन्ध का पर्यालोचन करेंगे और देखेंगे कि गुणों का काव्य में क्या महत्त्व है।

अलंकार और गुण

अलंकार और गुण परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। आचार्य वामन से पहले तक इन दोनों का पार्थक्य प्रतिपादित करने का सम्भवतः प्रयास तक नहीं

हुआ था। आचार्य भरत ने तो गुण का लक्षण भी नहीं बताया और न ही अलंकार से उसकी भिन्नता को स्पष्ट किया। बल्कि गुण और अलंकार की समाश्रयता का समर्थन ही उनके द्वारा किया गया है—ऐसा प्रतीत होता है। एक स्थान पर 'समता' नामक गुण को परिलक्षित करते हुए उन्होंने लिखा है कि अलंकार और गुण को एक दूसरे की शोभा का हेतु होना चाहिए।[१] हेमचन्द्र के अनुसार आचार्य दण्डी, भरत की इस मान्यता का समर्थन नहीं करते। क्योंकि उनका मत है कि अलंकार और गुण का आश्रय अलग-अलग होने से उनका एक दूसरे का आभूषण बनना सम्भव नहीं है।[२] किन्तु यह मत हेमचन्द्र का अपना प्रतीत होता है, जिसे उन्होंने दण्डी के नाम से उल्लिखित किया है क्योंकि दण्डी ने काव्यादर्श में कहीं भी अलंकार और गुण के आश्रय का भेद स्पष्ट नहीं किया हैं। आनन्दवर्धन की ही तरह हेमचन्द्र ने भी गुणों की रसाश्रयता मानी है। साथ ही वे अलंकारों को शब्दार्थगत मानने के पक्षधर दिखाई देते हैं। यद्यपि भरत और दण्डी गुण के आश्रय के सम्बन्ध में प्रत्यक्षतः मौन हैं तथापि उनके प्रतिपादनों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके कुछ गुण शब्दाश्रयी, कुछ अर्थाश्रयी और कुछ उभयाश्रयी हैं। इसी प्रकार आचार्य वामन तो स्पष्ट रूप से अपने गुणों का विभाजन 'शब्दगुण' और 'अर्थगुण'—रूप में करते हैं। अलंकारों को सभी आचार्यों ने द्विविध-शब्दालंकार और अर्थालंकार माना है। अतः अलंकार और गुणों के आश्रय का भेद स्पष्ट न होने का फल यह हुआ कि प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य कुछ गुण आगे चलकर अलंकार के रूप में माने गये और कुछ अलंकार भी गुणों के रूप में गिने जाने लगे। उदाहरणार्थ, वामन द्वारा प्रतिपादित अर्थव्यक्ति नामक गुण मम्मट के स्वभावोक्ति अलंकार में समाहित हो गया और कान्ति नामक अर्थ गुण रसवदलंकार अथवा गुणीभूतव्यंग्य से अभिन्न मान लिया गया।[३] इसी प्रकार

---

१. अन्योऽन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योऽन्यभूषणाः ।
अलंकारा गुणाश्चैव समाः स्युः समता मताः ॥—नाट्यशास्त्र, १६।१०१

२. भिन्नाधिकरणा हि गुणालंकारास्तत्कथमन्योऽन्यं भूषयेयुरिति दण्डी–काव्यानुशासन वृत्ति, पृ० २३५

३. अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यंग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता ।
—काव्यप्रकाश, ८।७२ पर वृत्ति

भोजदेव ने प्रेम, उर्जस्वि आदि अलंकारों को गुण की मान्यता प्रदान कर दी ।

इस प्रकार गुणों और अलंकारों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में काव्य-शास्त्र के आचार्यों की मान्यताओं का अवलोकन समीचीन होगा ।

आचार्य भरत

जैसा कि हम जानते हैं, आचार्य भरत ने मुख्य रूप से नाट्यशास्त्र की दृष्टि से ही विचार किया है । उन्होंने अलंकार और गुण का सामान्य स्वरूप नहीं परिभाषित किया और न तो उनमें अन्तर दिखाने का ही उपक्रम किया । वाचिक अभिनय के निरूपण के प्रसंग में उन्होंने गुणों और अलंकारों का वर्णन करके उनकी उपादेयता पर विचार किया है । भरत के अनुसार ये दोनों—गुण और अलंकार शब्द और अर्थ पर आश्रित रहते हुए उनके गौरव को बढ़ाने वाले धर्म हैं ।

आचार्य भामह

आचार्य भामह ने भी अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में गुण का कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया है । गुण भी काव्य की शोभा बढ़ाते हैं अतः भामह को गुण भी काव्य के अलंकार के रूप में ही सम्भवतः मान्य है । उन्होंने 'भाविक' को प्रबन्ध गुण कहा है । जबकि अलंकार वर्णन के प्रसंग में ही भाविक अलंकार का उल्लेख है । यद्यपि काव्यालंकार में माधुर्य, ओज और प्रसाद का उल्लेख हुआ है किन्तु उन्हें 'गुण' संज्ञा नहीं दी गयी है । भामह की दृष्टि में शायद ये भी अलंकारों के ही सदृश थे । इनका विवेचन भामह ने अलंकारों से पूर्व करते हुए भी इन्हें पृथक् परिच्छेद में नहीं रखा है । डा० एस० के० डे का विचार है कि भामह गुणों को अलंकारों से भिन्न मानते हुए भी दोनों को समान ही स्वीकार करते थे । ठीक वैसे ही जैसा कि आगे चलकर दण्डी ने गुणों को भी व्यापक अर्थ में अलंकार ही कहा है ।[२] किन्तु दण्डी और भामह की इस प्रकार की मान्यता में एक स्पष्ट भेद है । दण्डी ने गुणों को असाधारण अलंकार कहकर उन्हें मार्ग (रीति) विभाजक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है और इस

---

१. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥—काव्यालंकार, ३।५३,

२. Bhamaha would not hesitate to take them in the wider acceptation of an Alankara as that which embellishes just in the same way as Dandin does—S. K. De. Some problems of Sanskrit Poetics, page. 60.

अर्थ में उपमादि अलंकारों से गुणों का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया है किन्तु भामह सिद्धान्ततः गुण और अलंकार को मूल रूप से एक ही मानते हैं।

दण्डी

सामान्य रूप से दण्डी ने काव्य के शोभाकारक सभी तत्त्वों को अलंकार कहा है,[1] फिर भी सर्वप्रथम काव्यादर्श में ही गुण और अलंकार के अन्तर को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। दण्डी की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर गुण, अलंकार, वृत्ति आदि सभी तत्त्व जो काव्य को अलंकृत करते हैं, एक ही श्रेणी में आ जाते हैं किन्तु उनके मौलिक अन्तर के प्रति अवश्य ही दण्डी जागरूक थे। दण्डी की इस विशद अलंकार-धारणा को देखते हुए महा-महो० पी० वी० काणे का कहना है कि काव्यादर्श गुण और अलंकार में भेद नहीं करता।[2] किन्तु काणे की यह धारणा समीचीन प्रतीत नहीं होती। यद्यपि दण्डी व्यापक अर्थों में गुण को भी अलंकार कहते हैं तथापि उपमादि अलंकारों को गुण नहीं कहते। इससे स्पष्ट है कि वे गुण को मार्ग-विभाजक असाधारण धर्म मानते हैं और अलंकार को साधारण धर्म।

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में वैदर्भ और गौड़ मार्गों का उल्लेख करते हुए, दोनों के विभाजन का आधार गुणों को ही बनाया गया है। दण्डी ने श्लेष आदि दस गुणों को वैदर्भमार्ग का प्रभाव कहा है और साथ ही यह भी कहा है कि गौडमार्ग में प्रायः इन गुणों का विपर्यय देखा जाता है[3]। वस्तुतः वैदर्भमार्ग के सभी गुणों का विपर्यय गौड मार्ग में नहीं पाया जाता। दण्डी ने स्वयं कुछ गुणों को दोनों मार्ग के गुण के रूप में स्वीकार किया है। यही कारण है कि गौड मार्ग में गुणों के विपर्यय का कथन करते हुए उन्होंने 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया है। समाधि, उदारता आदि गुण दोनों मार्गों के गुण हैं।

काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद के आरम्भ में दण्डी ने लिखा है कि पीछे (प्रथम परिच्छेद में) मार्ग विभाजक कुछ 'अलंक्रिया' (अलंकार रूप गुण) का

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —काव्यादर्श, २ १

2. Dandin's work .... make no distinction between the Gunas and Alankaras—P.V. Kane, History of Sanskrit Poetics; page 362.

३. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ —काव्यादर्श, १।१४२

वर्णन किया गया और अब सामान्य अलंकारों का वर्णन किया जा रहा है ।[1] काव्यादर्श के कुछ टीकाकारों (जैसे रंगाचार्य आदि) ने दण्डी के 'अलंक्रिया' पद का व्यापक अर्थ न लेकर संकुचित अर्थ 'अलंकार' ही किया है । उन्होंने 'अलंक्रिया' का अर्थ स्पष्टतः 'शब्दालंकार' बतलाते हुए लिखा है कि श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास और यमक आदि मार्ग विभाजक हैं ।[2] किन्तु ऐसी व्याख्या करना उचित नहीं है । क्योंकि दण्डी, दोषों के परिहार से उत्पन्न गुणों को भी अलंकार या अलंक्रिया कहते हैं । दण्डी का कथन है कि जहाँ कवि संशय उत्पन्न करने के लिए जानकर सन्देहयुक्त वाक्य का प्रयोग करता है, वहाँ संशय दोष न होकर अलंकार हो जाता है ।[3] इसी प्रकार अत्यधिक अनुकम्पा आदि विवक्षित होने पर पुनरुक्तदोष भी अलंक्रिया होती है ।[4] यहाँ 'अलकार' या अलंक्रिया स्पष्टतः 'गुण' के ही अर्थ में प्रयुक्त है । क्योंकि स्वयं दण्डी ने आगे साफ तौर पर स्वीकार किया है कि देश, काल, कला, आगम आदि के विरोध रूप दोष, कवि कौशल से दोषों की श्रेणी से निकल कर गुणों की परिधि में आ जाते हैं ।[5]

काव्यादर्श का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दण्डी अलंकार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व देते थे । वे निस्सन्देह, गुण को उत्तम काव्य का आवश्यक धर्म मानते थे । स्पष्ट रूप से उल्लेख न करते हुए भी वे गुण को काव्य की आतमा के रूप में मान्यता प्रदान करने के पक्ष थे । उन्होंने काव्य शरीर का निरूपण इष्ट अर्थ से युक्त पदावली के रूप में किया है ।[6] काव्य के

---

१. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥—वही, २।३

२. काश्चित् श्रुत्यनुप्रासवृत्यनुप्रासयमकादयः । अलंक्रियाः शब्दालंकाराः ।
—वही, प्रभाटीका ।

३. ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते ।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥—वही, ३।१४२

४. अनुकम्पातिशयो यदि कश्चित् विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥—वही, ३।१३७

५. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥—काव्यादर्श, ३।१७९

६. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ वही, १।१०

एक मार्ग वैदर्भ के प्राण रूप श्लेषादि दस गुणों का प्रतिपादन उन्होंने किया है। इनमें से कुछ गुण दूसरे मार्ग गौड के भी प्राणभूत हैं। दण्डी दोनों मार्गों में निबद्ध गद्य को ओज के कारण ही प्राणवान् मानते हैं।[1] समाधि-गुण को तो दण्डी काव्य के सर्वस्व के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं जिसे प्रकारान्तर से काव्यात्मा रूप में कवियों का समर्थन प्राप्त होता है।[2] इस प्रकार निश्चय ही दण्डी गुण को काव्य के आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

आचार्य दण्डी द्वारा गुणों को मार्ग-विभाजक कहने का आधार क्या था— यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी विचारणीय है। दण्डी द्वारा स्वीकृत दसों गुणों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्लेष, प्रसाद, समता, कान्ति एवं सुकुमारता केवल वैदर्भ मार्ग के गुण हैं। ओज वैदर्भ मार्ग में गद्य में गुण है और गौड मार्ग में पद्य में भी गुण है। अतः कुछ अंश तक इसमें भी मार्ग विभाजकत्व है। माधुर्य का श्रुत्यनुप्रासगत भेद भी एकमार्गीय है। शेष सभी गुण दोनों मार्गों में सामान्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुणों को मार्ग-विभाजक कहने का आधार प्राधान्य मात्र है। अधिकांश गुण एकमार्गगत हैं। इन्हीं के आधार पर दोनों मार्गों में अन्तर किया जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, शेष गुण (अर्थव्यक्ति, उदारता और समाधि) मार्गद्वय-सामान्य हैं। साथ ही रूपक आदि अलंकार भी मार्गद्वय-सामान्य हैं। दण्डी के अनुसार दोनों ही काव्य के अलंकार हैं। अब प्रश्न यह है कि ऐसी दशा में दोनों को भिन्न क्यों माना जाय ?

सम्भवतः दण्डी इस समस्या के प्रति अवश्य सतर्क थे। अतः उन्होंने उपर्युक्त सामान्य गुणों के लक्षण में सामान्य अलंकारों से भेद का संकेत कर दिया है। दण्डी ने कहीं भी सामान्य अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं कहा है। किसी अलंकार के अभाव में काव्यत्व की हानि नहीं होती किन्तु इन गुणों से रहित काव्य की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। पीछे हम देख चुके हैं कि दण्डी ने समाधिगुण को 'काव्यसर्वस्व' कहा है। इस प्रकार काव्य में 'समाधि गुण' की अनिवार्य सत्ता प्रतिष्ठित कर दी गई। उदारता के सम्बन्ध

---

१. ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।—काव्यादर्श, १।८०

२. तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
　कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति॥—वही, १।१००

में दण्डी का कहना है कि उससे काव्यपद्धति सनाथ होती है।[१] अतः यह भी आवश्यक ही है। अर्थव्यक्ति गुण नेयत्व दोष का अभाव रूप माना गया है। अतः अर्थव्यक्ति गुण के बिना नेयत्व दोष के कारण काव्यत्व की हानि होगी। इस प्रकार अर्थव्यक्ति भी काव्य का नित्य धर्म है। माधुर्य के अग्राम्यता भेद को दण्डी रसोत्कर्ष में अलंकारों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[२] अतएव स्पष्ट है कि आचार्य दण्डी, काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

संक्षेपतः दण्डी की गुण और अलंकार सम्बन्धी मान्यता को हम इस प्रकार कह सकते हैं—

(क) दण्डी, गुणों को भी काव्य का शोभाधायक होने के कारण विशद अर्थ में अलङ्कार कहते हैं।

(ख) गुणों के आधार पर काव्यमार्ग का विभाजन होता है और गुण, मार्ग में वैशिष्ट्य के हेतु होते हैं। अधिकांश गुण वैदर्भमार्ग में अवस्थित हैं।

(ग) अलङ्कार दोनों मार्गों — वैदर्भ और गौड—में उभयनिष्ठ हैं। कुछ गुण भी मार्गद्वय में उभयनिष्ठ हैं। किन्तु वे अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अलंकार के अभाव में काव्यत्व की हानि नहीं होती किन्तु गुणों का अभाव काव्यत्व विघातक है। अलंकार और गुण दोनों ही रस का पोषण करते हैं।

उद्भट

उद्भट ने अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में गुणों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'भामह विवरण' में गुण और अलंकार के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है, जैसे परवर्ती आचार्यों ने उद्धृत कर उसकी समीक्षा की है। उद्भट के अनुसार गुण, संघटना पर आश्रित हैं। गुण और अलंकार समवाय सम्बन्ध से काव्य में स्थित है। अतः दोनों में भेद करना व्यर्थ है। उनकी इस मान्यता का आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट आदि सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने खण्डन किया है। उद्भट की इस अभेदधारणा का मूल यह है कि

१. तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः।—काव्यादर्श, १।७६

२. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥—वही, १।६२

गुण और अलंकार दोनों ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व हैं तथा दोनों ही समवाय सम्बन्ध से काव्य में स्थिति हैं।

वस्तुतः उद्भट, गुण और अलंकार के आश्रय का भेद निरूपित नहीं कर सके। अतः वे इन दोनों के स्वरूपगत भेद का निर्णय करने में असमर्थ रहे।

वामन

गुण और अलंकार का तात्त्विक भेद, सर्वप्रथम वामन ने ही स्पष्ट किया। वे उद्भट के समकालिक थे। डा० वी० राघवन् की मान्यता है कि वामन ने उद्भट के मत का खण्डन करने के लिए ही गुण और अलंकार में भेद प्रदर्शित किया।[1] वामन की ग्रंथप्रक्रिया और प्रतिपादनशैली के आधार पर डा० राघवन् की इस मान्यता का समर्थन नहीं होता। उनके कथन का प्रामाणिक आधार क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने उद्भट के सिद्धान्त का खण्डन किया, उस प्रकार का प्रयत्न वामन ने कहीं भी किसी तरह नहीं किया। वस्तुतः वामन ने उद्भट की मान्यता के प्रतिक्रियास्वरूप नहीं, अपितु मौलिक रूप से, अपने पहले से चले आ रहे गुण और अलंकार के भेदनिरूपण के प्रयास को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया और दण्डी आदि आचार्यों की एतद्विषयक धारणा को पल्लवित किया।

वामन के 'काव्यालंकारसूत्र' में 'अलंकार' शब्द वस्तुतः दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः काव्य का सौन्दर्य अलंकार है।[2] अलंकार का यह अर्थ इतना व्यापक है कि काव्य-सौन्दर्य के हेतुभूत समस्त धर्म, अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं। गुण भी इस परिधि से बाहर नहीं है अतः वह भी अलंकार ही है। वामन की मान्यता है कि अलंकार की सत्ता से ही काव्य ग्राह्य होता है।[3] आचार्य ने निश्चित ही यहाँ अलंकार को सौन्दर्य के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। यह अलंकार दोष-हान और गुण-अलंकार के आदान से सम्भव होता है।[4] यहाँ एक अलंकार का प्रयोग सामान्य अर्थ में और दूसरे का विशिष्ट

---

१. Dr. V. Raghavan, Bhoja's Shringara Prakash, page 305.

२. सौन्दर्यमलंकारः—काव्यालंकारसूत्र, १।१।२

३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—काव्यालंकारसूत्र, १।१।१

४. स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्—वही, १।१।३

५. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।—वही, ३।१।१

अर्थ में हुआ है। विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त अलंकार ही उपमा-रूपकादि हैं जो प्रयुक्त होकर काव्यचारुत्व की वृद्धि करते हैं। इसी अलंकार से गुण की भिन्नता होती है। वामन ने गुण और अलंकार का अलग अलग लक्षण किया है, जिन पर विचार करने से गुण और अलंकार का पार्थक्य स्पष्ट हो जायगा। वामन के अनुसार, काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म, 'गुण' कहे जाते हैं। अलंकार इस शोभा की वृद्धि करते हैं[1]।

वामन की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि काव्य में सौन्दर्य, गुणों के कारण ही आता है। गुणों के अभाव में काव्य का सुन्दर होना असम्भव है। अलंकार काव्य में सौन्दर्य नहीं उत्पन्न कर सकते। हाँ, काव्य में शोभा रहने पर वे उसे और बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार गुण के अभाव में अलंकार का कोई प्रयोजन नहीं। चूँकि सौन्दर्य के अभाव में काव्य की कोई मान्यता नहीं है अतः उसे उत्पन्न करने वाले तत्त्व गुण का काव्य में रहना अनिवार्य है। गुणों के बिना काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये गुण काव्य के नित्य धर्म हैं।[2] अलंकार के अभाव में भी काव्य और काव्यगत सौन्दर्य सम्भव है; अतः काव्य में अलंकार की अनिवार्यता नहीं है। इस प्रकार अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं। अपनी इस काव्यशास्त्रीय मान्यता को समर्थित करने के लिये आचार्य वामन ने लोक के प्रत्यक्ष हेतुओं की सहायता ली है। जिस प्रकार किसी युवती का सहज सौन्दर्य अलंकार के बिना भी मनोज्ञ होता है और अलंकारों से युक्त होकर वह और अधिक चित्त को आह्लादित करता है किन्तु स्वाभाविक शोभा से हीन युवती के शरीर पर अलंकार अच्छे नहीं लगते, उसी प्रकार काव्य में गुण की स्थिति होने पर, अलंकार उससे उत्पन्न सौन्दर्य को बढ़ाने वाले होते हैं किन्तु गुणों के अभाव से चारुत्व का अभाव होने पर वे अलंकार भी असुन्दर ही लगते हैं।[3]

---

१. तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।—काव्यालंकारसूत्र, ३।१।२

२. पूर्वे नित्याः।—वही, ३।१।३। पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।
—वही, वृत्ति।

३. युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकाराणि संश्रयन्ते॥
—वही, ३।१।२ की वृत्ति।

इस प्रकार वामन की एतद्विषयक मान्यताओं का विश्लेषण करने पर गुण और अलंकार के विषय में उनकी स्थिति अत्यन्त स्पष्ट जान पड़ती है। गुण और अलंकार—दोनों ही चूँकि शब्द और अर्थ के धर्म हैं तथा दोनों के ही कारण काव्य उत्कृष्टता को प्राप्त होता है, अतः इस दृष्टि से दोनों में समानता है। गुण और अलंकार में भेद भी अत्यन्त स्पष्ट है। गुण काव्य में शोभा उत्पन्न करते हैं और अलंकार, उस उत्पन्न शोभा को बढ़ाते हैं। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य धर्म। इसलिये गुण के रहने पर अलंकार के अभाव में भी काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है। अतः वामन की मान्यता के अनुसार गुण काव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और अलंकार संयोग सम्बन्ध से रहते हैं। उद्भट ने जो यह प्रतिपादित किया था कि गुण और अलंकार दोनों की स्थिति काव्य में समवाय सम्बन्ध से होती है, उसका खण्डन वामन के द्वारा अनुमोदित इस प्रतिपादन से हो जाता है। वस्तुतः वामन के सिद्धान्त का यह निष्कर्ष तर्कसंगत है और लौकिक दृष्टान्तों से इसकी पुष्टि हो जाती है।

भोजराज

गुण और अलंकार के सम्बन्ध में भोजराज की भी वामन के ही समान मान्यता दृष्टिगत होती है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोजराज ने जैसे रस के अवियोग को काव्य में नित्य माना है वैसे ही गुण का योग भी काव्य में नित्य माना है किन्तु अलंकार के सम्बन्ध में विपरीत मत व्यक्त करते हुए उसे अनित्य स्वीकार किया है।[१] काव्य में अलंकार रहे या न रहे, नित्य होने के कारण गुण की सत्ता उसमें अवश्य होनी चाहिए। भोजराज की धारणा के अनुसार गुणयुक्त काव्य में ही अलंकार रहता है; अतः काव्य में अलंकार होने की स्थिति में गुण के साथ उसका सांकर्य अवश्य होगा।[२] भोजराज का कथन है कि कुछ अलंकार तो गुणों से ही बनते हैं। इसलिए वे कार्य-कारण सम्बन्ध से युक्त होते हैं।[२]

---

१. नित्यो हि काव्ये गुणयोग इव रसादियोगः।—सरस्वतीकण्ठाभरण, आ० ५
कदाचित् अलंकारयोगोऽपि त्यज्यते, न तु रसावियोगः, गुणयोगश्च व्यभिचरित-सम्बन्धाविति। —वही, आ० ५

२. गुणोर्हि गुणभूतैरेव अलंकाराः प्राय आरभ्यन्ते।—शृंगारप्रकाश।

आचार्य वामन के समान ही भोजराज ने भी काव्य में गुण की अनिवार्यता मानते हुए अलंकार की अपेक्षा उसे अधिक महत्त्वपूर्ण घोषित किया है। उनका कहना है कि अलंकार से युक्त भी काव्य गुणरहित होने पर भी श्रवण योग्य नहीं होता। इसीलिए काव्य में गुणयोजना, अलंकारयोजना की अपेक्षा मुख्य होती है।[1] अपनी इसी धारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए भोजराज ने शृङ्गार-प्रकाश में लिखा है—"काव्य में समवाय सम्बन्ध से स्थापित किया जाने वाला गुण और संयोग सम्बन्ध से युक्त किया जाने वाला अलंकार—इन दोनों में से गुणोपादान ही श्रेष्ठ है न कि अलंकार-योग। काव्य में गुण की योजना तो अनिवार्यतः होती है किन्तु अलंकार की योजना कवि की इच्छाधीन होती है। स्वेच्छया अलंकार का प्रयोग न करता हुआ भी कवि सुन्दर काव्य की सृष्टि कर सकता है किन्तु गुण की उपेक्षा करके काव्यनिर्माण असम्भव है। संक्षेप में गुण और अलंकार का यही भेद है।[2] 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोजराज वामन के इस मत का समर्थन और पोषण करते हैं कि अलंकार, गुण से उत्पन्न काव्य-शोभा की वृद्धि करते हैं न कि स्वयं काव्य सौन्दर्य को उत्पन्न करते हैं। इसे प्रमाणित करने के लिए उन्होंने वामन द्वारा 'काव्यालङ्कारसूत्र' में प्रयुक्त उक्त दोनों श्लोकों—"युवतेरिव ··· ····।" को उद्धृत करने के साथ ही एक नवीन श्लोक भी उद्धृत किया है।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि भोजराज अलंकार को काव्यसौन्दर्य को अतिशयित करने वाला मानते हैं। गुणहीन काव्य में प्रयुक्त अलंकार ठीक वैसे ही होता है जैसे कुरूप अंगों पर धारण किये गये आभूषण।

---

१. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, १।४९

२. तत्र गुणोपादान—अलङ्कारयोगयोः गुणोपादनं गरीयः। अयमेव गुणालंकार-योगविशेषः यद् गुणोपादाने नियमः अलंकारयोगे तु कामाचार इति।

—शृंगारप्रकाश।

३. दीर्घापांगं नयनयुगलं भूषयत्यंजनश्रीः
तुंगाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः।
मध्ये क्षामे वपुषि लभते स्थानं कूर्पासलक्ष्मीः
श्रोणीबिम्बे गुरूणि रसनादाम शोभां बिभर्ति॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।९

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने शब्द और अर्थ को प्रायः गुण और अलंकार—दोनों का आश्रय माना था। यद्यपि वे उपादेयता की दृष्टि से गुण और अलंकार में भेद भी करने लगे थे किन्तु आश्रय-भेद न होने से गुण और अलंकार का स्वरूपगत भेद स्पष्ट नहीं हो सका था। इन दोनों का स्वरूपगत भेद प्रदर्शित करने का श्रेय सर्वप्रथम ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन को है। उन्होंने काव्य के गुण, अलंकार आदि तत्त्वों का स्थान सुनिश्चित करके उनकी सापेक्षता और महत्त्व का भी प्रतिपादन किया। उन्होंने शब्द और अर्थ को काव्यशरीर बताते हुए, रसादि ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार आत्मा और देह का पार्थक्य निरूपित करने के बाद आनन्दवर्धन के लिए गुण और अलंकार के स्वरूपगत भेद को निर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

आनन्दवर्धन के अनुसार, गुण वस्तुतः आत्मा के धर्म हैं। वे काव्य के आत्मभूत रसादि में रहकर उसे उत्कृष्ट बनाते हैं। मनुष्य देह पर धारण किए जाने वाले कटककुण्डलादि आभूषणों की तरह अलंकार भी काव्य-शरीर शब्द और अर्थ को विभूषित करते हैं।[1]

उपर्युक्त कथन से आनन्दवर्धन की गुणालंकारधारणा का सहज अनुमान हो जाता है। जैसे लौकिक अलंकार मानव शरीर की शोभा में वृद्धि करने के साथ ही आन्तरिक भावों को उद्‌बुद्ध करते हैं और अलंकारों के माध्यम से व्यक्ति की आन्तरिक रुचि भी प्रकट होती है वैसे ही काव्य में प्रयुक्त अलंकार भी आत्मभूत रसादि का पोषण करने के साथ गुणस्वभाव को व्यक्त करते हैं। यदि शरीर सहज सुन्दर और मनोज्ञ है तो बाह्य अलंकरणों-प्रसाधनों की कोई विशेष अपेक्षा नहीं होती। यह व्यक्ति की इच्छा पर है कि वह अलंकार धारण करे या न करे। इसी प्रकार यदि शरीर के अवयवों में कुरूपता है तो वे अलंकार शरीर की शोभा बढ़ाने को कौन कहे अपनी भी कान्ति खो बैठते हैं। काव्य में भी इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। वहाँ भी भाव के नितान्त राहित्य और प्रचुर साहित्य दोनों ही दशाओं में अलंकार निरर्थक ही होते हैं।

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥—ध्वन्यालोक, २।९

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में अलंकार काव्य के अनिवार्य धर्म नहीं हैं। काव्यशरीर—शब्द और अर्थ को अलंकृत करके उसके माध्यम से आत्मभूत रसादि का उपकार करने में ही उनकी सार्थकता है। यह आवश्यक नहीं कि वे सदैव रसादि रूप काव्यात्मा के उपकारक ही हों किन्तु रसादि ध्वनि के अभाव में अलंकार भी व्यर्थ ही हैं।

आनन्दवर्धन अपनी गुणालंकारधारणा के व्यावहारिक पक्ष को भी प्रकाशित करते हैं। उनके अनुसार, भले ही अलंकार कहीं अनुपादेय हो अथवा आवश्यकता न होने पर अग्राह्य हो किन्तु वह किसी भी दशा में निन्द्य नहीं है। जब कवि, काव्य के प्राणभूत रस परिपाक की अनदेखी कर अलंकार योजना में ही दत्तचित्त हो अनुचित श्रम करने लगता है तो हठात् लाकर बैठाये गये वे अलंकार काव्यशोभा की वृद्धि करने को कौन कहे, काव्य को ही अपने अनावश्यक भार से दबा बैठते हैं। किन्तु सरस्वती के कृपा-कटाक्ष से अवलोकित रससिद्ध कवि प्रतिभावान् हो काव्यरचना में प्रवृत्त होता है तो उपयुक्त अलंकार स्वतः उसकी वाणी का मण्डन करने उपस्थित हो जाते हैं। अलंकारों की योजना उस काव्य में अनायास ऐसे होने लगती है जैसे कि होड़ लगाकर कविकृति में स्थान पाने के लिए लालायित हों। स्वाभाविक रूप से आये हुए ये अलंकार ही काव्य-श्री-वैभव को उत्कर्ष प्रदान करते हैं क्योंकि वे शब्दार्थमय काव्य शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाकर आत्मभूत रसादि ध्वनि के उपकारक होते हैं। वस्तुतः अलंकार की उपादेयता का स्वारस्य यही है।[1]

आनन्दवर्धन सामान्यतया काव्यालंकारों को कटककुण्डलवत् कहते हुए भी, सभी अलंकारों को लौकिक आभूषणों की तरह बाह्य नहीं मानते। नायिका के हाव, भाव, कटाक्षादि की तरह रसाक्षिप्त होने वाले अलङ्कार भला बाह्य कैसे हो सकते हैं। अलङ्कार सम्बन्धी मान्यता के दो पहलू स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अलङ्कार के वाच्य होने की दशा में तो वे काव्यशरीर में संयोग सम्बन्ध से उप-

---

१. अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहित चेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्तिकया परापतन्ति। ... ... युक्तं चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्या। यत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्या विशेषा एव रूपकादयोलंकाराः तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।

—ध्वन्यालोक, २।१६ की वृत्ति।

स्थित बाह्य अलङ्कार ही हैं। किन्तु ध्वनि को काव्य का आत्मा मानते हुए आनन्दवर्धन ने रस-भाव, वस्तु और अलंकार—तीन प्रकार की ध्वनियाँ मानी हैं। जब अलंकार वाच्य न होकर ध्वनित होते हैं तो वे काव्य के आत्मभूत होते है।[1] चाहे वस्तु से अलंकार ध्वनित हो। (व्यंग्य) या अलंकार से अलंकार ध्वनित हो, प्रत्येक दशा में वह ध्वनित अलंकार, काव्य के आत्मपद पर प्रतिष्ठित होता है। (द्रष्टव्य—ध्वन्यालोक, २।२९–३०)।

काव्य में अलंकार्य रस होता है। अतः काव्य की सार्थकता उसके सद्भाव में ही है।[2] लोक में भी अन्तःकरण के उल्लास को व्यंजना रुचिर वस्त्राभूषणों से होती है। ऐसे ही, काव्य में भी अलंकार की योजना वहाँ रस-भावादि को व्यंजित करने के लिए होनी चाहिए।[3] अलंकार-योजना के विषय में आनन्दवर्धन का स्पष्ट मत है कि जो अलंकार, रस से आक्षिप्त (रस की दृष्टि से विभावादि की कल्पना करते हुए स्वयं निष्पन्न) रूप में बिना किसी विशेष प्रयत्न के हो सके, वही रसादि ध्वनि में अभिप्रेत (काव्य) होता है।[4] ऐसी ही अलंकार-योजना से काव्य की श्रीवृद्धि होती है।

जिस प्रकार शूरता, वीरता आदि गुण आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार काव्य में भी गुण रस के धर्म हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार, शब्दादि को मधुर कहना तो उपचार मात्र है। मधुर तो रस होता है। माधुर्य, शृंगार और करुण—रस का धर्म है। हाँ, माधुर्य की व्यंजना कराने वाले माध्यम कोमलवर्ण ही होते हैं। इसी प्रकार ओज की व्यंजना कराने वाली पद-योजना ओजस्वी कही जाती है। अतः गुण को उपचारतया शब्दगत मानने पर भी अनुप्रासादि शब्दालंकार से उसकी भिन्नता स्पष्ट ही है। गुण, अर्थ से सम्बद्ध होकर रस के आश्रय में रहता है।

---

१. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः ॥—ध्वन्यालोक, २।२८

२. ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥—वही, २।१७

३. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥—वही, २।५ वृत्ति में उद्धृत श्लोक।

४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥—वही, २।१६

उसे शब्दगत मानना ठीक वैसे ही है, जैसे शौर्य आदि को आत्मा का गुण मानते हुए भी आकृति आदि की अपेक्षा से (कभी-कभी) शरीर का धर्म मान लिया जाना है।[1]

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने गुण और अलंकार में स्पष्ट भेद करते हुए गुण को रस का धर्म तथा अलंकार को शब्दार्थ का धर्म माना है।

अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के गुणालंकार विषयक सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन-टीका में उसे और विशद किया है। उनके अनुसार सुकवि द्वारा काव्य में अनायास सुयोजित अलंकार शरीर पर लगाये गये कुंकुमलेप के समान होता है।[2] अलंकार का मुख्य उद्देश्य रसोपकार है। यदि रस का अभाव हो तो उस निष्प्राण काव्य में अलंकार की कोई उपयोगिता नहीं है। रस रहित काव्य में अलंकारों की निरर्थकता ठीक वैसी ही है जैसे कि अचेतन शव (शरीर) पर आभूषण। क्योंकि अलंकार्य तो आत्मा होता है। इसलिए अलंकार्य के अभाव में अलंकार शरीर पर सुशोभित नहीं होते। इसी प्रकार अलंकार उचित स्थान पर ही सुशोभित होते हैं। संन्यासी की देह पर सजाये गये आभूषण अनुचित होने के कारण हास्यास्पद होते हैं। क्योंकि यहाँ अलंकार्य का अनौचित्य होता है।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या द्वारा आनन्दवर्धन के इस मत को पुष्ट किया है कि ध्वनिरूप आत्मा ही अलंकार्य है। यद्यपि उपमा काव्यार्थ

---

१. अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः। न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थविस्तराः शब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।—ध्वन्यालोक, ३।४ की वृत्ति।

२. सुकविः विदग्धपुरन्ध्रीवत् भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसंपाद्या, कुंकुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का संभावना। एवंभूता चेयं व्यंग्यता, पदप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालंकारेभ्यः उत्कर्षमलंकारणां वितरति।—ध्वन्यालोक, लोचनटीका।

३. तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्यानौचित्यात्।
—ध्वन्यालोक-लोचन २।५

को अलंकृत करती है किन्तु उसके अलंकारत्व का स्वारस्य इसी में है कि वह वाच्य को व्यंग्यार्थ की व्यंजना में समर्थ बनाती है। कटककेयूरादि प्रत्यक्षतः शरीर की शोभा बढ़ाते हुए भी उसके माध्यम से उल्लासादि को व्यक्त करते हुए आत्मा को ही अलंकृत करते हैं।[1]

इस प्रकार अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन की गुणालंकारधारणा का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि काव्य में गुण, अंगीभूत रस पर आश्रित होते हैं तथा अलंकार, अंगभूत शब्दार्थ पर आश्रित होते हैं। अतः उनका परस्पर पार्थक्य स्पष्ट है।[2]

मम्मट

आचार्य आनन्दवर्धन की गुणालंकारधारणा को आचार्य मम्मट ने भी स्वीकार किया और काव्यप्रकाश में अपनी मौलिक युक्तियों से उसे प्रतिष्ठित किया।

आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण करते हुए ही सर्वप्रथम गुण और अलंकार की काव्य में स्थिति स्पष्ट करते हुए अपना मत व्यक्त किया है। वे इन दोनों को काव्य का धर्म तो मानते हैं, किन्तु गुण की तरह अलंकार को अनिवार्य धर्म नहीं मानते। उनके काव्यलक्षण में यह स्पष्टतया प्रतिपादित है कि काव्य दोषरहित, गुणसहित और प्रायः सालंकार होता है। कभी वह अलंकार रहित भी हो सकता है।[3] इस सूत्र की वृति में मम्मट ने और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्फुट अलंकार के न रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।[4] इस प्रकार गुण को नियत काव्य-धर्म मानते हुए अलंकार की अनिवार्यता को अस्वीकार किया है।

१. उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलंक्रियते, तथापि तत्र तदेवालंकरणं यद्व्यंग्यार्थाभिव्यंजनसामर्थ्याधानमिति। वस्तुतो ध्वन्यात्मैव अलंकार्यः। कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिः आत्मैव तत्तच्चितवृतिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालंक्रियते। —ध्वन्यालोक-लोचन, २।५

२. अलंकार्यव्यतिरिक्तश्चालंकारोऽभ्युपगन्तव्यः, लोके तथा सिद्धत्वात् यथा गुणिव्यतिरिक्तगुणाः। गुणालंकारव्यवहारश्च गुणिन्यलंकार्ये च सति युक्तः। —वही, २।२६ पर लोचन

३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।—काव्यप्रकाश १।४

४. क्वचित्स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।—काव्यप्रकाश, १।४ पर वृत्ति

काव्यप्रकाश में गुण को परिभाषित करते हुए मम्मट ने कहा है कि जिस प्रकार व्यक्ति के आत्मा में स्थायी रूप से रहते हुए शौर्य आदि उसका उत्कर्ष साधन करते हैं, उसी प्रकार काव्य के (आत्मारूप) अंगीरस में सदैव स्थिरतया विराजमान रहते हुए उसका उत्कर्ष साधन करने वाले धर्म गुण कहे जाते हैं।[1] इसे काव्यप्रकाशकार ने वृतिभाग में और अधिक विशद किया है। शौर्य, पराक्रम आदि धर्म तो व्यक्ति की आत्मा में रहते हैं, उन्हें शरीर का धर्म नहीं माना जाता। इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं, इन्हें शब्दार्थरूप काव्य-शरीर का धर्म नहीं माना जा सकता। लोक में व्यवहारतः किसी के सुपुष्ट शरीर और डोलडौल को देखकर उसे शूर समझ लिया जाता है और इसके विपरीत दुबली पतली लघु काया को देखकर, यह भला क्या शूर क्या होगा— ऐसा अनुमान लगाया जाता है। इस आधार पर यह शंका स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति के शरीर को देखकर शौर्यादि का निर्णय किया जा सकता है तो माधुर्यादि गुण को भी शब्दार्थ पर ही आश्रित क्यों न माना जाय। मम्मट ने युक्तिपूर्वक इस शंका का समाधान किया है। उनका कथन है कि शरीर की पुष्टता या क्षीणता देखकर व्यक्ति में शूरता या अशूरता का अनुमान करना उचित नहीं है। ऐसा निर्णय तो भ्रान्त भी हो सकता है। क्योंकि लोक में क्षीणकाय पुरुष भी शूर और भारी डीलडौल वाले भी कायर देखे जाते हैं। काव्यजगत् में भी ऐसा पाया जाता है। कोमलवर्णों में भी ओज जैसे दीप्त गुण का सद्भाव हो सकता है और कभी-कभी कठोर वर्णों से भी माधुर्य गुण की व्यंजना होती है। चूँकि लोक में बहुधा पुष्ट शरीर वाले ही वीर देखे जाते हैं अतः पुष्ट देहवाले अशूर को भी लोग शूर समझ लेते हैं। ऐसे ही, काव्य में भी प्रायः माधुर्य गुण की व्यंजना कोमल वर्णों से होती है, अतः कोमल वर्णों को मधुर मान लिया जाता है। किन्तु यह पद्धति सर्वथा निर्दुष्ट नहीं है। आचार्य मम्मट ने ऐसे निर्णायकों को दूरदर्शी नहीं माना है जो हृष्टपुष्ट शरीर वालों को शूर समझ लेने की भूल कर बैठते हैं। जो रसाभिव्यक्ति के रहस्य को नहीं जानते वे अकाव्यज्ञ हीं माधुर्य के व्यंजक कोमल वर्णों को मधुर और ओज के व्यंजक परुष वर्णों को ओजस्वी मानते हैं। रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया को हृदयंगम करने वाले रसिक सहृदय यह जानते हैं कि माधुर्यादि गुण

---

१. ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥—काव्यप्रकाश, ८।६६

रसाश्रित है और उनकी व्यंजना प्रायः कोमलादि वर्णों से होती है।[1]

ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा गुणों को रस के धर्म के रूप में देखते हुए, माधुर्यादि की व्यंजना करने वाले वर्णों को मधुर आदि व्यवहार करना औपचारिक है। मम्मट के अनुसार, ऐसा मानना भ्रान्ति से परे नहीं हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर के अनुसार, गुण को आत्मा का धर्म स्वीकार करने वाले विवेकी व्यक्ति भी उपचारतया उसे शरीरगत कहते हैं। इसी प्रकार जिस आत्मा में वीरता गुण का वास हो, उससे सम्बद्ध शरीर भी वीर कहा जाता है। अतः जिस काव्य में माधुर्य गुण न हो, उसमें प्रयुक्त कोमल वर्णों को मधुर कहना भ्रान्त है किन्तु माधुर्य के व्यंजक कोमल वर्णों को मधुर कहा ही जायेगा।[2]

काव्यप्रकाश के व्याख्याकार चण्डीदास का कहना है कि मम्मट रस का धर्म होना मात्र गुण का लक्षण मानते हैं अर्थात् जो रस का धर्म हो, वह गुण है। उसे 'उत्कर्ष का हेतु' कहना, गुण के लक्षण का अंग नहीं अपितु उसकी प्रवृत्ति का सूचक है। गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रकाश की स्वकृत व्याख्या प्रदीप में

---

१. आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, "आकार एवास्य शूरः" इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण शूरम् इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यंजकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसांगानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादिमधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्या-दरेमाधुर्यादिरसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिबन्ध्या व्यवहरन्ति। अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।

—काव्यप्रकाश, ८।६६ पर वृत्ति

२. क्वचिच्छूरव्यवहारविषये विततकृतिदर्शनादाकार एवास्य शूर इत्यौपचारिकव्यवहाराच्चाभियुक्तानामाकार एवैतादृशः शूरपदवाच्य इति विपर्यासाददूरदर्शिनस्तथा व्यवहरन्ति। तत्त्वज्ञास्तु क्वचिदुपचारत इति वक्तव्यम्। हन्तैवं मधुरादिरसयोगिनि सुकुमारादिवर्णयुक्ते मधुरादिव्यवहाराद् वर्ण एवायं मधुरादिरित्यौपचारिकव्यपदेशाच्चाभियुक्तानां वर्ण एवैतादृशो माधुर्यभागिति विपर्ययाद्रसपर्यन्तावगाहिबुद्धिविधुरा व्यवहरन्ति तत्त्वालोचिनस्तु क्वचिदुपचारादपि तुल्यमेतत्।

—काव्यप्रदीप (काव्यप्रकाश ८।६६ की टीका)

चण्डीदास की इस व्याख्या का खण्डन किया है। गोविन्द ठक्कुर का कहना है कि यदि रस का धर्म होना ही सामान्यतया गुण का लक्षण मान लिया जाय और 'उत्कर्ष हेतु' को लक्षण का अंग न माना जाय तो गुणों की संख्या तीन तक ही सीमित न रहकर अनेक हो जायगी और गुणों की परिभाषा भी सभी रसों के धर्मों तक अतिव्याप्त हो जायेगी। शृंगाररस का धर्म शृंगारत्व है। अतः गुणों में इसकी भी गणना होगी। इसी प्रकार करुणत्व, वीरत्व आदि भी गुण बनेंगे।[1] ऐसा होने से मम्मट की गुण सम्बन्धी मान्यता ही छिन्न-भिन्न हो जायेगी। इसीलिए उन्होंने गुणों का रसधर्मत्व मानते हुए उनकी उत्कर्षहेतुता भी मानी है। उत्कर्षहेतुत्व गुण लक्षण का अंग ही है। माधुर्य और शृंगारत्व, दोनों ही शृंगार रस के धर्म हैं किन्तु माधुर्य, रस के उत्कर्ष का हेतु है अतः उसे काव्य-गुण के रूप में माना गया है।

आचार्य मम्मट की गुण परिभाषा का विश्लेषण करने से तीन प्रधान तथ्य उपस्थित होते हैं—

१—गुण रस के धर्म हैं।

२—गुण रस का उत्कर्ष करते हैं।

३—गुण का रस के साथ नित्य सम्बन्ध है।

गुण को रस का धर्म मान लेने पर, दोनों के परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध की सत्ता स्थापित हो जाती है। रस धर्मी और गुण धर्म हैं। धर्मी से धर्म सदैव अपृथक् ही रहता है। अतः रस के अभाव में गुण के सद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। गुण को रस का 'अचलस्थिति-धर्म' कहने का अभिप्राय उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि और स्पष्टीकरण है।

आचार्य मम्मट ने अलंकार को काव्य के शब्दार्थमय शरीर का धर्म कहा है। अलंकार सामान्य को परिभाषित करते हुए मम्मट का कथन है कि जैसे लोक में हार आदि आभूषण शरीर के माध्यम से उसकी शोभा बढ़ाते हुए आत्मा का उपकार करते हैं, वैसे ही काव्य में शब्द और अर्थ के माध्यम से उसके चारुत्व को बढ़ाते हुए रस का यदाकदा उपकार करने वाले धर्म अलंकार कहे

---

१. चण्डीदासस्तु रसधर्ममात्रं लक्षणं, उत्कर्षहेतुत्वं गुणशब्दप्रवृत्तिबीजम् इत्याह। तदयुक्तम्। शृंगारत्वादौ धर्मेऽतिव्याप्तेः।

—काव्यप्रदीप, काव्यप्रकाश, ८।६६

जाते हैं।[1] लौकिक अलंकार शरीर पर धारण किये जाते हैं। शरीर उनका आश्रय है और दोनों में आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। शरीर पर धारण किये जाकर वे उसकी शोभावृद्धि करने के साथ ही आत्मा के उपकारक भी हैं। मम्मट की परिभाषा से स्पष्ट है कि काव्य में रस के रहने पर ही अलंकार उसका उपकार करते हैं। वस्तुतः जिस काव्य में रस नहीं रहता, उसमें अलंकार की योजना केवल उक्ति वैचित्र्य ही उत्पन्न करती हैं।[2] चित्रकाव्य, जो ध्वनि (रस) वादी आचार्यों की दृष्टि में अधम काव्य है, अलंकारों के प्रयोग से उक्ति का चमत्कार ही प्रकट करता है। एक स्थिति यह भी है कि कहीं-कहीं रस के रहने पर भी अलंकार उसके उपकारक नहीं बनते।[3] इस प्रकार रस के विषय में अलंकार की मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं--

१—अलंकार रस का उपकार करता है।

२—काव्य में रस के रहने पर ही अलंकार उसका उपकार करता है।

३—काव्य में रसस्थिति होने पर भी अलंकार कभी-कभी उसका उपकार नहीं करता है।

काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्दठक्कुर ने गुण और अलंकार की असमानता पर भी विचार किया है। उनका कहना है कि रसोत्कर्ष का हेतु होने के कारण गुण की रसधर्मता है। ऐसा होने पर रस के साथ उनकी अव्यभिचारी स्थिति है और वे अनिवार्यतः रस का उपकार करते हैं। किन्तु अलंकार रस के साथ नियत रूप से नहीं रहते। वे रस के साथ रह भी सकते हैं, नहीं भी रह सकते। रस के रहने पर भी अलंकार रह सकते हैं और रस के सद्भाव में उसका उपकार करते हैं।[4]

---

१. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —काव्यप्रकाश ८।६७

२. यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिन।—वही, ८।६७ पर वृत्ति

३. क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।—वही, ८।६७ पर वृत्ति।

४. एवं च रसोत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं, तथात्वे सति रसाव्यभिचारिस्थितित्वं अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वं चेति लक्षणत्रयं गुणानां द्रष्टव्यम्।........ एतावता रसावृत्तित्वं चलस्थितित्वं च दर्शितम्। तथाच रसोपकारकत्वे सति तद्वृत्तित्वं तथात्वे सति रसव्यभिचारित्वं अनियमेन रसोपकारकत्वं चेति सामान्यलक्षणत्रयमलंकाराणाम्।—काव्यप्रदीप, ८।६७

आचार्य मम्मट के गुण-विवेचन का अनुशीलन करने पर यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है कि वे काव्य में अलंकार की अपेक्षा गुण को महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। अलंकार केवल रस का उपकार करते हैं किन्तु गुण तो उसमें उत्कर्ष का आधान भी करते हैं। अतएव अलंकार बाह्य सम्बन्ध वाला होता है जबकि गुण का काव्य से आन्तरिक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार अलंकार शब्दार्थाश्रित होते है किन्तु गुणों के साथ रस का नित्यसम्बन्ध होता है अतः वे रस के उत्कर्ष के हेतु होते हैं। अलंकार की रस के साथ अनिवार्य स्थिति नहीं होती, उनकी रस से अलग एक स्वतंत्र सत्ता है किन्तु गुण, रस के धर्म होते हैं अतः उनकी पृथक् सत्ता नहीं हो सकती। इस प्रकार अलंकार रस के सापेक्ष्य चलस्थिति वाले और गुण अचलस्थिति वाले होते हैं। इसके साथ ही अलंकार, काव्य में रस होने की स्थिति में उपकारक हो सकते हैं और कभी-कभी वे रस के अपकारक भी हो जाते हैं। मम्मट ने कई उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[1]

गुण सम्बन्धी अपनी मान्यता की स्थापना करने के बाद आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती कतिपय आचार्यों की गुणालंकार सम्बन्धी मान्यताओं की त्रुटियों की ओर संकेत किया है। आचार्य उद्भट, काव्य के साथ गुण और अलंकार का समवाय सम्बन्ध मानकर दोनों में अभेद स्थापित करने के पक्षधर थे। किन्तु काव्य के साथ गुणों के नित्य तथा अलंकारों के अनित्य सम्बन्ध की सिद्धि हो जाने पर उद्भट की यह मान्यता बालू की दीवार ही सिद्ध हुई। आचार्य मम्मट ने उद्भट के सिद्धान्त का खण्डन अतिसंक्षेप में किया है। मम्मट ने केवल इतना ही कहा कि उद्भट का यह कथन सर्वथा असमीचीन है कि गुण और अलंकार दोनों, काव्य में समवायवृत्ति से रहने के कारण परस्पर अभिन्न स्वभाव के हैं।[2]

आचार्य मम्मट ने वामन की भी आलोचना की है। आचार्य वामन ने अलंकार और गुण, दोनों को ही शब्दार्थाश्रित माना है। दृष्टि से अलंकार और

---

१. काव्यप्रकाश, उल्लास ८, उदा० ३४५-३४६

२. एवं च समवायवृत्या शौर्यादय संयोगवृत्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति स गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः इत्यभिधानमसत् ।—काव्यप्रकाश, ८।६७ पर वृत्ति

गुण, दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि अलंकार काव्य-शोभा की वृद्धि मात्र के प्रयोजक हैं, जबकि गुण काव्य में गोभा की उत्पत्ति के हेतु हैं ।[1] वामन की इस धारणा का मम्मट ने खण्डन किया है । उनका कथन है कि यदि वामन के अनुसार गुण को काव्य में शोभा का जनक मान लिया जाय तो समस्या यह उठती हैं कि काव्य में शोभा की सृष्टि प्रत्येक गुण के अलग-अलग (बारी-बारी से) रहने पर होती है या एक साथ रहने पर । प्रत्येक गुण अलग-अलग काव्य में शोभा उत्पन्न करता है, यदि ऐसा माना जाय, तो वह वाक्य भी काव्य कहा जायगा, जिसमें वामन के एक-दो गुण पाये जाँय । ऐसे उदाहरणों को प्रस्तुत करना दुष्कर नहीं हैं । आचार्य मम्मट ने एक वाक्य उद्धृत किया जिसमें वामन का गाढबन्ध रूप शब्दगत ओजो गुण विद्यमान है किन्तु वह उन वाक्य में शोभा उत्पन्न कर उसे काव्यत्व प्रदान करने में समर्थ नहीं है ।[2] इसके अतिरिक्त एक गुण को शोभा हेतु मानने पर, वाक्य में उनकी अतिव्याप्ति होगी । इसी प्रकार यदि सभी गुणों के एक साथ रहने घर काव्यसौन्दर्य की सृष्टि स्वीकार की जाय, तो यह अव्याप्ति दोष से युक्त होगा । इसके फलस्वरूप वामन की काव्यसम्बन्धी मूलभित्ति ही ध्वस्त हो जायगी । क्योंकि वे 'रीति' को काव्य का आत्मा मानते हैं ।[3] वामन के अनुसार भी गौडी और पांचाली रीतियों में समस्त गुण नहीं होते । गौडी में ओज और कान्ति, पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य ये दो-दो गुण ही होते हैं । इस प्रकार समस्त गुणों की सत्ता में काव्यत्व मानने पर गौडी और पांचाली में उसकी अव्याप्ति हो जाती है और वे काव्य की परिधि से ही बहिर्गत हो जाती है ।

---

१. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणः । तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।

—वामन काव्यालंकारसूत्र, ३।१।१९-२०

२. यदप्युक्तं, "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः" इति तदपि न युक्तम् यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहार उत कतिपयैः । यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पांचाली च रीतिः काव्यस्यात्मा अथ कतिपयैस्ततः—"अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येव धूमः"—इत्यादावोजः प्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः ।

—काव्यप्रकाश, ७।६७ की वृत्ति

३. रीतिरात्मा काव्यस्य—काव्यालंकारसूत्र, १।२।६

आचार्य मम्मट ऐसा भी नहीं मानते कि अलंकार केवल काव्यसौन्दर्य के वृद्धिकारक ही हैं। उनकी दृष्टि में कहीं-कहीं काव्य में प्रयुक्त केवल अलंकार ही सौन्दर्य की उत्पत्ति करते हैं। उन्होंने एक श्लोक उद्धृत करके दिखाया भी है कि गुण के न रहने पर भी विशेषोक्ति और व्यतिरेक के प्रयोग से उक्त श्लोक सौन्दर्ययुक्त काव्य की श्रेणी में गिनने के योग्य हो गया है।[1] काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्दठक्कुर ने उक्त स्थल पर शंका उपस्थित कर उसका समाधान इस प्रकार किया है—यहाँ प्रसादादि गुणों की सत्ता होने पर भी गुणों से निरपेक्ष अलंकारों को काव्यशोभा का जनक कैसे माना जा सकता है ? और भी, निर्गुणत्व की स्थिति में मम्मट के अनुसार भी काव्य कैसे माना जा सकता है। क्योंकि मम्मट तो सगुण शब्दार्थ को काव्य के रूप में परिभाषित करते हैं। इन आपत्तियों का निराकरण यह कहकर किया जा सकता है कि उक्त श्लोक में वामन द्वारा मान्य सभी गुण नहीं है और केवल कुछ गुणों से काव्यशोभा की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, अतः यहाँ काव्य-सौन्दर्य के जनक अलंकार ही हैं।[2]

काव्य के साथ गुणों के नित्य और अलंकार के अनित्य संबन्ध के विषय में वामन और मम्मट एकमत हैं। हाँ, यह अवश्य है कि मम्मट, वामन की तरह गुण को शोभाकारक और अलंकार को शोभा का अतिशय करने वाला नहीं मानते। मम्मट के मतानुसार गुण रसाश्रित होते हैं, शब्दार्थाश्रित नहीं। केवल अलंकार ही शब्दार्थ पर आश्रित होते हैं। अतः गुण और अलंकार स्पष्टतः ही भिन्न भिन्न हैं।

---

१. स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्॥
इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणानिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्तकौ।
—काव्यप्रकाश, ८।६७ की वृति

२. न कुत्रापि प्रसादादेर्वर्तमानत्वात् कथं गुणादपेक्षत्वमलंकारयोः। किं च निर्गुणत्वे कथं त्वन्नयेऽपि काव्यव्यवहारः। सगुणत्वविशेषणत्वाभावादिति चेत् अस्त्येवात्र गुणः तथा ज्ञानं च। परन्तु किंचिदगुणवत्वस्य शोभा हेतुत्वेऽति प्रसंगात् समस्तगुणवत्वं तथा वक्तव्यम्। न चात्र तत्साम्यम्। तथा च गुणजन्यां शोभामनपेक्ष्यैवालंकाराभ्यां शोभासंपत्तिरिति तात्पर्यम्।
—काव्यप्रदीप, ८।६७ (व्याख्या)

आचार्य विश्वनाथ

विश्वनाथ ने अपने काव्यशास्त्र के ग्रन्थ साहित्यदर्पण में काव्यशास्त्र के पूर्ववर्ती विकास और उपलब्धियों को दृष्टि में रखते हुए उनका समन्वय करते हुए सामग्री प्रस्तुत की है। अलंकार और गुणों के परस्पर सम्बन्धों का निरूपण करने में भी उन्होंने यही दृष्टिकोण अपनाया है। उनके एतद्‌विषयक प्रतिपादन का विश्लेषण करने पर हम यह पाते हैं कि उन्होंने गुण और अलंकारों से सम्बद्ध ध्वनिवादी आचार्यों (आनन्दवर्धन, मम्मट) के सिद्धान्तों का ही पोषण किया है। आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार गुण, अलंकार और रीतियाँ-तीनों ही काव्यसौन्दर्य के उत्कर्ष के हेतु हैं।[1] काव्य-सौन्दर्य के उत्कर्षकारक होने पर भी गुण और अलंकार में अन्तर यह है कि गुण काव्यात्मा के धर्म हैं।[2] विश्वनाथ, रस को काव्य का आतमा स्वीकार करते हैं।[3] अतः गुण रस के धर्म हुए। इस प्रकार काव्य में गुण की स्थिति नियत अथवा अविचल है। अलंकार जो काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करने वाले धर्म हैं, शब्द और अर्थ पर आश्रित हैं और यह सम्बन्ध भी अनियत है। अलंकार रस का उपकार करते हैं।[4]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य विश्वनाथ भी अपने पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्यों की तरह गुण को काव्य का नित्य तथा अलंकार को अनित्य धर्म स्वीकार करते हैं। वे गुण को रसाश्रित अतएव आत्मा का धर्म मानते हुए अलंकार को शब्दार्थगत या शरीरधर्म मानते हैं। विश्वनाथ ने इस विषय में किसी नवीन मौलिक युक्ति का आश्रय नहीं लिया है।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य विश्वनाथ की भाँति हेमचन्द्र ने भी अपने पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्यों की गुणालंकार विषयक धारणा का ग्रहण एवं पोषण किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में गुण और अलंकार—इन दोनों में गुण को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। हेमचन्द्र की काव्य-परिभाषा आचार्य

---

१. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः। —साहित्यदर्पण, १।३

२. रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणः········ ।—वही, ८।१

३. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।—साहित्यदर्पण, १।३

४. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥—वही, १०।१

मम्मट के काव्यलक्षण का अनुवर्तन ही है। उक्त परिभाषा के अनुसार, कहीं-कहीं अलंकारहीन शब्द और अर्थ भी काव्य हो सकते हैं किन्तु काव्यत्व के लिए शब्द और अर्थ का गुणयुक्त होना तथा दोषमुक्त होना आवश्यक है।[1] वृत्ति भाग में स्पष्टीकरण करते हुए हेमचन्द्र का कथन है कि काव्य में गुण की सत्ता अनिवार्य है क्योंकि गुण की स्थिति में अलंकार के न रहने पर भी काव्य आनन्दप्रद होता है जबकि अलंकार से युक्त होने पर भी काव्य गुण रहित होकर अनास्वाद्य हो जाता है।[2] काव्य (वाक्य) का उत्कर्ष और अपकर्ष अलंकार के साहित्य और राहित्य से सम्बद्ध नहीं है।[3] अलङ्कार की अनुपस्थिति में भी काव्य उत्कृष्ट होता है और कभी-कभी अलङ्कार की उपस्थिति में काव्य-सौन्दर्य का अभाव होता है। किन्तु गुण के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। गुण तो काव्य का आवश्यक लक्षण है। उसके रहने और न रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।[4] उसके अभाव में तो काव्यत्व का ही अभाव हो जायेगा। अतः काव्य में गुण नित्य और अलङ्कार अनित्य होते हैं।

दोष और गुण काव्य के अपकर्ष और उत्कर्ष के हेतु हैं। उपचारवशात् उन्हें शब्दार्थगत भी मान लिया जाता है।[5] किन्तु अलंकार तो विशुद्ध रूप से काव्य के अंगभूत (शरीरगत) शब्दार्थ पर आश्रित रहते हैं।[6]

आचार्य हेमचन्द्र ने गुणों को रसाश्रित सिद्ध करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक अनुमान की युक्तियों का उपयोग किया है। ऐसा करने में भी उन्होंने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की सहायता ली है। आनन्दवर्धन ने दोष को भी काव्यात्मरस का धर्म बताया है।[7] हेमचन्द्र ने इसको आधार बताते हुए तर्क दिया है

---

१. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
(अत्र) चकारो निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थः।
—काव्यानुशासन।

२. अनेन काव्ये गुणानामवश्यंभावमाह—तथा हि अनलंकृतमपि गुणबहुलं स्वदते। अलंकृतमपि निर्गुणं न स्वदते।—काव्यानुशासन।

३. न चालंकृतीनामपोद्धाराहाराभ्यां वाक्यं दुष्यति पुष्यति वा। वही, १

४. गुणानामपोद्धाराहारौ तु न सम्भवत इति।—वही, १

५. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतुः गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः।—वही, १।

६. अंगाश्रिता अलंकाराः। वही, १

७. ध्वन्यालोक, २|११

कि जहाँ दोष रहते हैं, वहीं गुण भी रहते हैं। दोष रस के धर्म हैं अतः गुण भीं रस के धर्म हैं। दोष को शब्दाश्रित मानना युक्तिसंगत नहीं है। यदि वे शब्दगत या अर्थगत होते तो कष्ट आदि दोष बीभत्स आदि रस में गुण भला किस तरह बन जाते। ऐसे ही अश्लीलत्व आदि दोषों को हास्यादि रसों में गुण कैसे कहा जाता? इसलिए स्पष्टतः ही दोष-गुण का निर्णय रस के सापेक्ष होता है न कि शब्दार्थ के। इसी कारण गुणों की अपेक्षा दोष अनित्य हैं। जिस रस के जो दोष हैं, वे उस रस के साथ रहने पर ही दोष कहे जाते हैं, अन्य रसों में वे दोष नहीं रह जाते। इस तरह अन्वय-व्यतिरेक से गुण-दोष का रसाश्रयत्व सिद्ध है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी उद्भट और वामन के एतद्विषयक मत का खण्डन किया है। इनके अनुसार, उद्भट की यह मान्यता अनुचित है कि काव्य में गुण और अलंकार समवायवृत्ति से रहते हैं अतः वे अभिन्न हैं।[2]

इसी प्रकार वामन के मत की आलोचना करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि गुण को काव्य सौन्दर्य का जनक और अलंकारों को उसके अतिशय का हेतु कहना उचित नहीं है। क्योंकि गुण के अभाव में भी काव्य-सौन्दर्य देखा जा सकता है और गुणों का सद्भाव न रहने पर भी अलंकार काव्यशोभा की

---

१. ते च रसस्यैव धर्मा उपचारेण तु तदुपकारिणोः शब्दार्थयोरुच्यन्ते। रसाश्रयत्वं च गुणदोषायोरन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। तथा हि यत्रैव दोषस्तत्रैव गुणाः रसविशेषे च दोषा न तु शब्दार्थयोः, यदि हि तयोः स्युर्तर्हि बीभत्सादौ कष्टत्वादयो गुणा न भवेयुर्हास्यादौ चाश्लीलत्वादयः। अनित्याश्चैते दोषाः। यतो यस्यांगिनस्ते दोषास्तदभावे न दोषास्तद्भावे तु दोषा इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषयो रस एवाश्रयः।

—काव्यानुशासन।

२. एतावता—"शौर्यादिसदृशा गुणाः, केयूरादितुल्या अलंकाराः" इति विवेकमुक्त्वा संयोगसमवायाभ्यां शौर्यादीनामस्ति भेदः। इह तूभयेषां समवायेन स्थितिरित्यभिधाय, "तस्माद् गडड्लिकाप्रवाहेण गुणालंकारभेदः" इति भामहविवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्।—वही।

उत्पत्ति के हेतु हो सकते हैं । अतः वामन का मत निर्दुष्ट नहीं है ।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ की गुणालंकार-धारणा कुछ नवीन दृष्टिकोण से युक्त है । वे तत्त्वतः गुण को रस का धर्म नहीं स्वीकार करते । काव्य का आत्मा रस भी प्राणी के आत्मा की तरह निर्गुण है । रति आदि स्थायीभाव काव्य के आत्मभूत रस की उपाधियाँ हैं और माधुर्य आदि गुण इन उपाधियों के धर्म हैं । किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं । दूसरी आपत्ति यह है कि एक गुण में दूसरे गुण की सत्ता कैसे मानी जाय । न्याय दर्शन में गुण को निर्गुण कहा गया है अर्थात् एक गुण अन्य गुणों की सत्ता से रहित होता है । इसलिए पण्डितराज की उपर्युक्त धारणा खण्डित हो जाती है । अब यदि यह माना जाय कि शृंगार में माधुर्य नहीं रहता, तो उसे मधुर कैसे कहते हैं । पण्डितराज इसका समाधान प्रयोजकता-सम्बन्ध के आधार पर करते हैं । रस वस्तुतः माधुर्यादि गुण के प्रयोजक हैं, इसलिए मधुर आदि कहलाते हैं । यह प्रयोजकता शब्दार्थगत रसगत और संघटनागत होती हैं । ये सब मिलकर माधुर्यादि को उत्पन्न करते हैं, जो चित्त की एक विशेष अवस्था है । गुण रस, शब्दार्थ या संघटना में से किसी के भी धर्म नहीं है । अतः अलंकार से गुण का अन्तर स्वयंसिद्ध है ।

काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य में अलंकार को बहुत महत्त्व प्रदान किया । धीरे-धीरे चलकर गुणों का सम्बन्ध काव्य के आत्मा से जोड़कर उन्हें अलंकारों से अधिक महत्त्व प्रदान किया जाने लगा । गुण को काव्य-शोभा का जनक और अलंकार को उस शोभा का उत्कर्षकारक मानकर काव्य में क्रमशः उन्हें नित्य और अनित्य माना गया । ध्वनिवादी आचार्यों ने एक प्रकार से अलंकार को उपेक्षित ही कर दिया । आनन्दवर्धन ने तो रसाक्षिप्त अलंकार को ध्वनिकाव्य में इष्ट स्वीकार किया था किन्तु परवर्ती आचार्यों ने अलंकार

---

१. तथा "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः" इति वामनेन यो विवेकः कृतः सोऽपि व्यभिचारी । तथाहि—"गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः" इत्यादौ प्रसादश्लेषसमतामाधुर्यसौकुमार्यार्थव्यक्तीनां गुणानां सद्भावेऽपि काव्यव्यवहाराप्रवृतेः । "अपि काचिच्छ्रुता वार्ता तस्यौन्निद्रयाविद्यायिनः । इतीव प्रष्टुमायाते तस्याः कर्णान्तमीक्षणे ॥" इत्युत्प्रेक्षालंकारमात्राद् विविक्षितत्रिचतुरगुणात्काव्यव्यवहारदर्शनात् ।

—काव्यानुशासन १

को सर्वथा बहिरंग घोषित कर काव्य में उनकी नियतोपस्थिति का निषेध कर दिया। ध्वनिसिद्धान्त के पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने के बाद भी अप्पयदीक्षित, जयदेव प्रभृति आचार्यों ने एक बार फिर जोर मारा कि अलंकार के छीने गये गौरव को उसे प्रदान करें किन्तु उनको सफलता नहीं के बराबर मिली। जयदेव ने तो चन्द्रालोक में स्वयम् अग्नि की तरह धधकते हुए मम्मट आदि को ललकारा। मम्मट के काव्यलक्षण पर वक्र दृष्टि डालते हुए उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि जो अलंकाररहित शब्दार्थ को भी काव्य मानने के लिए तैयार है, वह भला अग्नि को भी उष्णताविहीन क्यों नहीं स्वीकार कर लेता।[1] जयदेव ने ऐसा कहने में भी यमक की मुहर लगा दी है।[2] जयदेव का कथन नितान्त रोषपूर्ण है। यह न तो तर्क संगत है और न उचित ही। यदि ऐसा हो तो महाकवियों के अनेक रसमय काव्य अपनी जाति से ही (अलंकार के अभाव में) बहिष्कृत हो जाएँगे। अलंकार का भी काव्य में महत्त्व है, वह उसके लिए उपादेय है किन्तु उसे ही काव्यत्व का निष्पादक मान लेने पर बाह्य सौन्दर्य को ही सब कुछ स्वीकार कर लेना है और आत्मा को महत्त्वहीन घोषित करना है। जबकि वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। यही कारण है कि इन आचार्यों का आक्रोश ध्वनिसिद्धान्त को उसके शीर्षस्थान से विचलित करने में प्रभावहीन रहा।

गुणालंकार धारणा के सन्दर्भ में इनके परस्पर सम्बन्ध और काव्य में महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए, आचार्यों के सिद्धान्तों को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) उद्भट आदि आचार्यों का सिद्धान्त। गुण और अलंकार, दोनों को समवाय वृत्ति से काव्य के साथ सम्बद्ध कर इनमें अभेद स्थापित किया गया। दोनों को ही शब्दार्थ (या संघटना) का धर्म माना गया।

(२) वामन आदि आचर्यों का सिद्धान्त। गुण को काव्यशोभा का जनक और अलंकार को काव्यशोभा का अतिशय करने वाला हेतु मानकर दोनों में मौलिक पार्थक्य स्थापित किया गया। यहाँ अलंकार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया।

---

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ —चन्द्रालोक, १।८

२. अनलंकृती, अनलं कृती।

(३) आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों का सिद्धान्त। गुण को रसाश्रित तथा अलंकार को शब्दाश्रित मानकर उनको क्रमशः काव्य में नियत तथा अनियत बतलाते हुए दोनों की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया। इस सिद्धान्त में गुण की अपेक्षा अलंकार को कम महत्त्व प्रदान किया गया।

उपर्युक्त वर्ग एक में संकेतित समवायवृति परक सिद्धान्त का कोई सुव्यवस्थित क्रमबद्ध रूप उपलब्ध नहीं होता। परवर्ती आचार्यों ने उक्त सिद्धान्त का उल्लेख पूर्वपक्ष के रूप में किया है। अतः उसी आधार पर एतद्विषयक तथ्यों का संग्रह किया गया है। क्रमसंख्या २ और ३ में उल्लिखित सिद्धान्त ही सुव्यवस्थित परम्परा के रूप में प्राप्त होते हैं। वे ही महत्त्वपूर्ण तथा आलोच्य हैं।

उक्त दोनों सिद्धान्तों में मुख्य साम्य यह है कि वे काव्य में गुण की स्थिति नित्य और अलंकार की स्थिति अनित्य मानते हैं तथा अलंकार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं।

उक्त दोनों सिद्धान्तों में उल्लेख वैषम्य यह है कि वामन आदि आचार्यों ने गुण को शब्दार्थगत माना हैं जबकि आनन्दवर्धन आदि गुण को आत्मतत्त्व मानकर रस का धर्म मानते हैं।

मम्मट आदि आचार्यों ने गुण को रसाश्रित सिद्ध कर उन्हें शब्दार्थगत मानने का निषेध किया है। किन्तु यह समीचीन नहीं है। गुण रसाश्रित भी होते हैं और शब्दार्थाश्रित भी। विचारपूर्वक देखा जाय तो ऐसा मानने में भी परस्पर कोई विरोध नहीं है। काव्य में गुणस्थिति के निर्धारण के लिए जिस लौकिक उदाहरण का आश्रय लिया जाता है, उसका सूक्ष्म विश्लेषण करने पर स्पष्टतया यह ज्ञात होता है कि शौर्यादि आत्मा के गुण अवश्य हैं किन्तु व्यक्ति की आकृति में भी कान्ति, सौकुमार्य आदि गुण रहते हैं। शरीरगत ये गुण भी उपेक्ष्य नहीं हैं। यद्यपि कभी-कभी शरीरगत गुणों के अभाव में भी आत्मोत्कर्ष से व्यक्ति के महत्त्व में कोई न्यूनता नहीं आती, परन्तु इसे भी नकारा नहीं जा सकता कि व्यक्ति के भव्य अनुभाव की निर्गति शारीरिक (बाह्य) गुणों के योग से भी होती है। मधुर अनुभाव के लिए आत्मगत माधुर्य के साथ ही स्वरूपगत मार्दव भी आवश्यक है। पुरुष आकृति में भावगत मृदुता की अभिव्यक्ति असम्भव ही है। यद्यपि कोमल वर्णों से दीप्त तथा कठोर वर्णों से मृदु भावों की अभिव्यंजना

के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं किन्तु यदि मृदु भावों को अभिव्यक्त करने के लिए मृदुवर्णों की योजना की जाय तो क्या वे कठोरवर्ण योजना की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और सहायक (उस भाव को व्यक्त करने में) नहीं होंगे ? अतः रसाश्रित गुणों की व्यंजना के लिए अनुकूल वर्णों के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया । किन्तु इससे वामन के शब्दार्थाश्रित गुणों का निषेध नहीं किया जा सकता और उनके कुछ गुणों का अलंकार में अन्तर्भाव करना भी बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता ।

लोक की तरह काव्य में भी भाव और आकार का अपना अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है । समालोचना की निष्पक्षता के लिए दोनों को समान महत्त्व दिया जाना चाहिए । रीति सम्प्रदाय में भाव की उपेक्षा कर संघटना पर ही विशेष बल दिया गया । ध्वनि सम्प्रदाय में भी रस की अपेक्षा शब्दार्थ को गौण महत्त्व प्रदान किया गया । परिणाम यह हुआ कि अंगी के गुणों के सापेक्ष्य अंग के गुणों की मान्यता महत्त्वहीन पड़ने लगी । ध्वनि सम्प्रदाय में शब्दार्थाश्रित अलंकारों की उपेक्षा का रहस्य यही है । आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक विशद थी । उन्होंने काव्य में अकृत्रिमतया प्रयुक्त रसाक्षिप्त अलंकारों के महत्त्व को उदारतापूर्वक स्वीकार किया था । वस्तुतः आकार (रूप-विधान) का महत्त्व इसी से आँका जाता है कि वह भाव को कहाँ तक प्रभावशाली बना सकता है । काव्य उक्ति-वैचित्र्य की अपेक्षा रखता है । अन्यथा अनुदिन के लोक वाग्व्यवहार से उसका अन्तर ही क्या रहेगा ? काव्य तो लोकोत्तर वर्णन होता है ।[1] नीलकण्ठ दीक्षित का कथन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम लोकव्यवहारतः जिन शब्दार्थों का प्रयोग करते हैं, उन्हीं शब्दार्थों के चारुविन्यास से कवि सहृदयलोक को मुग्ध बना देता है ।[2] पाश्चात्त्य काव्यशास्त्रियों ने भी काव्य की भावना के लिए अलंकार विधान आवश्यक माना है । मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने वस्तुतः काव्यालंकारों को शारीरिक-आभूषणों के समान मानकर, लोकव्यवहार का आरोप काव्यव्यवहार में करके न्याय नहीं किया है । यह बात अलग है कि जिस प्रकार लोक में मनुष्य जब चाहे आभूषणों को शरीर पर धारण करे और जब चाहे उतार कर अलग रख दे, इससे उसके 'मानवत्व' में कोई अन्तर नहीं पड़ता । आभूषण उतार देने पर

१. लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म (काव्यम्)—काव्यप्रकाश, १।२ वृत्ति,

२. यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमालिखामः ।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥—शिवलीलार्णव, १।१३

भी वह मानवत्व से च्युत न होकर मानव ही रहता है, उसी प्रकार काव्य को भी अलंकारों से युक्त अथवा वियुक्त कर देने पर, उसके काव्यत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अलंकार रहित होने पर भी उसे काव्य तो कहा ही जायेगा। किन्तु आभूषण उतार देने पर जो स्थिति मानव देह की होती है, वैसी ही शब्दार्थमय काव्यशरीर की भी होती है। निःसन्देह दोनों में पर्याप्त अन्तर है। लोक में शरीर पर धारण किये गये अलंकार शरीर की शोभा में वृद्धि अवश्य करते हैं किन्तु शरीर से उनको अलग कर देने पर शरीर की 'मौलिक शोभा' में कोई कमी नहीं आती। क्या काव्यालंकारों के साथ भी ऐसा सम्भव है? काव्य में प्रयुक्त होकर अलंकार काव्य की जो सौन्दर्य वृद्धि करते हैं क्या उन्हें हटा लेने पर वह काव्यसौन्दर्य न्यून होकर काव्य को अनुत्कृष्ट नहीं बना देता? और फिर, जिस प्रकार लौकिक आभूषण शरीर पर धारण किये जाते हैं अथवा उतारे जाते हैं, वैसा क्या काव्यालंकारों के साथ किया जा सकता है? काव्य में प्रयुक्त अनुप्रासोपमादि अलंकार काव्यशरीर को अपरिवर्तित किये बिना हटाये जा सकते है? विचार करने पर इसका उत्तर 'नहीं' में ही प्राप्त होता है। फिर मम्मट आदि का यह कथन कहाँ तक तर्कसंगत और समीचीन है कि काव्यालंकार हारादिवत् होते हैं। लौकिक आभूषण तो शरीर पर संयोग-सम्बन्ध से ही रहते हैं। किन्तु इसे स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि काव्यालंकार काव्यशरीर में समवाय सम्बन्ध से ही रहते हैं। यदि काव्यशरीर शब्दार्थमय है तो काव्य में प्रयुक्त अलंकार क्या शब्दार्थमय नहीं हैं? हम उनका प्रयोग क्या शब्दार्थ का प्रयोग किये बिना कर सकते हैं? अतः काव्य में अलंकारों का महत्त्व कम नहीं है। हाँ, जयदेव की तरह हमारा आग्रह नहीं है। काव्य में अलंकार को समवाय सम्बन्ध से स्वीकार करने के पक्ष में हम हैं किन्तु अग्नि में उष्णता के समान नहीं, अग्नि में धूम के समान।

गुण और अलंकार के सम्बन्ध में किये गये अब तक के विवेचन से एक बात तो स्पष्ट है कि आचार्यों में मतैक्य नहीं है। कहीं गुण और अलंकार की आधारभूत अभिन्नता स्वीकार की गई तो कहीं आश्रय भेद से उनमें पार्थक्य प्रदर्शित किया गया। कहीं कुछ गुण अलंकारों में परिगणित हुए तो कहीं कुछ अलंकार गुणों की परिधि में लाये गये। मम्मट ने वामन के इस शब्दार्थगत गुणों को अपने तीन रसाश्रित गुणों में ही अन्तर्भूत कर लिया किन्तु यह कार्य न्यायोचित नहीं हुआ। रसाश्रित तीन गुणों को ग्राह्यता तो निर्विवाद है किन्तु इससे

वामन के शब्दार्थगत दस गुणों की उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। रसाश्रित तीनों गुणों की अलंकारों से भिन्नता स्पष्ट है। आश्रय भेद से उनमें स्वरूपगत भेद भी है। भ्रान्ति तो शब्दाश्रित गुणों और अलंकारों के बीच है क्योंकि दोनों का आश्रय एक ही है। फिर भी आचार्यों ने लक्षण करते हुए ऐसा प्रयास किया है कि एक गुण का दूसरे गुण से, तथा अलंकारों से भेद स्पष्ट हो जाता हैं।

काव्य में गुण और अलंकार के कार्यों का पृथक्-पृथक् निर्धारण न होने से भी दोनों के वैभिन्न्य की अस्पष्टता विद्यमान है। अनेक आचार्यों द्वारा यह मान लेने पर भी कि गुण काव्यसौन्दर्य के हेतु हैं और अलंकार सौन्दर्यातिशय के हेतु हैं, व्यवहारतः जटिलता बनी ही रहती है। उदाहरण के लिए यदि किसी काव्य में अर्थव्यक्ति नामक गुण और स्वभावोक्ति नामक अलंकार साथ-साथ विद्यमान रहें तो यह निर्णय करने का आधार क्या होगा कि काव्यसौन्दर्य वस्तुतः किसके कारण है—अर्थव्यक्ति के कारण अथवा स्वभावोक्ति के कारण ? इसकी वजह यह है कि दोनों के स्वभाव में इतनी अधिक समानता हैं कि यह अर्थव्यक्ति सौन्दर्य का जनक हो सकता है तो स्वभावोक्ति भी असमर्थ नहीं माना जा सकता। प्रायः समान सामर्थ्य युक्त होने पर भी कोई गुण कहे जाने के कारण काव्यशोभा का जनक हो जाय और कोई अलंकार होने मात्र से इस श्रेय से वंचित होकर उस उत्पन्न शोभा को बढ़ाने वाला करार दे दिया जाय, यह तो सर्वथा तर्कसंगत नहीं है। किसी भी काव्यतत्त्व का गुण या अलंकार रूप से सुनिश्चय करना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक कि यह न निर्णय हो जाय कि गुण वह कौन सा कार्य करता है जो अलंकार नहीं कर सकता अथवा अलंकार कौन सा कार्य करता है जो गुण नहीं कर सकता। जब तक यह निर्णय नहीं हो जाता, तब तक गुण और अलंकार के पार्थक्य को सुनिश्चित करना प्रायः असम्भव है।

गुण को काव्यशोभा का जनक और अलंकार को उसका अतिशय करने वाला मानना इस आधार पर भी असंगत और सारहीन प्रतीत होता है कि ऐसा मानने पर जिस काव्य में अधिक से अधिक अलंकार की योजना की जायेगी, उसमें अधिक से अधिक सौन्दर्य भी मानना पड़ेगा। क्योंकि अलंकार जितने ही अधिक रहेंगे, काव्य सौन्दर्य उतना ही अधिक बढ़ेगा। यदि गुणजन्य काव्य-सौन्दर्य अलंकारों के प्रयोग से वृद्धि को प्राप्त होता है, तो अलंकार का प्रयोग न

करने पर गुण के सद्भाव में भी काव्य में अपुष्ट सौन्दर्य ही विद्यमान होगा। इस प्रकार काव्य की उत्कृष्टता का निर्णय अलंकारों पर आश्रित हो जायेगा। किन्तु अलंकार के आधार पर काव्य की उत्कृष्टता (श्रेष्ठता) का निर्णय अधिकांश आचार्यों को अभिमत नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र, काव्यसौन्दर्य की सार्थकता तो सहृदय के हृदय में आनन्दानुभूति को मानता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के अंगों को चिति के आवरण-निवारण में सहायक मात्र स्वीकार किया है।[1] पाश्चात्त्य काव्यशास्त्री, आई० ए० रिचर्ड ने सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ न मानकर आत्मनिष्ठ माना है। उनका विचार है कि किसी वस्तु को सुन्दर कहने का आशय यही है कि वह अन्तःकरण में सौन्दर्यबोध कराने में क्षम है।[2] अलंकार को काव्यसौन्दर्य के अतिशय का हेतु मानने पर, न्यूनाधिक अलंकार के प्रयोग से उत्कृष्टानुत्कृष्ट काव्य की अलंकारकृत कोटियाँ माननी पड़ेगी। किन्तु इस प्रकार अलंकारों का प्रयोग कर काव्य की कोटियों का निर्धारण न तो मान्य है और न आचार्यों ने किया ही है, अपितु अलंकारों का सद्भाव रहने पर भी गुणों के अभाव में वह या तो काव्य कहा ही न जायेगा, अथवा अधम काव्य कहा जाता है।

गुण काव्य के नित्य धर्म हैं। इसलिए काव्य में उनके सर्वथा अभाव की बात नहीं सोची जा सकती फिर भी सभी गुण काव्य में एक साथ उपस्थित रहेंगे—ऐसा सोचना भी क्लिष्ट कल्पना से परे नहीं होगा। यद्यपि वामन आदि ने वैदर्भी रीति में समस्त गुणों की सत्ता बताई है।[3] किन्तु यह एक आदर्श स्थिति है। व्यवहारतः इसका निर्वाह दुष्कर ही है। महाकवि कालिदास की रचनाओं को वैदर्भी प्रधान माना गया है।[4] किन्तु क्या उनके काव्यों में सर्वत्र सभी गुणों की सत्ता दृष्टिगोचर होती है? सम्भवतः कालिदास-साहित्य में प्रसाद और

---

१. व्यंजकविभावादिचर्वणाया आवरणभंगस्य वा उत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्ति-विनाशौ रस उपचर्येते।—रसगंगाधर, १।

२. We are accustomed to say that a picture is beautifull, instead of saying that it cause an experience in us which is valuable in certain ways' I. A. Richard, Principles of Literary Criticism; page 20;

३. समग्रगुणोपेता वैदर्भी—काव्यालंकारसूत्र, १।२।११

४. वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।

माधुर्य गुणों की सहज बहुलता के कारण ही उन्हें वैदर्भी मार्ग का घोषित किया है। वैदर्भी में समग्र गुणों की सत्ता घोषित करने वाले आचार्य वामन द्वारा निर्दिष्ट दसों शब्दार्थ गुण कालिदास की कृतियों में एकत्र कहाँ हैं ? सम्भवतः यह भी अन्वेषण का विषय होगा। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि काव्यों में प्रायः कुछ ही गुण एकत्र प्राप्त होते हैं, सभी नहीं। अतः तत्तद्-गुणों के अभाव में उनसे साम्य रखने वाले अलंकारों का महत्त्व और अन्तर आसानी से समझा जा सकता है।

यह सिद्धान्त मान लेने पर कि गुण काव्यशोभा के जनक हैं, गुणों के अभाव में काव्य में सौन्दर्य की कल्पना तो की ही नहीं जा सकती साथ ही काव्य में जितनी शोभा समग्र गुणों की उपस्थिति से होगी, उतनी शोभा मात्र कुछ गुणों की उपस्थिति से नहीं हो सकती। साथ ही गुणों का विपर्यय सदैव दोष में पर्यवसित होता है। आचार्य वामन भी गुण-विपर्यय को दोष मानते हैं। भोजदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण में गुणों की संख्या चौबीस मानते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य दस गुणों में से समाधि के अतिरिक्त शेष नौ गुणों के विपर्यय को दोष कहा है।[1] किन्तु अलंकार के विपर्यय से काव्य दुष्ट नहीं होता। गुण का विपर्यय दोष होता है लेकिन अलंकार का विपर्यय किसी दोष का हेतु नहीं होता अपितु अलंकार ही होता है। विशेषोक्ति और विभावना इसका सहज उदाहरण है। गुण और अलंकार का यह एक स्पष्ट भेद है।

अतएव उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निष्कर्षतः गुण और अलंकार के स्वरूपगत भेद को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

गुण—

काव्य का नित्य धर्म है। यह काव्य में सौन्दर्य का जनक है। उसके अभाव में काव्यत्व की हानि होती है और जिसका विपर्यय सदैव काव्यदोष के रूप में पर्यवसित होता है।

अलंकार—

काव्य का अनित्य धर्म है। वह काव्यसौन्दर्य का उत्कर्ष करता है। उसके अभाव में काव्यत्व की हानि नहीं होती और उसका विपर्यय किसी दोष में पर्यवसित नहीं होता अपितु कभी-कभी अलंकार में ही पर्यवसित होकर काव्य-चारुत्व को उत्कृष्टता ही प्रदान करता है।

रीति और गुण

भारतीय काव्यशास्त्र में रीति से सम्बद्ध प्रधानतः तीन मान्यताएँ प्रचलित हैं। काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं के विकास के आदिकाल में रीति के निर्धारण का दृष्टिकोण भौगोलिक था। काव्य की देशगत पद्धतियों को रीति के रूप में समझा गया। आगे चलकर देश के साथ स्थापित काव्य परम्परा की पद्धति समाप्त होने लगी और रीति का स्वरूप विषयगत वैशिष्ट्य के आधार पर निर्धारित होने लगा। सिद्धान्तों के उत्तरोत्तर विकास क्रम में कुन्तक की रीति सम्बन्धी मान्यता ने विषयगत आधार छोड़कर कवि के स्वभाव से भी सम्बन्ध जोड़ लिया। वामन ने रीति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। इन सभी मान्यताओं के अन्तर्गत रीति और गुण के परस्पर सम्बन्धों के विषय में सदैव किसी न किसी रूप में विचार किया जा रहा। प्रस्तुत स्थल में रीति का गुण से क्या सम्बन्ध है और काव्य में उनका एक दूसरे की दृष्टि से क्या महत्त्व है—इन सब बातों पर विचार किया जा रहा है।

आचार्य भरत के नाट्शास्त्र में स्पष्ट रूप से रीतियों का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। काव्य की स्थानीय शैलियों का संकेत उन्होंने अवश्य किया है और इसके लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह है 'प्रवृत्ति'। उनके अनुसार भिन्न-भिन्न देशों के वेष, भाषा और आचार आदि की वार्ता का प्रकटन करने वाले काव्यतत्त्व 'प्रवृति' कहे जाते हैं। भाषा की वार्ता काव्य शैली से ही सम्बद्ध है। नाट्यप्रयोग के आधार पर आचार्य भरत ने चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है—(१) आवन्ती (२) दाक्षिणात्या (३) पांचाली (४) औड्मागधी।[१] अवन्ती नगरी के आसपास की प्रवृत्ति को आवन्ती कहा गया है। अवन्ती का उपलक्षितार्थ पश्चिम भारत है। दक्षिण भारत की प्रवृति दाक्षिणात्या कही गई है। मध्यदेश की प्रवृत्ति पांचाली है और उड़ीसा—मगध की प्रवृति औड्मागधी नाम से कही गई है। इस प्रकार प्राचीन भारत के चार प्रान्तों की भाषा-शैली के आधार पर उक्त चार प्रवृत्तियों की कल्पना की गई प्रतीत होती है। प्रवृत्तियों का यह स्वरूप अत्यन्त प्रारम्भिक और संकुचित है क्योंकि इनमें भारत के सभी भूभागों के भाषागत वैशिष्ट्य का समावेश नहीं हो पाया था। प्रवृत्तियों के अतिरिक्त रूपकों में वृत्तियों की भी कल्पना की गई

१. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड्मागधी ॥—नाट्यशास्त्र, १३।३७

है। कैशिकी, सात्वती, भारती और आरभटी मुख्यतः नाट्यप्रयोगों से सम्बद्ध हैं। ये एवं उद्धृत प्रयोग कोमल तथा दीप्त रसों से सम्बद्ध हैं। रीतियों से इनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।

आचार्य भरत ने देशाश्रय से जिस प्रकार काव्य प्रवृत्तियों का निर्देश किया था उसी मार्ग पर चलते हुए गद्यकाव्य के अप्रतिम रचनाकार बाणभट्ट ने भी काव्यपद्धतियों का उल्लेख किया है। किन्तु इनका निर्धारण भरत की अपेक्षा अधिक व्यापक है क्योंकि इन्होंने स्थान विशेष का नाम न लेकर प्रायः दिशाओं का (चतुर्दिक) उल्लेख किया है। साथ ही उन काव्यशैलियों का सम्बन्ध गुणों से भी तत्परतापूर्वक जोड़ दिया है। इस सन्दर्भ में कुछ गुणों और अलंकारों का निर्देश भी उन्होंने किया है। 'हर्षचरित' की प्रस्तावना में उत्तर, पश्चिम, पूर्व और दक्षिण दिशाओं के कवियों की काव्यरचनारुचि के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले कवियों की प्रवृत्ति का निरूपण किया है। बाणभट्ट के अनुसार उत्तर भारत के लोग श्लेषप्रिय होते हैं अतः उधर की रचनाओं में श्लेष की प्रधानता पाई जाती है। पश्चिम भारत के काव्य प्रेमी अर्थगौरव के प्रति विशेष लगाव रखते हैं अतः वहाँ की काव्यशैली में अर्थगौरव की विशिष्टता रहती है। दक्षिण भारत के लोग उत्प्रेक्षा युक्त काव्य में रुचि रखते हैं, इसलिए दाक्षिणात्य कवियों को उत्प्रेक्षा प्रयोग विशेष प्रिय है और गौड देश के कवि अक्षरडम्बर (अनुप्रास युक्त समास प्रधान) से युक्त काव्य अधिक पसन्द करते हैं।[1] इन चारों शैलियों का उल्लेख बाणभट्ट ने यह अभिप्राय व्यक्त करने के लिए किया है कि महाकवियों को इन चारों प्रवृत्तियों का सम्यग् ज्ञान और प्रयोग की दक्षता होनी चाहिए। इन सभी शैलियों की एकत्र समायोजना काव्य के गुणों को बढ़ाकर उसे उत्तम बनाती हैं। यद्यपि यह कार्य असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है और सभी कवियों के वश की बात नहीं तथापि जो अपने काव्य को आदर्श श्रेणी में रखने के इच्छुक हों, उन्हें सप्रयत्न ऐसा विधान करना चाहिए। बाणभट्ट की मान्यता है कि काव्य में, नित्यनूतन अर्थसौन्दर्य, अग्राम्य जाति या स्वभावोक्ति, प्रसन्न श्लेष, अभिव्यक्त रस और विकट अक्षरबन्ध—यह सब कुछ एक साथ सन्निविष्ट करना दुष्कर है अथवा मिलना ही प्रायः असम्भव (दुर्लभ) है।[2] बाण का ऐसा कहने

१. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥—हर्षचरित, १/८

२. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥—वही, १।९

का आशय है कि यह एक श्रेष्ठकाव्य का लक्षण है और उन्होंने प्रयत्नपूर्वक ऐसा किया है। बाण द्वारा उल्लिखित श्लेष अलंकार और गुण तो पहले से ही स्वीकृत था, वामन ने स्फुट रसत्व और विकटाक्षरबन्धत्व को क्रमशः कान्ति और औदार्य गुण स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि बाणभट्ट उत्तम काव्य की श्रेणी में उक्त गुणों का सन्निवेश आवश्यक मानते थे। इसलिए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि बाणभट्ट ने कुछ गुणों और अलंकारों को रीति नियामक तत्त्व स्वीकार किया है।

आचार्य भामह ने सर्वप्रथम शास्त्रीय आधार पर रीति का निरूपण कर गुणों के साथ उसके सम्बन्ध की ओर संकेत किया। काव्य-रीति के सम्बन्ध में भामह की एक मौलिक और नवीन दृष्टि थी। उन्होंने भौगोलिक आधार पर रीति-प्रकार के निर्धारण के सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी। उनके ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में स्पष्टतः 'रीति' या 'मार्ग' पदों का प्रयोग नहीं मिलता। उन्होंने काव्यभेद के अन्तर्गत वैदर्भ और गौड काव्य का उल्लेख किया है। वैदर्भ और गौड काव्यों के सम्बन्ध में परम्परा से चली आती हुई भ्रान्त धारणा का निवारण करते हुए उसे निराधार सिद्ध किया है। सम्भवतः भामह के पूर्व यह मान्यता थी कि वैदर्भ-काव्य, गौड की अपेक्षा उत्तम है।

वैदर्भ और गौड काव्य की पारम्परिक मान्यता का विश्लेषण पूर्वक खण्डन करने के सन्दर्भ में भामह की प्रक्रिया का अवलोकन करने से रीति और गुण के सम्बन्ध में उनकी धारणा का उन्मीलन किया जा सकता है। उनका कथन है कि कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि सुन्दर अर्थ से युक्त गौड काव्य की अपेक्षा वैदर्भ काव्य श्रेष्ठ होता है। यह वैदर्भ है और यह गौड है—ऐसा देशगत भेद करना अविचारित गतानुगतिका का परिणाम ही है।[1] देश पर आधारित काव्य-विभाजन युक्तिसंगत नहीं है। इस आधार पर दोनों काव्यों के श्रेष्ठत्व और अधमत्व को स्वीकार करना भामह की दृष्टि में अवैज्ञानिक है। काव्य की उत्कृष्टता उसके विशिष्ट तत्त्वों (गुण, अलंकार, रस, ध्वनि आदि) के आधार पर

---

१. वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकान्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥—काव्यालंकार, १।३१-३२

होनी चाहिए। न कि कहाँ बना है—इस आधार पर। यह आवश्यक नहीं है कि वैदर्भ काव्य सदैव सुन्दर ही हो और गौड काव्य निकृष्ट ही हो। यद्यपि सरल और कोमल होना वैदर्भकाव्य की सामान्य विशिष्टता है तथापि यदि इन विशिष्टताओं के रहने पर भी उसमें अर्थगांभीर्य और वक्रोक्ति न रहे तो वह सही माने में काव्य न रहकर केवल कर्णमधुर संगीत ही रह जायगा।[२] इसके विरुद्ध गौडकाव्य भी दोष रहित, अलंकार सहित, अनाकुल अर्थात् दीर्घ समासों से रहित होकर सुन्दर होता है। किन्तु इन गुणों के अभाव में वैदर्भ काव्य भी सुन्दर न होगा।[१] आचार्य भामह ने स्पष्टतः देश के आधार पर काव्य रीतियों का कोई वर्गीकरण नहीं किया है तथापि वैदर्भ और गौड काव्य क्रमशः वैदर्भी और गौडी रीति के समकक्ष माने जा सकते हैं। डॉ० वी० राघवन् का मन्तव्य है कि भामह कोमलता, श्रुतिपेशलता और प्रसन्नता को वैदर्भ और अनाकुलता अर्थात् अतिदीर्घसमासरहित होने को गौड काव्य का वैशिष्ट्य मानते हैं। यदि सावधानी से विचार किया जाय, तो यह देखा जा सकता है कि भामह अनाकुलता (अतिदीर्घसमासराहित्य) को केवल गौड काव्य में ही नहीं अपितु वैदर्भकाव्य में भी अभीष्ट मानते हैं। भामह की दृष्टि में जो गुण गौड काव्य को चारुता प्रदान करते हैं वे वैदर्भ काव्य में भी काम्य है। भामह तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अलंकारसहित, ग्राम्यताहीन, अर्थवान्, न्यायसंगत और अनाकुल काव्य सुन्दर होता है। अतः अलंकारादि के योग से गौड काव्य भी सुन्दर होता है। अन्यथा वैदर्भ काव्य भी अच्छा नहीं होता। 'काव्यालंकार' के सम्पादक एवं हिन्दी भाष्यकर्ता, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने उक्त स्थल पर 'अन्यथा' का अर्थ 'इन गुणों से वंचित' किया है। पूर्वोद्धृत कारिका (१।३५) का भाष्य करते हुए आचार्य शर्मा ने लिखा है—'अलंकारयुक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान्, न्यायसंगत, अनाकुल (जटिलता आदि दोषों से मुक्त) गौडीय (मार्ग) भी अच्छा है, अन्यथा (इन गुणों से वंचित) वैदर्भ भी नहीं (अच्छा है)।' अतः यह निर्बाध है कि भामह वैदर्भ और गौड काव्य के विषय में यह निश्चित मत रखते है कि कुछ गुण दोनों में उभयनिष्ठ होते हैं। कोमलता, श्रुतिपेशलता और

१. अपुष्टार्थमवक्रोक्तिप्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥—काव्यालंकार १।३४

२. अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयामपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥—वही, १।३५

प्रसन्नता केवल वैदर्भकाव्य के गुण हैं किन्तु पूर्वोक्त अलंकारत्वादि गुणों का सद्भाव दोनों मार्गों के लिए समान रूप से अपेक्षित है ।

माधुर्य, ओज और प्रसाद--इन तीनों गुणों का उल्लेख भामह ने किया है । किन्तु मार्ग-नियामक के रूप में इन तीनों का उल्लेख नहीं है । वास्तव में, भामह के अनुसार वैदर्भ काव्य के नियामक कोमलता आदि ही हैं । सम्भवतः भामह ने सामान्यतया माधुर्यादि गुणों का उल्लेख वैदर्भ और गौड काव्य में वैशिष्ट्य के रूप में कर दिया है । जिन गुणों का उल्लेख भामह ने वैदर्भ काव्य के प्रसंग में कर दिया था, उनमें से कई गुणों का वर्णन आगे चलकर दण्डी और वामन आदि ने मार्ग-विभाजक गुणों के रूप में किया है । आचार्य भामह के श्रुतिपेशलत्व और प्रसन्नत्व को प्रायः परवर्ती आचार्यों ने माधुर्य और प्रसाद से अभिन्न माना । दण्डी ने वैदर्भ मार्ग में अनाकुल और हृद्य ओज को आवश्यक माना । भामह तो अनाकुलत्व को वैदर्भ और गौड—दोनों काव्यों के लिए आवश्यक मानते थे । एक बात ध्यान देने योग्य है कि भामह ने अपने द्वारा उल्लिखित गुणों को परिभाषित नहीं किया है, तथापि गुणों के नामकरण के आधार पर उक्त गुणों के सम्बन्ध में आचार्य की धारणा अभिव्यक्त हो जाती है ।

आचार्य भामह की गुणधारणा का विश्लेषण करने पर एक तथ्य और सामने आता है । उन्होंने गुणों का सम्बन्ध आंशिक रूप से संघटना से भी जोड़ने का प्रयत्न किया है । काव्यालंकार में माधुर्य तथा प्रसाद गुणों में अल्प-समास तथा ओजो गुण में दीर्घ समास की रचना के प्रति उनका आग्रह परिलक्षित होता है ।[1] ओजो गुण का उदाहरण देते हुए उन्होंने जिस पदावली का उल्लेख किया है, वह समासबहुल है ।[2] काव्यालंकार के हिन्दी भाष्यकार आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने उचित टिप्पणी की है—'जो उदाहरण दिया गया है वह समासबाहुल्य रहने पर भी ओज के बदले माधुर्य गुण का उदाहरण हो गया है ।[3]

---

१. माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।—काव्यालंकार, २।१–२

२. यथा मन्दारकुसुमरेणुपिंजरिता ॥—वही २।२

३. देवेन्द्रनाथ शर्मा : काव्यालंकार, भूमिका, पृ० ३८

इस प्रकार हम देखते हैं कि भामह ने गुणों के स्वरूप के साथ पदसंघटना का भी सन्निवेश कर दिया। समास की अल्पता या बहुलता के आधार पर गुणों के स्वरूप का निर्धारण आगे चलकर विकसित हुआ और आचार्य उद्भट आदि ने गुणों को संघटना पर आश्रित माना। यद्यपि भामह ने अपने काव्यालंकार में गुण और रीति के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन नहीं किया है तथापि गुणों के सम्बन्ध में पदसंघटना के आधार का उल्लेख करके उन्होंने बीजरूप में अपना जो भी विचार व्यक्त किया वह आगे चलकर आचार्यों द्वारा पल्लवित किया गया। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि गुणों को मार्ग का नियामक तथा संघटनाश्रित मानने वाले मतों का बीज काव्यालंकार में सन्निहित था।

दण्डी—

दण्डी ने रीति का नाम तो नहीं लिया किन्तु उसी को मार्ग नाम से अभिहित किया है। यही ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने गुण के साथ रीति के सम्बन्ध का स्पष्ट विवेचन सर्वप्रथम किया है। दण्डी ने काव्य के अनेक मार्गों का उल्लेख किया है, जो परस्पर सम्बद्ध थे। उनमें से वैदर्भ और गौड मार्गों का अन्तर अत्यन्त स्फुट माना गया है।[1] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, दण्डी द्वारा अभिहित 'मार्ग' को ही परवर्ती आचार्यों ने 'रीति' कहा है। उपर्युक्त दोनों मार्गों के सन्दर्भ में ही दण्डी ने दसों गुणों की प्रकृति का विचार किया है। ये गुण उन मार्गों (रीति) के नियामक हैं। दण्डी के अनुसार श्लेष आदि गुण मार्गविभाजक अलंकार कहे गये हैं।[2] दण्डी का कथन है कि उक्त दस गुण वैदर्भी (रीति) के प्राणभूत हैं और इनका विलोम गौडमार्ग में दृष्टिगोचर होता है।[3] दण्डी के इस विचार से सहमत होना प्रायः सम्भव नहीं है क्योंकि सभी गुणों का विपर्यय गौडी रीति में नहीं प्राप्त होता और स्वयं दण्डी ने ही कुछ गुणों की दोनों मार्गों में समानरूप से विद्यमानता स्वीकार की है। प्रमाण के लिए अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि का प्रमुख रूप से उल्लेख किया जा सकता है। दण्डी के उक्त विचार के सन्दर्भ में चिन्त्य

---

१. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ॥—काव्यादर्श १।४०

२. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।—काव्यादर्श, २।२

३. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥—वही, १।४२

प्रश्न यह है कि गुणों का विपर्यय तो दोषरूप में पर्यवसित होता है। फिर यह विडम्बना ही होगी कि उक्त दसों गुणों का विपर्यय करके गौड मार्ग का काव्य-कर्त्ता अपने काव्य में दोषों का जानबूझकर सन्निवेश करे। यह मानना तो नितान्त असंगत है कि कोई कवि अपने काव्य में दोषों को स्थान देने में रुचि रखेगा। कुछ विद्वानों ने इसका समाधान निकालने का प्रयत्न किया है। यह कहना सम्भव है कि दण्डी की मान्यता के अनुसार वैदर्भ काव्य से गौड काव्य की प्रकृति भिन्न है। अतः एक के गुणों का विपर्यय दूसरे में दोष नहीं भी हो सकता। किसी के गुण का विपर्यय उसी में तो अवश्य ही दोष होगा किन्तु अन्य में वह गुण भी हो सकता है। इसी आधार पर वैदर्भ मार्ग के गुणों का विपर्यय स्वयं वैदर्भमार्ग में तो दोष होगा किन्तु वह गौड मार्ग में गुण हो सकता है। जैसे क्षत्रिय में क्रोध का विपर्यय दोष माना जा सकता है किन्तु ब्राह्मण में वही गुण हो जाता है। यह लोक-मान्य सिद्धान्त है कि अपने-अपने आदर्श के अनुकूल धर्म को लोग गुण मानते हैं तथा प्रतिकूल धर्म को दोष। क्षत्रिय और ब्राह्मण के स्वभाव और जीवनादर्श की भिन्नता के कारण एक ही धर्म, एक में गुण है तो दूसरे में दोष। यह तो निश्चित है कि स्वभाव की भिन्नता के कारण ही वैदर्भ और गौड मार्ग की भिन्नता है और दोनों मार्ग के कवियों का काव्यगत आदर्श भी भिन्न है। इसलिए यदि वैदर्भ-मार्ग के काव्यों के कुछ गुणों का विपर्यय गौड मार्ग के काव्यों के कुछ गुणों के रूप में ग्राह्य हो तो भला इसमें आपत्ति की बात क्या हो सकती है? दण्डी द्वारा पठित कारिका में भी 'प्रायः' का प्रयोग—'एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि—' इसी आशय को दृष्टि में रखकर किया गया है। 'प्रायः' कहने से यही अभिप्रेत है कि समग्र दशों गुणों का विपर्यय तो गौडमार्ग में सर्वथा इष्ट नहीं है, हाँ, कभी कुछ गुणों का विपर्यय किया जा सकता है। 'प्रायः' स्वयं में नित्यता का निषेध कर आकस्मिकता का प्रतिपादन करता है। 'प्रायः' के प्रयोग से यह स्थिति तो स्पष्ट हो जाती है कि दण्डी का उपर्युक्त कथन अनिश्चयात्मक है। इस अनिश्चयात्मकता के कारण व्याख्याताओं को स्वाभिमत प्रकट करने का पूरा अवसर मिल गया। काव्यादर्श के टीकाकार तरुणवाचस्पति ने 'विपर्यय' का अर्थ 'वैपरीत्य' किया है। उनका तर्क है कि दण्डी प्रायः दस गुणों के विपर्यय (वैपरीत्य) का सद्भाव गौड मार्ग में मानते हैं।[1] काव्यादर्श

१. काव्यादर्श, १।४२ पर तरूणवाचस्पति की टीका।

की 'हृदयंगमा' टीका में 'एषां' का अर्थ 'गुणानां' और विपर्यय का अर्थ 'अन्यथात्व' किया गया है। इस प्रकार गौडमार्ग के काव्य में वैदर्भ मार्ग के श्लेषादि गुणों का अन्यथात्व रहता है क्योंकि दोनों मार्ग के काव्यों के सम्बन्ध में कवियों की धारणा में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।[1] ऐसा ही मत एक अन्य टीकाकार पण्डित रंगाचार्य ने अपनी प्रभा व्याख्या में व्यक्त किया है।[2] एक अन्य व्याख्या में 'विपर्यय' का अर्थ तो 'अन्यथात्व' ही किया गया है किन्तु 'एषां' का अर्थ 'गुणानां' न करके 'प्राणानाम्' किया गया है और युक्ति यह दी गई है कि दण्डी वैदर्भ मार्ग के काव्य का प्राण गौड मार्ग के काव्य-प्राण से भिन्न रूप वाला मानते थे।[3]

उपर्युक्त व्याख्याओं में कोई विशेष तात्त्विक अन्तर नहीं है। इन तीनों व्याख्याओं में एक बात समान रूप से स्वीकार की गई है कि वैदर्भ और गौड, दोनों मार्गों में काव्य का आदर्श अलग-अलग है। अतः शैथिल्य आदि को गौड-कवि प्रश्रय दे सकते हैं। दण्डी ने तो कहा ही है कि अनुप्रास की योजना के लोभ से गौडमार्ग के काव्यकर्ता श्लेष गुण का त्याग कर शैथिल्य को स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि अनुप्रास उन्हें प्रिय है।[4] अतएव गौड काव्य के आदर्श का अंग अनुप्रास को माना जा सकता है, न कि शैथिल्य को। इसी प्रकार अत्युक्ति आदि को काव्य का गुण गौडमार्गी कवि इसलिए मान लेते हैं क्योंकि वह उनके काव्य के आदर्श की उपलब्धि में सहयोगी होता है। आचार्य वामन ने ओज के साथ रहने पर बन्ध-शैथिल्य को गुण स्वीकार किया है।[5] अतः अनुप्रास युक्त शिथिल पद योजना भी गौडमार्ग में गुण माना जा सकता है। ध्वनि सम्प्रदाय में आचार्य गण मानते हैं कि बन्ध का गाढत्व या शैथिल्य स्वयं में न तो गुण है और न दोष ही। वे कहाँ गुण होंगे और कहाँ दोष, यह तो निबद्ध भावों के अनुकूलता या प्रतिकूलता के आधार पर निर्णीत हो सकता है, जो कि संगति-सापेक्ष्य होता है। अतः विचार करने पर तरुणवाचस्पति द्वारा की गई विपर्यय—वैपरीत्य व्याख्या सर्वथा असमीचीन नहीं जान पड़ती। वैदर्भ

१. काव्यादर्श, हृदयगमा टीका।

२. वही, प्रभा टीका।

३. Dr. P. C. Lahiri: The concept of Riti And Guna; page. 60

४. इतीदं नादृतं गौडेरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।—वही, १।५४

५. शैथिल्यं प्रसादः। गुणः संप्लवात्।—काव्यालंकारसूत्र (वामन) ३।१।६–७

मार्ग के प्रसाद, कान्ति, सुकुमारता, समता और श्लेष गुणों के विपर्यय को क्रमशः व्युत्पन्नता, अत्युक्ति, दीप्तता, विषमता और शैथिल्य गौड मार्ग में गुण के रूप स्वीकृत करने में कोई अड़चन नहीं है। इन्हें दोष नहीं कहा जा सकता। अतः यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है कि सभी गुणों का विपर्यय दोष में पर्यवसित होता है। यद्यपि ऐसा होना सम्भव है किन्तु अनिवार्यतः नहीं और इस सम्बन्ध में लोकधर्मी उदाहरण पहले दिया जा चुका है। अतः 'एषां' का अर्थ 'गुणानां' और 'विपर्यय' का अर्थ 'वैपरीत्य' यह दण्डी के मतानुसार ही है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

'विपर्यय' की व्याख्या 'अन्यथात्व' करने वाले दो व्याख्याकारों ने 'एषां' की व्याख्या करने में मतवैभिन्न्य दिखाया है। एक ने 'गुणानां' और दूसरे ने 'प्राणानां' अर्थ करके क्रमशः गुणों के अन्यथात्व और प्राण के अन्यथात्व की कल्पना सम्भवतः गुणों के वैपरीत्य में दोष मानकर ही की है। हम पहले ही यह देख चुके हैं कि गुणों का वैपरीत्य सर्वथा दोष नहीं होता। अतः 'अन्यथात्व' की कल्पना युक्तिसंगत नहीं।

वैदर्भ मार्ग के प्राण को गौडमार्ग के प्राण से भिन्न मानने वाली व्याख्या भी विचारणीय है। प्राण-भिन्नता की कल्पना का आधार सम्भवतः यह है कि आचार्य दण्डी ने स्पष्टतः दोनों मार्गों की उत्कृष्टता-निकृष्टता का निर्धारण नहीं किया है। फिर भी दण्डी के प्रतिपादन का सूक्ष्म विश्लेषण करने से यह बात तो साफ ही लगती है कि वे वैदर्भ को गौड की अपेक्षा सुन्दरतर मानते थे। डॉ० एस० के० डे की यह मान्यता है कि दण्डी वैदर्भ मार्ग के प्रति पक्षपात और गौड मार्ग के प्रति तनिक अरुचि का भाव प्रदर्शित करते हैं।[१] वे गौडकाव्य की शैली का मूलतत्त्व वैदर्भ से भिन्न मानते थे। इसलिए दोनों मार्गों के प्राणों (मूलतत्त्वों) की भिन्नता मात्र प्रदर्शित करने के लिए 'विपर्यय' का 'अन्यथात्व' अर्थ करना समीचीन नहीं जान पड़ता।

कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि दण्डी ने वैदर्भ मार्ग का प्रयोग उपलक्षणार्थ में किया है। वह सभी सुन्दर रीतियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। ऐसा मानने वाले विद्वानों में श्री एस० पी० भट्टाचार्य प्रमुख हैं। भट्टाचार्य की

---

१. .... Dandin shows a decided partialiaty for the Vaidarbhimarg and a mild aversion to the Gauda.

—Dr. S. K. De; Some Problems of Sanskrit Poetics; p. 62.

यह मान्यता असंगत नहीं जान पड़ती ।[1] काव्यादर्श के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि आचार्य दण्डी काव्य के अनेक मार्ग (रीति) मानते थे । लेकिन इनमें से केवल दो ही मार्गों—वैदर्भ और गौड का स्वरूप विवेचन किया है। सम्भव है कि सुन्दर मार्गों के प्रतिनिधि रूप में वैदर्भमार्ग (सुन्दरतम मार्ग) का उल्लेख उन्होंने सोच-विचार कर किया हो । इस आधार पर उनकी काव्य विषयक मान्यता का निष्कर्ष इस रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है कि उत्तम काव्य के लिए श्लेषादि दस गुण आवश्यक हैं । कोई भी मार्ग (रीति) उत्कृष्ट है या अधम है, यह निर्णय काव्य गुणों के ही आधार पर हो सकता है ।

वामन

काव्य-मार्ग के सम्बन्ध में जितना और जैसा विचार आचार्य वामन ने किया है उतना किसी अन्य आचार्य ने नहीं । आचार्य दण्डी के 'मार्ग' को उन्होंने 'रीति' नाम से अभिहित किया है और 'रीति' को परिभाषित करते हुये कहा है कि रीति पदों की विशिष्ट रचना (योजना) है ।[2] 'रीति' की परिभाषा देने से पूर्व ही उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया है ।[3] उन्होंने रीति और गुण के परस्पर सम्बन्ध की स्पष्ट व्याख्या की है । रीति का स्वरूप उद्घाटित करते हुए उन्होंने गुण को प्रमुख रूप से रीति का विधायक तत्त्व स्वीकार किया है । रीति की परिभाषा का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य वामन ने गुणविशिष्ट अर्थात् गुण-सम्पत्ति से युक्त पदरचना को रीति बतलाया है ।[4] अतः, रीति, वामन के मतानुसार जो काव्य की आत्मा है, गुण से युक्त पदरचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं । इस प्रकार गुण का रीति के साथ अभिन्न सम्बन्ध है । वामन की गुण सम्बन्धी मान्यता का विवेचन करते हुए हम पहले ही देख चुके हैं कि वामन ने दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण स्वीकार किए हैं । बन्ध के गुण तो शब्दगत ही होते हैं । हाँ, अर्थगुणों की

---

१. S. P. Bhattacharya; The Gauda Riti in theory & practice; Indian Historical Quarterly Vol. III. p. 379.

२. विशिष्टपदरचना रीतिः—काव्यालंकारसूत्र, १।२।७

३. रीतिरात्मा काव्यस्य—वही, १।२।६

४. विशेषो गुणात्मा—वही, १।२

योजना रीति के वैशिष्ट्य को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बना देती है ।[1] वामन के कुछ अर्थ गुणों का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है । क्योंकि वे तो रसादि को भी अपने गुणों की सीमा के अन्तर्गत ही मानते हैं । कान्ति नामक गुण तो काव्य की दीप्तरसता ही है ।[2] अतः गुणों के विशद स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में वामन ने व्यापक स्वरूप की कल्पना की है । वैदर्भीरीति में सभी गुणों का सद्भाव रहता हैं अतः वह सर्वोत्तम रीति है ।[3] गौडी और पांचाली रीतियों में गुणों की न्यूनता रहती है । वैदर्भी की अपेक्षा गौडी और पांचाली में गुणों की न्यूनता के कारण वामन ने इन्हें सर्वथा ग्राह्य नहीं माना है ।[4]

यद्यपि वामन ने अपनी रीतियों का नाम देशगत आधार पर रखा है और वामन की रीतियाँ स्पष्टतः विदर्भ, गौड और पांचाल प्रदेशों से सम्बद्ध हैं; तथापि उन्होंने इनका विभाजन गुणों के सद्भाव-अभाव के आधार पर किया है, न कि देश के आधार पर । ऐसा करने में उन्होंने दण्डी का ही अनुसरण किया है । देशगत आधार पर रीतियों के नामकरण को स्पष्ट करते हुए वामन ने कहा है कि विदर्भ आदि देशों में विशेषतया उन-उन रीतियों के पाये जाने से (कवियों की प्रवृत्ति होने से) विदर्भादि देश के आधार पर उनका नामकरण हुआ है ।[5]

वामन द्वारा प्रतिपादित गुणों की प्रवृति पर विचार करने के पश्चात् यह माना जा सकता है कि सर्वप्रथम वे समग्रतया उत्तम रीति के गुण हैं । आचार्य दण्डी ने भी अपने दसों गुणों को वैदर्भ मार्ग का गुण कहा है । यह हम पहले ही देख चुके हैं कि उन्होंने वैदर्भ मार्ग का प्रयोग उपलक्षण के रूप में उत्तम मार्ग के लिए ही किया है । इस दृष्टि से वामन की मान्यता के पीछे दण्डी की यह मान्य प्रेरणा है कि समग्र गुण गुम्फित वैदर्भी रीति को सर्वश्रेष्ठ रीति मानते हैं ।

गौडी रीति के सम्बन्ध में वामन की धारणा दण्डी से सर्वथा भिन्न है । दण्डी ने वैदर्भमार्ग के प्रायः सभी गुणों के विपर्यय का सद्भाव गौड मार्ग में

---

१. तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाधा ।—वही, १।२।२० की वृति ।

२. दीप्तरसत्वं कान्तिः । वही, ३।२।१५

३. तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् ।—काव्यालंकारसूत्र, १।२।१४

४. न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् ।—वही, १।२।१५

५. विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या । वही, १।२।१०

माना था और इस प्रकार उन्होंने वैदर्भ काव्य के विपरीत स्वभाव वाले गौड काव्य की कल्पना की। इसके विपरीत, वामन यह मानते हैं कि वैदर्भी रीति के अधिकांश गुण प्रायः गौडीरीति में भी विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार दोनों रीतियों में उन एक समान गुणों के सद्भाव की कल्पना कर लेने के बाद वामन के समक्ष दोनों में अन्तर करने की समस्या उपस्थित हुई। इसके लिए उन्होंने वैदर्भी से गौडी के अवच्छेदक धर्म के रूप में ओजस् और कान्ति गुणों के प्राधान्य को स्वीकार किया। वामन के अनुसार गौडी में केवल माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है और उपस्थित गुणों में से ओजो गुण और कान्ति गुणों की विशिष्ट स्थिति होने के साथ ही उन्हीं का प्राधान्य भी रहता है। गौडी रीति को परिलक्षित करते हुए वामन ने कहा है कि ओजस् और कान्ति गुणों से युक्त गौडीया होती है।[1] यह एक विशेष स्थिति है। जब लोक में भी पूछा जाता है कि अमुक सभा में कौन-कौन लोग उपस्थित थे, तो बताने वाला सूत्र प्रणाली का आश्रय ग्रहण करता हुआ ही उत्तर देता है कि—'ये-ये' लोग। ऐसा करने में वह मुख्य लोगों की ही उपस्थिति की सूचना देता है न कि जन-सामान्य की। प्रधान के उपस्थित होने से उनके अनुयायियों की विद्यमानता सहज ही प्रतीत हो जाती है। अतः गौडी के उक्त लक्षण के आधार पर यह मान लेना सर्वथा भ्रान्त होगा कि गौडी में केवल ओजस् और कान्ति गुणों का ही सद्भाव होता है और अन्य कोई गुण नहीं होता। वामन का यह अभिप्राय बिल्कुल ही नहीं है। माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव गौडी में होता है। शेष गुणों की सामान्य स्थिति तो गौडी में रहती ही है, बस विशेषता यही रहती है कि ओजस् और कान्ति उसमें प्रधान होते हैं। अर्थात् उनका विशिष्ट स्वरूप उसमें प्रतिभासित होता है। गौडीया का लक्षण बताने वाले सूत्र की वृति करते हुए वामन ने स्वयं स्पष्ट किया है कि माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का अभाव रहने के कारण उसमें समासबहुलता और अत्युल्बणपदता रहती है।[2] दूसरे शब्दों में समासबहुलता को ओजस् और अत्युल्बणपदता को कान्ति माना जा सकता है। वामन की वृत्तिगत धारणा का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदर्भी के दस गुणों में से केवल माधुर्य और सौकुमार्य—इन दो गुणों का अभाव

१. ओजः कान्तिमती गौडीया।—काव्यालंकारसूत्र, १।२।१२

२. माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समासबहुला अत्युल्बणपदा च।—वही, १।२।१२ की वृत्ति।

ही गौडी में रहता है। शेष आठ गुणों का सद्भाव रहता है, जिसमें से कान्ति और ओजोगुण प्राधान्यभाव से उपस्थित होते हैं। डॉ० वी० राघवन् का कथन है कि वामन के अनुसार वैदर्भी के सभी गुण गौडी में भी विद्यमान रहते हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि कान्ति और ओजोगुण सर्वोपरि होकर क्रमशः सौकुमार्य और माधुर्य को तिरस्कृत कर देते हैं और इन दोनों का प्रभाव गौडी में नगण्य हो जाता है।[1] डॉ० राघवन् ने सम्भवतः उपर्युक्त वृत्ति भाग में उपस्थित 'अभाव' के 'नञ्' का 'ईषद्' अर्थ ग्रहण करते हुए 'अभाव' का अर्थ 'ईषद्भाव' लगाया है। डॉ० राघवन् की इस युक्ति का कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता। यदि हम वामन की भावना का ध्यान न रखते हुए डॉ० राघवन् के कथन से थोड़ी देर के लिए सहमत भी हो जाँय तो क्या बनता है! माधुर्य और सौकुमार्य जैसे (दसों गुणों में श्रेष्ठ) गुण उपस्थित रहते हुए भी अपेक्षाकृत कम महत्त्व के गुण से तिरस्कृत हों, दबा दिए जाँय और नगण्य हों, तो उनकी उपस्थिति भी किस काम की। 'अकीर्तिः चापि भूतानां मरणादतिरिच्यते'—श्रीमद्भगवद्गीता के इस न्याय से तिरस्कृत होने की अपेक्षा स्वाभिमानी अपना अभाव (अनुपस्थिति) ही श्रेयस्कर मानते हैं। अतः वामन की भावना का आदर करते हुए 'अभाव' का अर्थ स्पष्टतः 'अविद्यमानता' ही लेना उचित होगा न कि डॉ० राघवन् के मत का समर्थन। इस प्रकार यही विचार उचित है कि वामन गौडीया रीति में माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव मानते थे और शेष उपस्थित आठ गुणों में से कान्ति तथा ओजोगुण का प्राधान्य स्वीकार करते थे। साथ ही वैदर्भी रीति से गौडी का पार्थक्य स्पष्ट करने के लिए वे कान्ति और ओजोगुण के प्राधान्य के साथ ही समासबहुलता और अत्युल्बणपदता का सम्बन्ध भी गौडी के साथ जोड़ देते हैं। वैदर्भी के दस गुणों का स्वरूप विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहीं भी समासबाहुल्य और अत्युल्बणपदत्व का उल्लेख नहीं किया। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वामन वैदर्भी रीति को दीर्घसमास-रहित, सरल और कोमल पदरचना मानते थे जबकि गौडी रीति समासबहुल उल्बण पदरचना है। इससे प्रभावित काव्यधर्मों के अतिरिक्त शेष धर्म दोनों में समान भाव से विद्यमान हैं। दण्डी ने केवल दो काव्यमार्गों वैदर्भ और गौड-मार्ग की ही कल्पना की थी। वामन ने अपनी रीतियों की अवधारणा के प्रसंग

---

१. Dr. V. Raghavan : Some Concept of Alankarashastra; page 144.

में दण्डी के उक्त दो मार्गों को वैदर्भ और गौड रीति के रूप में ग्रहण कर ही लिया, इसके अतिरिक्त उन्होंने पांचाली नामक एक नई तृतीय रीति की कल्पना की। इसका नामकरण भी देशगत आधार पर किया। किन्तु इसके भी विधायक तत्त्व के रूप में गुण को ही स्वीकार किया। पांचाली रीति का स्वभाव गौडी रीति के स्वभाव के एकदम विपरीत माना। वामन ने पांचाली रीति को परिभाषित करते हुए इसे माधुर्य और सौकुमार्य गुणों में युक्त माना है।[1] इसमें कान्ति और ओजोगुण का अभाव माना गया। परिणामस्वरूप इस रीति में अनुल्बणत्व और विच्छायत्व स्पष्ट रूप से होते हैं।[2] जैसा कि कहा जा चुका है, गौडी में ओजस् और कान्ति का प्राधान्य रहता है तथा माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है। इसके ठीक विपरीत पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का प्राधान्य रहता है तथा कान्ति और ओजो-गुण का अभाव रहता है। अन्य गुणों की भी इसमें सामान्य स्थिति रहती है।

वामन की तीनों रीतियों के स्वरूप-विश्लेषण से उनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण किया जा सकता है। वामन द्वारा मान्य दसों गुणों में से माधुर्य सौकुमार्य, कान्ति और ओजो-गुण रीति-विभाजक अथवा असाधारण गुण हैं और शेष छः गुण तीनों रीतियों में सर्वमान्य हैं। सर्वप्रथम वैदर्भी रीति में सभी दस गुण विद्यमान रहते हैं। इसलिए वह वामन द्वारा ग्राह्य अर्थात् सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। गौडी और पांचाली रीतियों में सभी गुणों का सद्भाव नहीं होता। वैदर्भी की अपेक्षा इन दोनों में कुछ गुणों की न्यूनता होती है अतएव ये रीतियाँ अपेक्षाकृत सुन्दर नहीं मानी गई। इसी लिए वामन ने इन्हें अग्राह्य कहकर इनके प्रति अरुचि प्रदर्शित की है। कान्ति और ओजोगुण गौडी के अवच्छेदक हैं तो माधुर्य और सौकुमार्य के कारण गौडी समासबहुल और अत्युल्बण होती है। पांचाली कान्ति और ओजोगुण के अभाव के कारण अनुल्बण होते हुए भी विच्छाय हो जाती है। अतः ये दोनों ही रीतियाँ वैदर्भी की अपेक्षा असुन्दर होती हैं। इस प्रकार निःसन्देह वामन गुणों के सद्भाव, प्राधान्य और अभाव—इन सबके आधार पर रीति की ग्राह्यता और अग्राह्यता का निर्धारण करते हैं। अतएव रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन ने गुणों को रीति नियामक मूलतत्त्व स्वीकार करके काव्य में गुणों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है।

---

१. माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली।—काव्यालंकारसूत्र, १।२।१३

२. ओजः कान्त्यभावादनुल्बणपदा विच्छाया च।—वही, उपर्युक्त की वृत्ति।

रुद्रट

आचार्य वामन के पश्चात् होने वाले आचार्य रुद्रट ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में गुण और रीति के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण से विचार करते हुए रीतियों का और विस्तार किया। उन्होंने रीतियों के व्यवच्छेदक धर्म गुण को न मानकर उनका सम्बन्ध सीधे रस से स्थापित किया। इस प्रकार रुद्रट के मतानुसार, रीति का विभाजक मूल तत्त्व गुण नहीं अपितु रस है। रुद्रट ने रीति के चार प्रकार माने हैं—वैदर्भी, पांचाली, लाटी और गौडी।[1] इन रीतियों का सम्बन्ध उन्होंने सीधे शृंगार, करुण, भयानक, अद्भुत और रौद्र रसों से स्वीकार किया है।[2] अपने पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के ही समान रुद्रट ने भी पांचाली को मधुर और गौडी को ओजस्वी रीति के रूप में ग्रहण किया है। रुद्रट ने विषयानुरूप या भावानुरूप रीति की योजना पर विशेष बल दिया है।

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु के भी विचार इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। उन्होंने रीति को शब्द-गुण माना है। नमिसाधु द्वारा स्वीकृत गुण व्यापक अर्थ में है। उन्होंने रस को भी काव्य का सहज गुण कहा है।[3] वे अलंकार को भी गुण कहते हैं। इस प्रकार नमिसाधु की दृष्टि में अलंकार, रस और रीति—ये सब गुण ही हैं। रीतियाँ अलंकारों से भिन्न शब्द-गुण ही हैं।[4]

भोजदेव

यद्यपि भोजदेव ने काव्य-गुणों की संख्या चौबीस मानी है, तथापि विशेष महत्त्व उन्होंने श्लेषादि नौ गुणों को ही दिया है। उन्होंने इनके महत्त्व-प्रतिपादन की दृष्टि से विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि इन श्लेषादि नौ गुणों का विपर्यय (अभाव अथवा वैपरीत्य) जहाँ दिखाई पड़ता है वहाँ अरीतिमत् दोष

---

१. पांचाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भीरीतिरेकैव ॥—काव्यालंकार, २।४-६

२. वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्यादयथौचित्यम् ॥—काव्यालंकार, १५।२०

३. रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणा इति भिन्नः तत्प्रकरणारम्भः।
नमिसाधुकृत काव्यालंकारटीका, १२

४. एताश्च रीतियो नालंकाराः किं तर्हि, शब्दाश्रयाः गुणा इति—वही।

होता है।[1] भोजदेव के इस कथन के अभिप्राय का विश्लेषण कर हम रीति और गुण के परस्पर सम्बन्ध का अनुसन्धान कर सकते हैं। भोज से पूर्ववर्ती प्रमुख आचार्यों ने इन गुणों को वैदर्भी का प्राण घोषित किया था और कहा था कि इन गुणों के विपर्यय में रीति की समग्र चारुता नहीं रह जाती। भोज द्वारा स्वीकृति श्लेषादि नौ गुण प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत दस गुणों में से समाधि को छोड़कर शेष नौ गुण हीं हैं, जिन्हें भोज ने रीति का प्राणभूत तत्त्व स्वीकार किया है। इस प्रकार भोजदेव अपनी इस मान्यता के लिये दण्डी और वामन के ऋणी हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने भी नौ ही गुण स्वीकार किये हैं। उनकी मान्यता है कि इनमें से किसी भी गुण के अभाव में काव्य वस्तुतः काव्य नहीं अपितु उसका आभासमात्र बनकर रह जाता है। चूँकि गुणवत् रचना ही रीति है, अतः गुणों के अभाव में रीति भंग होना अनिवार्य है। रीति काव्य की आत्मा है अतः रीति के भंग हो जाने पर काव्य का स्वरूप ही समाप्त हो जाता है।[2] रत्नेश्वर द्वारा आगे व्यक्त किये गये विचारों से द्वारा जान पड़ता है कि उन्होंने रीति को प्रकारान्तर से वक्रता का पर्याय मान लिया है। क्योंकि उनके अनुसार वक्रता के अभाव में काव्य-पदवी की प्राप्ति नहीं होती। वक्रता-रहित शब्दार्थं तो उक्तिमात्र ही रह जाता है।[3] इसके पूर्व उन्होंने रीति को काव्य का आत्मा कहा है जो गुणोत्पादित वक्रता ही है। अतः रत्नेश्वर गुण को काव्य का मूल तत्त्व मानते हैं।

विद्यानाथ

विद्यानाथ ने रीति और गुणों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में विशेष कुछ विचार नहीं किया है। प्रतापरुद्रयशोभूषण में गुणों का अलंकार से भेद दिखाने के प्रसंग में ही उन्होंने रीति का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी गुणों के साथ उसका सम्बन्ध संकेतित किया है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों (यथा अलंकार-

---

१. गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः।
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते ॥—सरस्वतीकण्ठाभरण।

२. ते च श्लेषादयो नवैव। तेषामन्यतमाभावे काव्यस्याभासत्त्वात्। तेषां हि विपर्यये रीतिरवश्यं भज्यते, तच्चागुणवतपदरचलरूपत्वात्। रीतिः सारूपतया काव्यस्यात्मेत्युच्यते।—रत्नेश्वरकृत सरस्वतीकण्ठाभरण—टीका।

३. नहि वक्रतामन्तरेण काव्यपदवी प्राप्तिः। शब्दार्थयोः वचनमात्रत्वात्—वही।

सर्वस्वकार रुय्यक) का उल्लेख करते हुए गुणों को संघटनाश्रित बताया है। इसी आधार पर उन्होंने गुणों के अर्थगतत्व को अस्वीकृत किया है।[1]

राजशेखर

राजशेखर के काव्यमीमांसा की पद्धति सर्वथा अलग ही है। उसमें गुणादि का निरूपण करने वाला कोई अध्याय उपलब्ध नहीं है। उनकी अन्य कृतियों में यत्र-तत्र प्रसंगतः कुछ रीतियों की चर्चा हुई है जिसमें गुणों का उल्लेख किया गया है। उन वर्णित रीतियों का सम्बन्ध प्रदेश-विशेष से ही है तथापि उनके नियामक गुण ही हैं। बालरामायण के तृतीय अंक में वैदर्भीरीति के उल्लेख के साथ ही उसमें माधुर्य गुण की प्रधानता बताई गई है।[2] इसी नाटक के दशम अंक में भी वैदर्भी की चर्चा हुई है। वहाँ उसे रुचिर काव्यामृत बताते हुए माधुर्य और प्रसाद गुणों से युक्त तथा रसमय कहा गया है।[3] वहीं आगे मैथिली नामक सर्वथा एक नवीन रीति की भी चर्चा की गई है। राजशेखर से पूर्व किसी भी आचार्य ने मैथिली रीति का नाम तक नहीं लिया था। मिथिला की काव्य-शैली अर्थात् मैथिलीरीति की विशिष्टता के आश्रयभूत कुछ गुण उल्लिखित हैं। इस रीति में अर्थ प्राचुर्य, अत्युक्तिराहित्य और योगपरम्परा का सन्निवेश होता है।[3] काव्यमीमांसा में भी राजशेखर ने गौडीरीति के वैशिष्ट्य के रूप में योग परम्परा का ग्रहण किया है। योगपरम्परा का अर्थ समासदीर्घत्व माना जा सकता है।

कुन्तक

दण्डी की तरह कुन्तक ने भी रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु दण्डी ने इन मार्गों का जो नामकरण किया था उससे बिल्कुल भिन्न

---

१. प्राचामाचार्याण मतेन संघटनाश्रयत्वमेव गुणानाम्। तदुक्तमलंकारसर्वस्वे-संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन गुणालंकाराणां व्यवस्थानम् (इति)।
—प्रतापरुद्रयशोभूषण।

२. तदयस्मिन्मधुरं प्रसादिरसवत् कान्तं च काव्यामृतं
सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषयः सारस्वती जन्मभूः।—बालरामायण, १०।७४

३. यत्रार्थातिशयोऽपि सुत्रितजगन्मार्यादया मोदते,
सन्दर्भश्च समासमांसलवदप्रस्तारविस्तारितः।
उक्तिर्योगपरम्परापरिचिता काव्येषु चक्षुष्मतां
सा रम्या नावचंपकांगि भवतु त्वन्नेत्रयोः प्रीतये॥—वही, १०।९५

नामकरण कुन्तक ने किया है। वस्तुतः कुन्तक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अलग हटकर दो मार्गों के लिए नवीन संज्ञाओं की कल्पना की है—सुकुमार और विचित्र। इन दोनों के बीच वे एक "मध्यम मार्ग भी मानते हैं जिसमें दोनों की विशेषताओं का मिश्रण होता है।[1] इस प्रकार हम देखते है कि कुन्तक का रीति विषयक मत सर्वथा मौलिक है और इस संदर्भ में प्रस्तुत उनकी गुणाधारणा भी कुछ नीवनता लिए है। उन्होंने कुछ गुणों को मार्गों का विशिष्ट तत्त्व (धर्म) स्वीकार किया है। माधुर्य को वे सुकुमार मार्ग का सर्वप्रथम गुण मानते हैं।[2] माधुर्य के अतिरिक्त प्रसादादि गुण भी उसमें रहते हैं। दूसरा जो विचित्र मार्ग है, उसमें वैचित्र्य (कृत्रिमता) की प्रधानता रहती है। तृतीय मार्ग, जो कुन्तक द्वारा उल्लिखित है, वह मध्यम मार्ग, जिसमें दोनों—सुकुमार और विचित्र-मार्गों का मिश्रण होता है। इन तीनों मार्गों (रीतियों) के गुणों के स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हैं। माधुर्य-प्रसादादि गुणों के अतिरिक्त कुन्तक ने दो और नवीन गुण कल्पित किए हैं। माधुर्यादि तो अपने प्राधान्य के कारण मार्ग विभाजक गुण हैं किन्तु ये नवीन कल्पित दोनों गुण सभी मार्गों में सामान्य है। वे दोनों गुण हैं—औचित्य और सौभाग्य। मार्गों के ये सर्व सामान्य दोनों साधारण गुण, पद, वाक्य और प्रबन्धगत गुण के रूप में स्वीकार किए गए हैं।[3] इन गुणों को कुन्तक ने काव्य का प्राण माना है। अतः कुन्तक के मतानुसार गुण का मार्ग (रीति) के साथ अटूट सम्बन्ध है।

आनन्दवर्धन

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में तर्कपूर्वक युक्तियों के आधार पर गुण और संघटना (रीति) के परस्पर सम्ब्रन्ध का विचार किया है। उन्होंने पदसंघटना के तीन प्रकार माने हैं—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा।"[4]

---

१. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥—वक्रोक्तिजीवित, १।२४

२. माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः।—वही, १।३०

३. एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥—वक्रोक्तिजीवित, १।५७

४. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥—ध्वन्यालोक, ३।५

इन संघटनाओं के स्वरूप को देखते हुए कहा जा सकता है कि अन्य आचार्यों की वैदर्भी, पांचाली और गौडी रीतियाँ ही क्रमशः असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा संघटनाएँ हैं। और भी, उपर्युक्त तीनों संघटना भेदों को क्रमशः उपनागरिका, कोमला और परुषा वृत्तियों के समकक्ष भी माना जा सकता है। वैसे देखा जाय तो तात्त्विक दृष्टि से इन रीतियों, वृत्तियों और संघटनाओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। यही कारण है कि मम्मट प्रभृति आचार्यों ने रीति को वृत्ति का पर्याय ही मान लिया।[1] आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार संघटना माधुर्यादि गुणों के आश्रय से रस की व्यंजना करती है तथा वक्ता और वाच्य के औचित्य से नियमित होती है।[2] अपने इस कथन की व्याख्या करते हुए उन्होंने तीन विचारणीय सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं—[3]

१. गुण और संघटना में ऐक्य (अभेद) है अथवा व्यतिरेक (भेद)।
२. गुण संघटना पर आश्रित है। अथवा,
३. संघटना गुण पर आश्रित है।

उपर्युक्त में से प्रथम व्याख्या, गुण और रीति (संघटना) के परस्पर अभेद की कल्पना पर आधारित है। शेष दोनों व्याख्यायें गुण और संघटना के भेद (व्यतिरेक) पर आश्रित हैं। उपर्युक्त तीनों (भेदाभेद कल्पित करने वाली) व्याख्याओं के अनुसार, ध्वनिकार की प्रस्तुत कारिका के अधोलिखित तीन अर्थ होंगे—

१. गुणान्—आत्मभूतान् माधुर्यादीन् गुणान् आश्रित्य तिष्ठन्ती संघटना रसादीन् व्यनक्ति। अर्थात् अपने स्वरूपगत माधुर्यादि गुणों पर आश्रित रहती हुई संघटना रसों को व्यक्त करती है। यहाँ गुण और संघटना के अभिन्न होने पर भी होने वाले आश्रितत्वव्यवहार को गौण मानना पड़ेगा।

२. गुण संघटना पर आश्रित रहते हैं। अतः गुण आधेय और संघटना आधाररूप होती है। इस लिए अर्थ होगा—आधेयभूतान् गुणान् आश्रित्य, अर्थात् आधेयरूप गुणों के आश्रय से, सहयोग से संघटना रसादि को व्यक्त करती है।

---

१. एतास्तिस्रो वृतयः वामनादीनां मते वैदर्भीगौडीपांचाल्याख्या रीतियो मताः
—काव्यप्रकाश, ९

२. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।—ध्वन्यालोक, ३।६

३. अत्र च विकल्पं, गुणानां संघटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकोऽपि द्वयी गतिः। गुणाश्रया संघटना, संघटनाश्रया वा गुणा इति।—वही, ३।६

३. संघटना गुणों पर आश्रित रहती है। अतः यहाँ गुण आधार हैं। इस पक्ष में अर्थ होगा—आधारभूत गुणों के आश्रित स्थित संघटना रसादि को व्यक्त करती है। आनन्दवर्धन की स्वाभिमत व्याख्या यही है। इसलिए इसे ध्वनिकार का सिद्धान्त पक्ष भी मानना चाहिए।

उपर्युक्त में से पहले अर्थ के सम्बन्ध में यह शंका स्वाभाविक है कि गुण को संघटना से अभिन्न मान लेने पर फिर संघटना गुणों पर आश्रित कैसे मानी जा सकती है ? आश्रयाश्रयी या आधाराधेय भाव के लिए उन दोनों की पृथक् सत्ता होनी अनिवार्य है। कोई वस्तु अपने से अभिन्न वस्तु पर भला कैसे आश्रित रह सकती है। वह तो अपने से भिन्न वस्तु पर ही आश्रित रह सकती है। ऐसी कल्पना तो असंगत ही प्रतीत होती है। इस शंका के समाधान का प्रयत्न करते हुए ध्वन्यालोक के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन में मत प्रकट किया हैं कि कभी कभी वस्तु के स्वभावगत वैशिष्ट्य को प्रकट करने के लिए उससे अभिन्न वस्तु (स्वयम् उसी वस्तु) में भेद की कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार स्वाश्रयत्व का कथन सम्भव हो जाता है। ऐसा करके जिस भेद की स्थापना की जाती है, वह काल्पनिक ही होता है, वास्तविक नहीं। इसे स्पष्ट करने के लिये अभिनवगुप्त ने वृक्ष का उदाहरण दिया है। व्यवहार में यह कहा जाता है कि यह शिंशपा वृक्ष है। इसका आशय है कि शिंशपा में वृक्षत्व है। इस प्रकार शिंशपा को वृक्षत्व (विशेष) का आश्रय माना जाता है। यद्यपि शिंशपा और वृक्षत्व अभिन्न हैं तथापि शिंशपा वृक्षविशेष है, इसलिए वह वृक्षत्व सामान्य का आश्रय कहा गया। जाति और व्यक्ति में मूलतः कोई भेद नहीं है। सास्नादिमान् ही व्यक्ति हो गया है। इस प्रकार शिंशपा और वृक्षत्व में कोई मौलिक अन्तर न होते हुए भी शिंशपा को वृक्षत्व का आश्रय कहने के समय अभेद में भेद की कल्पना कर ली जाती है। यह उदाहरण देकर लोचनकार ने निष्कर्ष व्यक्त किया है कि जिस प्रकार शिंशपा और वृक्षत्व के अभेद में भेद कल्पित कर शिंशपा को वृक्षत्व का आश्रय कहना व्यवहार रूप में सम्भव होता है, उसी प्रकार संघटना और गुण में अभेद मानने की स्थिति में अभेद में भेद की कल्पना करके संघटना का गुणाश्रयत्व (स्वाश्रयत्व) कहना सम्भव है।[1]

---

१. स्वभावस्य कल्पनया प्रतिपादनार्थं प्रदर्शितभेदस्य स्वाश्रयवाचोयुक्तिर्दृश्यते शिंशपाश्रयं वृक्षत्वमिति।—लोचन (ध्वन्यालोक ३।६)

अभिनवगुप्त द्वारा उदाहृत शिंशपा और वृक्षत्व में व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है। शिंशपा व्याप्य और वृक्षत्व व्यापक है। प्रत्येक व्याप्य में व्यापक का सद्भाव रहता है। इसलिए जहाँ शिंशपा होगा, वहाँ वृक्षत्व तो होगा किन्तु जहाँ-जहाँ वृक्षत्व होगा, वहाँ-वहाँ अनिवार्यतः शिंशपा का रहना असंभव है। इस दृष्टान्त के आधार पर गुण और संघटना का ऐक्य (अभेद) मानने वाले गुण और संघटना में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध मानते हैं। आनन्दवर्धन ने इस पक्ष को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार जो गुण हैं, वही संघटना है और जो संघटना है, वही गुण है। वे परस्पर अभिन्न हैं। उनके स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए, जिस भेद का कथन किया जाता है, वह मौलिक भेद नहीं अपितु आरोपित भेद होता है। यदि दो वस्तुयें (चाहे वे समान ही क्यों न हों) एक दूसरे से मिलती हैं तो उनकी पृथक् सत्ता अवश्य होनी चाहिए। जैसे कि कूप-जल में डूबे हुए घट का जल। घट के अन्दर और बाहर स्थित जलों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है तथापि घट के बाहर और अन्दर स्थित जल के परस्पर मिलने की जो कल्पना की गई है, वह असंगत नहीं है। यही बात गुण संघटना में अभेद मानने वाले पक्ष के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। तत्वतः अभेद मानते हुए भी, उनके स्वभाव के स्पष्टीकरण के लिए उन दोनों में भेद कल्पित करना असंगत नहीं है।

भट्टोद्भट गुण को संघटना पर आश्रित मानते थे। इस मत के अनुसार संघटना और गुण में आधाराधेय भाव सम्बन्ध है। संघटना धर्मी है और गुण उसका धर्म। धर्म सदैव धर्मी पर आश्रित रहता है। अतः धर्मी आधार तथा धर्म आधेय है। आनन्दवर्धन ने भी गुण को संघटना का धर्म मानते हुए उसे एक पक्ष के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार संघटना पर गुण को आश्रित मानने वाले दोनों में आधाराधेय भाव सम्बन्ध मानते हैं।[१]

इस प्रकार गुण पर संघटना को आश्रित मानने वाले मत का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस मत के अनुसार दोनों में आधाराधेय भाव नहीं अपितु आश्रय-आश्रयीभाव सम्बन्ध होता है। 'संघटना गुणाश्रित है—ऐसा कहने का आशय यह है कि संघटना गुण के आधीन है। वह पराधीन है, स्वाधीन नहीं। लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त ने एक दृष्टान्त देकर इस कथन

१. संघटनया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः।—लोचन ध्वन्यालोक ३।६

का स्पष्टीकरण किया है। राजपुरुष को जब राजाश्रित कहा जाता है तो उसका अभिप्राय यही होता है कि वे सर्वतोभावेन राजा के अधीन हैं। मनसा, वाचा और कर्मणा, यहाँ तक कि अधीनता की स्थिति में वे राजा के लिए प्राणोत्सर्ग भी करते हैं। अतः जब वे राजाश्रित हैं तो उनका 'स्वत्व' भी उसी के अधीन है। इस प्रकार राजपुरुष और राजा के मध्य जिस सम्बन्ध का बोध होता है, उसी सम्बन्ध की अवधारणा, गुण पर संघटना को आश्रित मानने वाले भी करते हैं।

उपर्युक्त तीनों मतों को ध्वन्यालोक में प्रस्तुत करके निष्पक्षतया उनके औचित्य का परीक्षण किया गया है। गुण और संघटना को परस्पर अभिन्न मानने वाले एवं गुण को संघटना पर आश्रित मानने वाले उक्त दोनों पक्षों के विरुद्ध आपत्ति यह है कि उन्हें मान लेने पर गुण को भी संघटना के समान अनियत विषय स्वीकार करना ही पड़ेगा।[1] यदि गुण, संघटना के धर्म हैं, तो धर्मी से अलग उनकी सत्ता नहीं रहेगी। इस प्रकार धर्मी संघटना के साथ धर्म रूप गुण भी अवश्य रहेंगे। जबकि यथार्थ स्थिति कुछ दूसरी ही है। गुण का विषय नियत है किन्तु संघटना का विषय अनियत है। किस रस के साथ किस गुण की उपस्थिति रहती है, इसका निर्धारण तो आनन्दवर्धन प्रभृति आचार्यों ने किया है, किन्तु रसविशेष के साथ संघटनाविशेष के सम्बन्ध का निर्णय करना दुष्कर है। उदाहरणार्थ, श्रृंगार रस में माधुर्य गुण की नियत स्थिति रहती है। इसमें माधुर्य का प्रकर्ष पाया जाता है। दूसरी ओर श्रृंगार रस में असमासा संघटना रहा करती है, किन्तु श्रृंगार के साथ असमासा संघटना की अनिवार्य स्थिति नहीं मानी जा सकती। दीर्घसमासा संघटना भी श्रृंगार रस की व्यंजना कर सकती है। स्वयम् आनन्दवर्धन ने इस प्रकार के दो उदाहरण ध्वन्यालोक में दिए हैं।[2] इन वर्णनों में प्रयुक्त पद एक समस्त हैं तथापि वह दीर्घ पदावली,

---

१. यदि गुणाः संघटना चेत्येकं तत्त्वं संघटनाश्रया वा गुणाः तदा संघटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसंगः। × × × × × प्रथमपक्षे तादात्म्येन समानयोगक्षेमत्वादितरत्रतु धर्मत्वेनेति भावः।

—ध्वन्यालोक-लोचन, ३।६

२. गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भ श्रृंगारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषयनियमो व्यवस्थितः संघटनायास्तु स विघटते। तथा हि श्रृंगारेऽपि दीर्घसमासा

वर्णन की प्रासंगिकता के कारण शृंगाररस को अभिव्यंजित करती है। जिन लोगों ने महाकवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' या बाणभट्ट की 'कादम्बरी का' रसास्वादन किया है, उन्हें यह विषय स्पष्ट ही होगा। रौद्र आदि रसों के साथ किसी संघटनाविशेष की अचल स्थिति नहीं प्राप्त होती। यद्यपि रौद्रादि दीप्त रसों के साथ दीर्घसमासा संघटना प्रायः दृष्टिगोचर होती है किन्तु असमासा या अल्पसमासा संघटना की योजना भी पाई जाती है।[1] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि संघटना अनियत विषय है, जबकि गुण नियत विषय होते हैं। दोनों के परस्पर अभिन्न होने अथवा धर्मी-धर्म सम्बन्ध से युक्त होने पर यह कदापि सम्भव नहीं है कि एक अनियतविषय हो और दूसरा नियत-विषय। अतः इससे प्रमाणित होता है कि गुण न तो संघटनारूप है और न ही संघटनाश्रित।[2]

निष्कर्ष रूप से अभी हम देख चुके हैं कि गुण, संघटनाश्रित नहीं है। लेकिन किसी वस्तु की सत्ता यदि है तो उसका आश्रय भी निश्चित रूप से कोई न कोई (वस्तु) तो होनी ही चाहिए। निराश्रित या (निराधार) तो कोई वस्तु रह नहीं सकती। अतः अब प्रश्न होता है कि गुणों का आधार किसे माना जाय ? आनन्दवर्धन ने काव्य में अंगी रस को गुणों का आश्रय (आधार) माना है। वस्तुतः, गुण काव्यात्मभूत रस के धर्म हैं। उपचारतः उन्हें शब्द धर्म माना जा सकता है। क्योंकि गुणों को शब्दाश्रित मान लेने पर शब्दाश्रित अनुप्रासादि अलंकारों से उनका अभेद होगा—ऐसी शंका करना उचित नहीं है। समान आश्रय (आधार) पर रहने वाली वस्तुएँ सदैव एक ही नहीं होती। वे प्रायः भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। अतः गुण और (शब्द) अलंकार को शब्दाश्रित मानने पर भी गुण और शब्दालंकार का स्वभावगत भेद तो स्पष्ट ही है। अनुप्रासादि अलंकार शुद्ध रूप से शब्दाश्रित रहते हुए, विशेष शब्दविन्यास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यही उनका अलंकारत्व (चारुता) है; जबकि गुण का

दृश्यते-यथा, 'मन्दारकुसुमरेणुपिंजरितालका।' यथा वा अनवरतनयनजललवनियतपरिमुषितपत्रलेखं—इत्यादि।

—ध्वन्यालोक-लोचन, ३।६

१. तथा रौद्रेष्वप्यसमासा दृश्यते—यथा यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः इत्यादौ।

——इत्यादि-ध्वन्यालोक, ३।६ पर स्ववृति।

२. तस्मान्न संघटनास्वरूपाः च संघटनाश्रया गुणाः—वही,

स्वभाव इससे सर्वथा भिन्न है। उनका सम्बन्ध अर्थ की व्यंजना से होता है।[1] गुण को शब्द-धर्म मानने वाले यह कह सकते हैं कि विशिष्ट शब्द योजना से जो वाच्यार्थ उपलब्ध होता है, उसमें व्यंग्यार्थ-बोध कराने की शक्ति रहती है। शब्द-योजना का यह वैशिष्ट्य ही गुण है। इस प्रकार गुण को शब्दगत स्वीकार करने पर भी शब्दालंकार से उसकी भिन्नता तो बनी ही रहेगी। आनन्दवर्धन गुण को शब्द-धर्म नहीं मानते। वे तो उसे रस-धर्म ही मानते हैं और उसकी शब्दधर्मता को औपचारिक मात्र मानते हैं। उपचार को न समझने वाले अविवेकी जन ही गुण को शब्दधर्म मानते हैं। यहाँ विचार करने की अपेक्षा से अविवेकी के पक्ष को भी उपस्थित किया गया है।[2] आनन्दवर्धन तो दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि गुण रसाश्रित हैं, उपचार से ही उन्हें शब्दधर्म कहा जा सकता है लेकिन उपचार से भी गुणों को संघटना का धर्म नहीं स्वीकार किया जा सकता।

यदि गुणों को शब्दाश्रित मान लिया जाय तो उसका संघटनारूपत्व या संघटनाश्रयत्व स्वयं ही सिद्ध हो जायेगा। संघटनारहित शब्द व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले वाच्यार्थ का साक्षात्संकेत नहीं कर सकते। माधुर्य आदि गुणों को शब्द नहीं अपितु पद संघटना व्यंजित करती है। अतएव संघटना को ही माधुर्यादि गुणों का आधार माना जाना चाहिए। किन्तु आनन्दवर्धन इस युक्ति को उचित नहीं समझते। रस की व्यंजना वाक्य से ही हो, यह आवश्यक नहीं है। स्वतन्त्र रूप से उपस्थित शब्द या वर्ण आदि भी रसों की (गुणों की) व्यंजना

---

१. ननु यदि संघटनागुणानां नाश्रयस्तत्किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्। उच्यते प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्या कटकादिवत्॥

अथवा, भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयो नापेक्षितार्थशब्दधर्मा एवं प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यंग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव।—ध्वन्यालोक, ३।६ (स्ववृत्ति)

२. न चायं मम स्थितः पक्षः, अपि तु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्दधर्मत्वं शौर्यादीनामिव शरीरधर्मत्वम्। अविवेकी हि औपचारिकत्वविभागं विवेक्तुम्-समर्थः तथापि न कश्चिद्दोष इत्येवम्परमेतदुक्तमित्येदाह।

—वही, ३।६ पर।

करते हैं।[१] इसलिए संघटना को गुणव्यंजना का आधार नहीं माना जा सकता। आनन्दवर्धन का तर्क यह है कि यदि वाक्यरूप में संघटित पदों या बंधों को रस (गुणों) का व्यंजक मान लिया जाय तो भी संघटना को गुण का आश्रय नहीं प्रमाणित किया जा सकता क्योंकि रस की व्यंजना में संघटना नियतोपस्थित नहीं होती। अतः नियत शब्द ही उपचारवशात् गुण के आश्रय माने जा सकते हैं।[२]

यदि यह मान लिया जाय कि माधुर्य गुण की व्यंजना संघटना से नहीं हो सकती, क्योंकि यह अनियत है किन्तु ओजोगुण के विषय में क्या होगा। उसकी व्यंजना तो समासरहित संघटना से हो नहीं पायेगी। इसलिए ओजोगुण की व्यंजना में दीर्घसमासा संघटना को नियत आश्रय के रूप में स्वीकार करना चाहिए। ध्वन्यालोककार असमासा संघटना के द्वारा रौद्ररस की व्यंजना पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं। वहाँ ओज विद्यमान है। अतः यदि ओज असमासा संघटना से व्यंजित हो तो भला क्या दोष हो सकता है। साथ ही सहृदयों को वह अरुचिकर भी नहीं है। अतः ओजोगुण की व्यंजना में भी अनियत ही रहती है। इस प्रकार अनियत संघटनारूप शब्दों के आश्रय से गुणों का व्यंजित होना किसी हानि का कारण नहीं बनता।[३]

आचार्य आनन्दवर्धन गुणों को संघटनारूप मानने वाले मत की भी समीक्षा करते हैं।[४] पूर्वपक्षी तार्किकरीति से गुण और संघटना में तादात्म्य सम्बन्ध स्था-

---

१. ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत्संघटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव न ह्यासंघटिता शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति। नैवम्, वर्णपदव्यंग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।

—ध्वन्यालोक, ३।६

२. अभ्युपगते वा वाक्यव्यंग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित्संघटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसंघटनाः शब्दा एव गुणानां व्यंग्यविशेषानुगता आश्रयाः।

—वही,

३. ओजसः कथमसमासा संघटना नाश्रयः। रौद्रादीन् हि प्रकाशयत काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक्प्रतिपादितम्। तच्चौजो यद्यसमासायामपि संघटनायां स्यात् को दोषी भवेत्। न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति। तस्मादनियतसंघटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित्क्षतिः।—ध्वन्यालोक, ३।६

४. अथवा संघटनारूप एव गुणाः।—वहीं,

पित करता है। शब्द और संघटना का परस्पर अवयवावयवी सम्बन्ध है और गुण से उसका व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध है। इसलिए उभयनिष्ठ शब्द-धर्मता के कारण दोनों में समानाधिकरण्य है। अतः उन दोनों में अभेद (तादात्म्य) सम्बन्ध तो मानना ही पड़ेगा।[1] इस प्रकार गुण, संघटना से भिन्न न होकर संघटना रूप ही है। यदि गुण को नियतविषय और संघटना को अनियत विषय मानकर इनमें पार्थक्य स्थापित किया जाय तो यह उचित नहीं है। प्रायः अपवाद तो सर्वत्र मिल ही जाते हैं। लक्षण के कुछ अपवाद किसी लक्ष्य में मिल जाने से ही लक्षण अप्रामाणिक नहीं हो जाता। जहाँ ऐसी स्थिति हो, वहाँ सर्वमान्य लक्षण के अनुरूप लक्ष्य को सुधारना ही युक्ति संगत होता है। अभेदवादियों की युक्ति है कि रौद्रादि रसों में दीर्घसमासा तथा शृंगारादि रसों में असमासा संघटना का होना ही नियम हैं और इस नियम में व्यभिचार दिखाने के लिए जो लक्ष्य प्रस्तुत किये गये हैं, वह वस्तुतः सदोष है। ऐसी दशा में उक्त लक्ष्यों में सहृदय को अरुचि उत्पन्न होनी चाहिए क्योंकि वे उदाहरण-चारु तो हुए नहीं। इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि कवि की शक्ति (प्रतिभा) से वे दोष दब जाते हैं। कवि की रचना में दोष दो प्रकार का होता है—कवि की अव्युत्पत्ति कृत (शिक्षा अभ्यासादि का अभाव) और अशक्ति कृत (प्रतिभा का अभाव)। इनमें से अव्युत्पत्तिकृत दोष कवि की प्रतिभा से (शक्ति से) तिरस्कृत हो जाता है।[2] अतः सहृदय की दृष्टि उस पर नहीं पहुँचती। यह सब कहने का आशय यह है कि संघटना भी नियत-विषय है। इसके व्यभिचार के जो भी उदाहरण हैं वे अपवाद होंगे। इसलिए गुण और संघटना में तादात्म्य न मानने का कोई कारण नहीं है।

उपर्युक्त अभेदवादियों की युक्तियों का आचार्य आनन्दवर्धन ने दृढ़तापूर्वक खण्डन किया है। उनका कथन है कि अभेदवादी (गुण और संघटना में भेद न

---

१. वस्तुतस्तु शब्देषु संघटनाया अवयवविभावेन, गुणानां च व्यंग्यव्यंजकत्वेन वृत्तित्वमिति तदभेदपक्षो दुरुपपाद एव।–ध्यवन्यालोक, ३।६ दीधिति व्याख्या।

२. यत्तूक्तम्—संघटनावद्गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति। लक्ष्ये व्यभिचार-दर्शनात् इति। तत्राप्येतदुच्यते—यत्र लक्ष्ये परिकल्पितव्यभिचारतस्तद्वितरूपमेवास्तु। कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत्। कविशक्ति-तिरोहितत्वात्। द्विविधो हि दोषः—कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। तत्राऽव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात्कदाचिन्न लक्ष्यते।

—ध्वन्यालोक, ३।६ से आगे गद्य भाग।

मानने वाले) अपने दुराग्रह के कारण दूराकृष्ट और असंगत कल्पनाएँ कर बैठे हैं। उदाहरणार्थ—"यो यः शस्त्रं बिभर्ति ··· ·······" श्लोक द्वारा जो कि असमासा संघटना से ओजोगुण की व्यंजना करता है, अभेदवादियों के सिद्धान्त में व्यभिचार उत्पन्न हुआ तो उन्हें यह कहना पड़ा कि लक्ष्य (उक्त श्लोक) ही दोषपूर्ण है। यही नहीं, उक्त श्लोक में वस्तुतः सहृदय की रसानुभूति का बाधक कोई दोष नहीं है तो दूराकृष्ट कल्पना की गई कि दोष तो वहाँ है अवश्य किन्तु कवि-शक्ति (प्रतिभा) से दब गया है। इस प्रकार दुराग्रह या पूर्वाग्रह समीचीन नहीं है और इसके आधार पर निर्दुष्ट निष्कर्ष की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः गुणों को संघटना रूप मानना उचित नहीं है।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार, संक्षेपतः गुण और रीति (संघटना) के परस्पर सम्बन्ध को इस प्रकार कहा जा सकता है—

१. गुणों का आश्रय रस है, संघटना नहीं। उपाचारतया वे गुण शब्दाश्रित भी कहे जा सकते हैं किन्तु संघटनाश्रित नहीं।

२. गुण नियत-विषय हैं किन्तु संघटना अनियत विषय है। दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है।

३. नियत विषयत्व के कारण गुण का नियामक रस है। किन्तु अनियत विषय संघटना का नियामक रस नहीं हो सकता।

४. वस्तुतः रीति (संघटना) गुण पर आश्रित रहती है। गुण भेद के अनुरूप संघटना भेद होता है। संघटना, गुण को व्यंजित करती है अतः उसके द्वारा रस को भी व्यंजित करती है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने संघटना (रीति) के नियामक वक्ता, विषय आदि के औचित्य पर विस्तृत विवेचन किया है।[2]

आचार्य मम्मट—

आचार्य मम्मट ने अनुप्रास अलंकार के विवेचन प्रसंग में तीन वृत्तियों का उल्लेख किया है—उपनागरिका, कोमला और परुषा। मम्मट ने इन तीनों

१. नन्वस्मिन् पक्षे "यो यः शस्त्रं बिभर्ति—इत्यादौ किमचारुत्वम्। अप्रतीयमानमेवारोपयामः। तस्माद्गुणव्यतिरिक्तत्वे च संघटनाया अन्य कश्चिन्नियम हेतुर्वक्तव्यः इत्युच्यते।—वही,

२. ध्वन्यालोक, ३।६-७-८-९ एवं उनपर स्वकृत वृत्ति।

वृत्तियों को पूर्ववर्ती आचार्यों की क्रमशः वैदर्भी, पांचाली और गौडी रीतियों से अभिन्न माना है।[1] वामन के समान आचार्य मम्मट गुण को इन वृत्तियों का विधायक और विभाजक तत्त्व नहीं मानते। वे तो यह मानते हैं कि गुण के व्यंजक वर्णों से वृत्तियों का निर्माण होता है।

मम्मट ने अपनी वृत्तियों को वामन प्रतिपादित रीतियों से अभिन्न माना है। किन्तु हम देख चुके हैं कि वामन ने रीति का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। उनकी रीतियों में से वैदर्भी तो सभी गुणों (शब्दगुण+अर्थगुण) से सम्पन्न होती है और उसमें समस्त भावसौन्दर्य की कल्पना निहित है। इसके अतिरिक्त अन्य रीतियों में भी अनेक गुणों का सद्भाव होता है। किन्तु मम्मट ने इनका विवेचन वृत्यनुप्रास के ही प्रकरण में किया है। मम्मट की वृत्तियों एवं वामन की रीतियों में कुछ समानता है तो असमानता भी है। समानता तो इस दृष्टि से है कि दोनों का सम्बन्ध वर्णों की घटना से है और माधुर्य वैदर्भी रीति तथा उपनागरिका वृत्ति में, पारुष्य गौडी रीति तथा परुषा वृत्ति में एवं सौकुमार्य पांचाली रीति तथा कोमला वृत्ति में समान रूप से पाये जाते हैं। जहाँ तक असमानता का प्रश्न है, वह कुछ अधिक ही है। रीतियाँ शब्दों के साथ-साथ अर्थों से भी सम्बन्ध रखती हैं जबकि वृत्तियाँ प्रधानतः गुणव्यंजक वर्णों पर ही आश्रित हैं। रीतियाँ रस, भाव आदि से भी युक्त हैं किन्तु वृत्तियाँ शब्दाश्रित अलंकार के अन्तर्गत कही गई हैं। वामन तो रीतियों को काव्यात्मतत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु वृत्तियाँ तो काव्य को अलंकृत करने वाले बाह्य उपादान के अंग मात्र ही बन सकीं। अतः रीतियों और वृत्तियों में पर्याप्त अन्तर है। यद्यपि मम्मट ने अपनी इन वृत्तियों को रीतियों के पर्याय के रूप में ही व्यवहृत किया है तथापि दोनों में केवल बाह्यतः ही थोड़ी-बहुत समानता है। फिर भी इतना अवश्य है कि वृत्तियों की पहचान रीति संज्ञा से की जा सकती है।

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त वृत्तियों का स्वरूप निर्धारण माधुर्य आदि गुणों के आधार पर किया है। इन गुणों को रस का धर्म मानने पर भी गुण को व्यंजित करने वाले वर्णों को अलग से श्रेणीबद्ध किया गया, जिसके आधार पर

---

१. केषांचिदंता वैदर्भी प्रमुखा रीतयो मताः। एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पांचाल्याख्या रीतयो मताः।

—काव्यप्रकाश, ९।८१ तथा वृत्ति।

यह मान्यता स्थापित हुई कि वर्ण-विशेष का प्रयोग करने से गुण-विशेष की व्यंजना होती है। अर्थात् किसी रस-विशेष के सन्दर्भ में विशेष प्रकार के वर्ण विशेष गुण के व्यंजक बनते हैं। इसलिए गुण-व्यंजक वर्णों से सम्बद्ध वृत्तियों को गुण से भी सम्बद्ध माना जा सकता है। मम्मट के अनुसार उपनागरिका वृत्ति माधुर्यगुण व्यंजक वर्णों से युक्त होती है।[१] इसी प्रकार परुषा वृत्ति ओजःप्रकाशक वर्णों तथा कोमला वृत्ति प्रसादगुण-व्यंजक वर्णों से युक्त होती है।[२]

आचार्य विश्वनाथ—

आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में रीति और वृत्ति के अलग-अलग उल्लेख हुये हैं और उन पर स्वतन्त्र रूप से विचार भी हुआ है। साहित्य-दर्पण के नाट्यशास्त्र विषयक षष्ठ परिच्छेद में उन्होंने वृत्तियों का प्रयोग आचार्य भरत एवम् अन्य नाट्याचार्यों के समान कैशिकी, भारती, सात्वती एवम् आरभटी नामक वृत्तियों के लिए ही किया है। अतः मम्मट की वृत्तियों से इन वत्तियों का अन्तर स्पष्ट ही है। विश्वनाथ ने रीतियों का उल्लेख वामनादि द्वारा प्रयुक्त रीतियों के अर्थ में ही किया है और रुद्रट की ही तरह उसके चार भेद स्वीकार किये हैं—वैदर्भी, गौडी, पांचाली तथा लाटी।[३] किन्तु उनकी रीतिविषयक धारणा उन प्राचीन रीतिवादी आचार्यों से भिन्न है और वे इस विषय में आनन्दवर्धन की संघटना तथा मम्मट की वृत्तियों के मिले जुले स्वरूप को ग्रहण करते हैं। विश्वनाथ, रस सम्प्रदाय के ऐसे सर्वप्रथम आचार्य है, जिन्होंने वैदर्भी आदि का उल्लेख रीति-संज्ञा से किया है। रीति का लक्षण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने उसे पदसंघटना कहा है, जो रस का उपकार करती है।[४] रीति के भेदों—वैदर्भी आदि के लक्षण में भी आनन्दवर्धन और मम्मट की एतद्विषयक धारणा का ही अनुगमन किया गया है। माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त, असमासा या अल्पसमासा, ललित स्वरूप वाली रचना वैदर्भीरीति की कही जाती है।[५] यही मम्मट की उपनागरिक वृति का भी लक्षण है।

---

१. माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।—काव्यप्रकाश, ९।८०

२. ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा, कोमला परैः।—वही, ९।८०

३. सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।
वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका तथा॥—साहित्यदर्पण, ९।१-२

४. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्॥—वही, ९।१

५. माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥—साहित्यदर्पण ९।२-३

असमासा घटना, ध्वनिकारसम्मत है। इसी प्रकार परुषा वृत्ति और दीर्घसमासा संघटना से अव्यतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ की गौडी रीति है, जिसे वे ओजो व्यंजक वर्णों से आडम्बर पूर्ण तथा दीर्घ समास युक्त रचना वाली मानते हैं।[1] मध्यम समासा संघटना से युक्त प्रसाद व्यंजक वर्णों वाली रचना पांचाली रीति में मानी गई है।[2] इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन की तीनों संघटनाओं तथा मम्मट की तीनों वृत्तियों का समन्वय करते हुए उपर्युक्त तीनों रीतियों का लक्षण स्थित किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट चतुर्थरीति लाटी, वैदर्भी और पांचाली की मध्यवर्तिनी है।[3]

आचार्य विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए रीति का नियामक वक्ता आदि के औचित्य को माना है। इसलिए वक्ता आदि की प्रकृति के अनुरूप रीतियों का स्वभाव—भेद काम्य है।[4] रीति या शैली का सम्बन्ध वक्ता के व्यक्तित्व से अनिवार्यतः होता है। अतः रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। आचार्य कुन्तक ने इस बिषय में पर्याप्त विवेचन किया है।

इस प्रकार गुण और रीति के परस्पर सम्बन्ध में आचार्यों की धारणाओं का विवेचन करने पर यह साफ-साफ पता चलता है कि आरम्भ में रीतियों का विभाजन एवं नामकरण देश के आधार पर होने पर भी गुणों के साथ उनका अभिन्न सम्बन्ध है। महाकवि बाणभट्ट ने उदीच्यादि कवियों की काव्य-रुचियों (प्रवृतियों) का उल्लेख करते हुए पर्याप्त रूप से संकेत किया है कि रीतियों का गुण-विशेष से सम्बन्ध अवश्य ही था। आचार्य वामन ने तो रीतियों के विभाजन में देश को आधार न बनाकर गुण को ही आधार बनाया। देश के आधार पर उनके नामकरण का रहस्य यह है कि देशविशेष के कवियों की रुचि या प्रवृत्ति गुण-विशेष में ही रहा करती है। फलतः उस देश के कवियों की रचनाओं में एक विशेष गुण का ही प्राधान्य रहता है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि विदर्भ प्रान्त के अधिकांश कवि मधुर प्रकृति के होते हैं अतः माधुर्य वैदर्भी

---

१. ओजः प्रकाशकैर्वर्णैबन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौडी--साहित्यदर्पण ९।३-४

२. वर्णैं शेषैः पुनर्द्वयोः। समस्तपंचषपदो बन्धः पांचालिका मता।—वही, ९।५

३. लाटी तु रीतिर्वैदर्भीणां चाल्पोरन्तरा स्थिता।—वही, ९।५

४. क्वचिद्वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः।—वही, ९।५

रीति का मुख्य वैशिष्ट्य हो गया। किन्तु इसका यह तात्पर्य बिल्कुल ही नहीं है कि विदर्भ देश की सभी रचनाओं को वैदर्भी रीति सम्पन्न ही कहा जाय। इसी प्रकार गौडी आदि रीतियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

निष्कर्षतः यह कहना असमीचीन न होगा कि भारतीय आचार्यों की दृष्टि में काव्यगुण, रीति के आवश्यक तत्त्व हैं। गुणों से ही रीति का विधान होता है। देशगत वैशिष्ट्य भी कुछ सीमातक की रुचि या प्रवृत्ति को प्रभावित करके काव्यरीति को प्रमाणित करते हैं। आधुनिक समय में रीति के ही समानार्थ-बोधक शब्दशैली, जिसे पाश्चात्त्य आचार्य 'स्टाइल' कहते हैं, का व्यापक प्रयोग हो रहा है। यह काव्यशैली विशुद्ध रूप से कवि की निजीरुचि का परिणाम होते हुए भी देशगत वैषिष्ट्यों से कुछ न कुछ प्रभावित रहती है।

गुण और औचित्य

भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने औचित्य का उल्लेख किया है। पूर्व काव्यशास्त्र में औचित्य की कहीं कोई चर्चा नहीं की गई है। यह बात अलग है कि उसके विशिष्ट रूप का निर्धारण न होने के बावजूद भी प्रयोग रूप में काव्य रचनाओं में उसकी सत्ता थी और अनेक आचार्य उसका उल्लेख न करते हुए भी उसके महत्त्व को जानते थे। वस्तुतः काव्यगुणों का निर्धारण करने में औचित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है और उसकी एक विशिष्ट भूमिका है। औचित्य के अभाव में गुणों का सद्भाव सम्भव नहीं है। औचित्य का सद्भाव दोष को भी गुण और उसका अभाव गुण को भी दोष बना देता है। यही कारण है कि कोई दोष भी अवस्था-विशेष में गुण हो जाता है। भोजराज ने ऐसे दोष-गुणों का वर्गीकरण करके उनका विवेचन किया है। भोजराज के उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक अवस्था में अनुचित होने के कारण जो दोष है, वही, दूसरी अवस्था में उचित होने के कारण गुण बन जाता है। स्वयं में न कोई दोष है और न कोई गुण। शूर का भाव (शक्ति-प्रयोग) शौर्य है। वह शौर्य रणक्षेत्र में तो गुण है किन्तु अकारण ही अबलादि पर उसका प्रयोग दोष ही माना जायगा। चंचलता एक ओर धीरोदात्त नायक का दोष है और दूसरी ओर धीरोद्धत नायक का गुण है। तुतलाना दोष होते हुए भी शिशु के विषय में प्रिय (गुण) होता है। अतः शौर्य, चांचल्य आदि का गुण होना औचित्य सापेक्ष्य है। पाश्चात्त्य समालोचक राबर्ट ब्रिज ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि उचित सन्निवेश होने पर काव्य

में कोई तत्त्व दोष नहीं ।[1] निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि काव्य में कोई तत्त्व गुण हो सके, इसके लिए उसमें औचित्य का होना आवश्यक है । औचित्य से अलग हट कर गुणों पर विचार करना न तो उचित ही है और न ही सम्भव ।

क्षेमेन्द्र, काव्यशास्त्र में औचित्य-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं । उन्होंने तो 'औचित्यविचारचर्चा' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन ही कर डाला है । उन्होंने 'औचित्यविचारचर्चा' में 'उक्ति' को परिभाषित करते हुए लिखा है कि जो जिसके अनुरूप हो वही उसके लिए 'उचित' माना जाता है ।[2] उचित का भाव ही 'औचित्य' है । इस प्रकार स्वभाव का आनुरूप्य ही औचित्य है । अतः इस आधार पर गुण के सम्बन्ध में औचित्य की भूमिका यह है कि जो धर्म वस्तु प्रकृति के अनुरूप होने पर गुण माना जाता है वही उसके प्रतिरूप होने पर दोष हो जाता है । इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कहीं वस्तु-स्वभाव के प्रतिकूल होने से जो दोष है वही अन्यत्र उसके अनुकूल होने पर गुण कहा जाता है ।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में 'प्रवृत्ति' के सम्बन्ध में जो विचार किया है उसमें औचित्य के अनुसार गुण-दोष के निर्णय का संकेत प्राप्त होता है । उन्होंने प्रवृत्ति-विचारणा में वेषभूषा, भाषा प्रयोग और देश तथा जातिगत वैशिष्ट्यों को विषय बनाया है । उन्होंने रस, भाव आदि के अनुरूप वेषादि का विचार किया है इसी प्रकार व्यक्ति विशेष या देशविशेष के अनुरूप भाषा-प्रयोग को भी वांछनीय माना है । देश, काल, पात्र आदि की प्रकृति के अनुरूप ही वेषभूषा आदि योजना उपयुक्त शोभाजनक होती है अन्यथा सुन्दर वेश भी विपर्यय से हास्यास्पद हो जाता है ।[3] इसी प्रकार देश और व्यक्ति का विचार करके काव्य में भाषा का प्रयोग समीचीन माना जाता है । किसी अशिक्षित पात्र के मुख से भाषा का अशुद्ध प्रयोग ही गुण माना जाता है । व्याकरण के

---

१. But in Aesthetics, no property is absured if it is in keeping; Robert Bridge in Poetic Diction.

२. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं खलु यस्य यत् ।
—क्षेमेन्द्र : औचित्यविचारचर्चा, श्लोक ७

३. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥—नाट्यशास्त्र, २५।६९

नियमों से रहित शब्दप्रयोग का च्युतसंस्कृतित्व दोष भी ग्राह्य है। यही कारण है कि नाट्याचार्यों ने अनुकरण में दोषों को भी गुण माना है। अतः यह धारणा पुष्ट होती है कि स्पष्टउल्लेख न होने पर भी, औचित्य प्राचीन आचार्यों की धारणा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था तथा गुण-दोष विवेचन का प्रमुख आधार था।

भामह

आचार्य भामह की दोष-धारणा के सन्दर्भ में गुण और औचित्य के परस्पर सम्बन्ध का संकेत मिलता है। भामह दोषों को अनित्य मानते हैं। स्थितिविशेष में दोष भी गुण बन जाते हैं। भामह की ऐसी मान्यता है कि ये दोष कहीं सन्निवेश के वैशिष्ट्य के कारण और कहीं आश्रय के सौन्दर्य के कारण, शोभाधायक धर्म बन जाते हैं। सामान्यतया जिन्हें दोष माना जाता है यदि वे मानसिक दशा के अनुरूप हों तो वे गुण हो जाते हैं। उपर्युक्त कथन में भामह की इस धारणा का स्पष्ट संकेत मिलता है कि औचित्य ही गुणत्व का निर्णायक है। उदाहरणार्थ, पुनरुक्ति सामान्य अवस्था में दोष है किन्तु भय, शोक, हर्ष, विस्मय आदि मानसिक दशाओं में वह स्वाभाविक है। इसलिए ऐसी दशा में पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जाता।[1]

औचित्य से ही काव्यदोष प्रादुर्भूत होते हैं। देश, काल, व्यक्ति आदि की प्रकृति (स्वभाव) की प्रतिकूलता या अनौचित्य से ही दोषों का जन्म होता है। इस प्रकार भामह की दृष्टि में औचित्य गुणत्व का और अनौचित्य दोषत्व का हेतु है।

दण्डी

आचार्य दण्डी की दोष विषयक धारणा भामह से प्रभावित है। वे इस विषय में समान विचार रखते हैं। अपार्थ दोष का विवेचन करने के बाद दण्डी ने कहा है कि समुदाय-अर्थ से शून्य यह अपार्थ दोष मत्त, उन्मत्त तथा बच्चों की उक्ति में दोष नहीं माना जाता।[2] किसी मत अथवा उन्नत व्यक्ति के कथन में

---

१. भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदः॥ —भामह, काव्यालंकार, ४।४

२. समुदयार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥—दण्डी, काव्यादर्श, ३।१२८

असम्बद्धता पाई जाती है। कहे गये वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध न होने से वाक्यों का समुदायगत अर्थ उनके कथन में नहीं प्राप्त होता। ऐसा बच्चों के विषय में भी स्वाभाविक है। अतः उनके वचनों का समुदाय-अर्थ से रहित होना उनकी प्रकृति के अनुकूल है। इस प्रकार यहाँ औचित्य के कारण अपार्थ दोष की सत्ता नहीं है।

विरुद्धार्थ दोष भी सर्वत्र दोष ही नहीं रहता। विरुद्धार्थ कथन को भी दण्डी ने अभिषंग की मनोदशा में अनिन्दित माना है।[1] देश कालादि के विरोध रूप दोष भी कवि कौशल से गुण बन जाते हैं।[2] अतः यह प्रमाणित होता है कि औचित्य के कारण दोषों का भी गुणत्व आचार्य दण्डी को स्वीकार था।

रुद्रट

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही लिखा है, आचार्य रुद्रट के 'काव्यालंकार' में ही सर्वप्रथम 'औचित्य' का उल्लेख प्राप्त होता है। इन्होंने भी दोष-निरूपण के ही प्रसंग में औचित्य के कारण दोषों का गुणत्व बतलाया है। ग्राम्य दोष के वर्णन में विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के सम्बोधन का औचित्य दिखलाया गया है। वहीं यह भी प्रतिपादित किया गया है कि जो पद सामान्यतः अनुचित माने जाते हैं वे भी एक विशेष स्थिति में उचित हो जाते हैं। सभ्य समाज में भी कुछ विशेष स्थितियों में अनुचित पदों के प्रयोग की स्वीकृति है। व्यावहारिक उदाहरण के रूप में विवाहादि के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाई गई गालियाँ अश्लील होने पर भी वर्जित नहीं हैं और लोग रुचिपूर्वक सुनकर प्रिय होने की मान्यता प्रदान करते हैं। अतः काव्य में भी ऐसे अवसरों का चित्रण करते समय अश्लील पदों का प्रयोग अनुचित (दोष) नहीं माना जायेगा।

अनुकरण में सभी दोष गुण बन जाते हैं—यह मान्यता रुद्रट की भी है।[3] रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने इसका स्पष्टीकरण किया है। जो व्यक्ति शुद्ध

---

१. अस्ति काचिदवस्था सा साभिषंगस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥—काव्यादर्श, ३। १३३

२. विरोधस्सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥—वही, ३।१७९

३. पदमिदमनुचितमपरं सभ्यासभ्यार्थवाचि सभ्येऽर्थे।
तद्धि प्रयुज्यमानं निदधाति मनस्यसभ्यमपि ॥ अपि च,
अर्थविशेषवशाद् वा सभ्येऽपि तथा क्वचिदभक्तेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि ॥—रुद्रटः काव्यालंकार, ६।२१, २३

उच्चारण नहीं कर पाता, उसका अनुकरण करने वाले पात्र का अशुद्ध उच्चारण भी गुण बन जाता है। मूर्ख पात्र के अनुकरण में जब कवि अशुद्ध पदों का प्रयोग करता है तो उसका वर्णन अधिक स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हो जाता है और वह अपने कविकर्म में अधिक सफल समझा जाता है। पात्रोचित भाषा का प्रयोग न होने से काव्य में स्वाभाविकता नहीं आ पाती और कवि-श्रम सफल नहीं होता। अशिक्षित पात्रों के मुख से परिमार्जित भाषा का प्रयोग उनके संस्कार को व्यंजित करने में अक्षम तो होता ही है, साथ ही वह हास्यास्पद भी लगता है। नमिसाधु ने उक्त स्थल की अपनी टीका में अनुकरण में सदोष शब्दों के प्रयोग के गुण बन जाने का एक उदाहरण दिया।[1]

रुद्रट ने अर्थगत दोषों का वर्णन करके स्थिति विशेष में उनका भी गुणत्व प्रदर्शित किया है। किसी व्यक्ति की छींटाकशी में प्रयुक्त हीनोपम तथा अधिकोपम दोष भी गुण बन जाते हैं।[2] रुद्रट भी दण्डी के समान ही, पुनरुक्त आदि दोषों का स्थितिविशेष में गुणत्व स्वीकार करते हैं।[3]

राजशेखर

राजशेखर के अनुसार गुण और दोष अनित्य हैं। अनौचित्य के कारण गुण भी दोष बन जाते हैं और औचित्य से दोष भी गुण बन जाते हैं। इस प्रकार राजशेखर के अनुसार भी गुण और दोष का निर्णायक तत्त्व औचित्य ही है। राजशेखर के अनुसार प्रतिभावान् कवि की रचना में व्युत्क्रम दोष तो आ ही नहीं पाता।[4] उनका यह स्पष्ट मत है कि सावधान कवि की रचना में दोष भी गुण बन जाते हैं और व्युत्पत्तिशून्य कवियों की कृति में तो भूषण भी दूषण बन

१. अनुचिकीर्षया प्रयुक्तमथ च प्रतिपादनयासमर्थं तदविकलग्रहणेन दुष्टमिति दृश्यते। तथा तादृशा भिन्नस्वरूपत्वादसदृशा विपरीता दुष्टक्रमाः क्लिष्टा लुप्ता वर्णा यस्य तत्तथाविधम्। तदपि पदं न दोषाय यथा विकटनितम्बायाः पतिमनुकुर्वाणा सखी प्राह—"काले माषं सस्ये मासं वदति शकाशं यश्च सकाशम्। उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा॥—वही, नमिसाधु कृत टीका।

२. रुद्रट, काव्यालंकार ११।२४

३. वही, ११।१८, २३

४. न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः।
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा॥—काव्यमीमांसा, १८

जाते हैं।[1] इस प्रकार राजशेखर का यह अभिप्राय स्पष्ट ही है कि समर्थ कवि शब्द और अर्थ की उचित योजना करते हैं। अतः औचित्य दोषों को भी गुण में परिवर्तित कर देता है। इसके विपरीत असमर्थ कवि के काव्य में अनौचित्य का सद्भाव गुणों को भी दोष बना देता है।

भोजराज

भोजराज ने वैशेषिक गुणों का एक सर्वथा नवीन वर्ग ही कल्पित किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने जहाँ औचित्य का संकेत मात्र किया था, वहीं भोजराज ने उस पर सुव्यवस्थित रूप से विचार किया है। प्रबन्ध-गुणों का विवेचन करते हुए उन्होंने प्रकारान्तर से औचित्य का उल्लेख किया है। वे गुणों के स्वरूप निर्धारण में औचित्य के महत्त्व को भलीभाँति समझते थे। भोजराज ने 'रसानुरूपसन्दर्भत्व' नामक प्रबन्धगुण में रस के अनुरूप या उचित, सन्दर्भ-योजना को ही वांछनीय बतलाया है। शृंगार के वर्णन में कोमल, वीर में प्रौढ़, रौद्र में परुष, करुण में मृदु तथा अद्भुत में स्फुट पदों की रचना होनी चाहिए![2] इसी प्रकार 'पात्रानुरूपभाषत्व' गुण में भोजराज ने पात्रोचित भाषा-प्रयोग को काम्य माना है। पात्रोचित भाषा काव्य में स्वाभाविकता का आधान तो करती ही है, अर्थ की व्यंजना में भी सहायक होती है। इससे काव्योत्कर्ष होता है। 'अर्थानुरूपछन्दस्त्व' गुण भी रसोचित छन्दो-योजना का विधान करता है। विभिन्न मानसिक भावों के अनुकूल छन्दःप्रयोग, भोजराज की दृष्टि में एक गुण है। यहाँ भी गुण के आधार रूप में औचित्य की भावना स्पष्ट है।

शृंगारप्रकाश के अतिरिक्त सरस्वतीकण्ठाभरण में भी भोजराज ने दोष प्रकरण में छिटपुट रूप से औचित्य का उल्लेख किया है। लोक-विरोध, काल-विरोध आदि दोष औचित्य पर ही आधारित हैं। वस्तु, अर्थ आदि के अनौचित्य से ही ये दोष प्रादुर्भूत होते हैं। भोजराज ने शब्दगत भाविक गुण के विवेचन के अवसर पर अर्थकल्पन के अनौचित्य का विचार किया है। दोष-गुण या या वैशेषिक गुण के निर्धारण का आधार औचित्य ही है। औचित्य के कारण

१. अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेः दूषणं भूषणायते॥—वही, १८

२. रसानुरूपसन्दर्भत्वमित्यनेन रतिप्रकर्षे कोमलः, उत्साहप्रकर्षे प्रौढः, क्रोधप्रकर्षे कठोरः, शोकप्रकर्षे मृदुः, विस्मयप्रकर्षे तु स्फुटः शब्दसन्दर्भो विरचनीय इति उपदिशन् नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः इति ख्यापयति।
—भोजराज, शृंगारप्रकाश।

ही दोष, गुण में परिवर्तित हो जाते हैं। वैशेषिक गुणों का विवेचन करते हुए भोजराज ने यह प्रदर्शित किया है कि स्थिति-विशेष, सन्दर्भ विशेष या औचित्य के कारण ही दोष, गुण में परिवर्तित हो जाते हैं। वैशेषिक गुणों का विवेचन करते हुए भोजराज ने यह प्रदर्शित किया है कि स्थिति विशेष, सन्दर्भविशेष या औचित्य के कारण सभी दोषों का परिहार हो जाता है। वे दोष, गुण में भी बदल जाते हैं। अतः निष्कर्ष रूप से हम यह कह सकते हैं कि भोजराज गुण की सत्ता औचित्य निरपेक्ष नहीं मानते।

कुन्तक

अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में आचार्य कुन्तक ने औचित्य का उल्लेख एक गुण के रूप में किया है। साहित्य के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कुन्तक ने जिन दो गुणों को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, वे हैं—औचित्य और सौभाग्य। इन गुणों के महत्त्व का आधार उनकी व्यापकता है। कुन्तक ने इन्हें सर्वसाधारण अथवा सर्वमार्गगत कहा है।[१] उनकी मान्यता है कि काव्य के किसी अंश में औचित्य का अभाव, सहृदय की रसानुभूति (अतएव आनन्द) में बाधक होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि कुन्तक वक्रोक्ति या काव्यसौन्दर्य का आधार औचित्य ही मानते थे। उन्होंने स्पष्टतः वक्रोक्ति का मूलतत्त्व औचित्य को स्वीकार किया है।[२] इस प्रकार वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित करने वाले कुन्तक ने औचित्य को उस काव्यात्म रूप वक्रोक्ति का सार मानकर काव्य में औचित्य गुण को सर्वोपरि पहुँचा दिया है। प्रायः सभी आचार्यों ने औचित्य को गुण के विधायक धर्म रूप में स्वीकार किया है किन्तु औचित्य को गुण की संज्ञा प्रदान करने वाले या उसे गुण का एक भेद मानने वाले, पूरे भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक ही अकेले आचार्य हैं। अन्य आचार्यों के ही समान कुन्तक ने औचित्य को जिस प्रकार परिभाषित किया है, उसे दृष्टिगत कर गुण के एक भेद के रूप में उसे स्वीकृत करना समीचीन नहीं प्रतीत होता। कुन्तक ने भी यथानुरूप कथन को औचित्य माना है।[३]

---

१. एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥ —वक्रोक्तिजीवित, १।५७

२. एतदानुगुण्येनैव विभूषणविन्यासो विच्छित्तिमावहति।—वही, १।५३ की वृत्ति।

३. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥—वही, १।५३

इस प्रकार औचित्य के सम्बन्ध में कुन्तक की धारणा को संक्षेपतः इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—उचित कथन ही औचित्य है। वह काव्यात्म-स्वरूप वक्रोक्ति का प्रयोजक है तथा साहित्य का आधार है। वह काव्यमार्ग का सामान्य गुण है।

शब्दार्थगत औचित्य के अतिरिक्त कुन्तक ने वृत्तिगत औचित्य पर भी विचार किया है। उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित' में कैशिकी आदि वृत्तियों के औचित्य पर भी विचार किया है। वर्णवक्रता के अन्तर्गत उन्होंने प्रसंगानुकूल वर्णों की योजना पर बल दिया है। वर्ण्य के अनुरूप ही वर्ण शोभाशाली होते हैं। परुष रस के सदृश कठोर वर्ण ही सुन्दर माने जाते हैं।[1]

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आचार्य कुन्तक काव्य-सौन्दर्य के सभी रूपों में औचित्य की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।

क्षेमेन्द्र—

यद्यपि सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में काव्य में औचित्य की सत्ता को स्वीकार किया है तथापि जो महत्त्व औचित्य को आचार्य क्षेमेन्द्र ने प्रदान किया, वह किसी अन्य आचार्य ने नहीं। उन्होंने औचित्य को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया। इतना ही नहीं उन्होंने 'औचित्यविचारचर्चा' नामक काव्यशास्त्र का ग्रन्थ प्रणीत कर 'औचित्यसम्प्रदाय' की स्थापना की। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपनी इस धारणा को प्रतिष्ठित किया है कि औचित्य ही रससिद्ध काव्य का प्राण हैं। जैसे शरीर में आत्मा के रहने पर ही गुण-अलंकार की उपयोगिता होती है उसी प्रकार आत्मस्वरूप औचित्य के अभाव में काव्य के गुण-अलंकारादि व्यर्थ होते हैं। काव्य में उचित रूप से विनिविष्ट होकर ही अलंकार तथा गुण शोभायमान होते हैं।[2]

---

१. वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः द्विरुक्तास्तलनादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः॥—वक्रोक्तिजीवित, २।२

२. काव्यभूषणमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणास्सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥—औचित्यविचारचर्चा ४-६

क्षेमेन्द्र ने अलंकार, गुण और औचित्य आदि का पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित करते हुए, भरत की एतत्सम्बन्धी धारणा का संकेत करते हुए कहा है कि औचित्य के अभाव में अलंकार और गुण अशोभन हो जाते हैं। शरीर पर आभूषणों के उचित विनिवेश का लौकिक उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि यदि करधनी कण्ठ में, हार कटि में, नूपुर हाथ में और केयूर चरणों में धारण कर लिया जाय तो वह हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार काव्य गुण भी उचित स्थान में ही गुण होते हैं। वैरी के प्रति शौर्य प्रदर्शित करना तथा प्रणत व्यक्ति के प्रति करुणा, व्यक्ति की गरिमा को प्रकर्षयुक्त बनाता है। इसके विपरीत आचरण व्यक्तित्व का विघातक होता है।[1]

काव्य में गुणालंकारों की भी यही स्थिति है। उनकी अनुचित योजना काव्य को उपहसनीय बना देती है। शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में माधुर्य ही उचित गुण है। वहाँ दीप्त गुणों (जैसे ओजस्) का सन्निवेश अनुचित है। अतः क्षेमेन्द्र के अनुसार भी औचित्य के अभाव में गुण अपनी शोभा खोकर दोषावह बन जाते हैं।

आनन्दवर्धन

कुन्तक और क्षेमेन्द्र के पहले ही आचार्य आनन्दवर्धन काव्य में औचित्य के महत्त्व को परख चुके थे। ध्वन्यालोक में उन्होंने अपनी औचित्यधारणा का सम्यक् प्रतिपादन भी कर दिया था। आनन्दवर्धन की इस धारणा का ही विकास उनके उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने गुण को रस का धर्म मानकर गुणौचित्य का उल्लेख किया है। रस के अनुकूल गुणों की योजना को गुणौचित्य कहते हैं। माधुर्यगुण शृंगारादि रसों के अनुकूल होता है। इसी प्रकार ओजस् रौद्रादि रसों के उचित है। विशेष गुण विशेष वर्णों से व्यंजित होते हैं। कोमल वर्ण मधुर भाव की अनुभूति में सहायक हैं। अतः वे माधुर्य गुण के व्यंजक कहे गए हैं। इसी प्रकार ओजस् आदि गुणों के व्यंजक कठोर वर्ण माने गए हैं। अतः शृंगारादि

---

१. कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपोः करुणया आयान्ति के हास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥—औचित्यविचारचर्चा

में कोमल और रौद्रादि में कठोर वर्णों की योजना उचित मानी गई है। यह रसानुरूप वर्णयोजना ही वर्णौचित्य है। इसी प्रकार विशेष प्रकार की संघटना भी गुण-विशेष को व्यंजित करने में सहायक होती है। मधुर रसों में असमासा तथा दीप्त रसों में समासबहुला या दीर्घसमासा संघटना उचित मानी जाती है। इस प्रकार की संघटना-योजना 'संघटनौचित्य' है। वर्णौचित्य और संघटनौचित्य के विषय में आनन्दवर्धन का कथन है कि वे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के प्रकाशक होते है। वह असंलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि वर्ण, पद, वाक्य तथा संघटना आदि में प्रकाशित होती है।[1]

वर्णों के द्वारा रस की व्यंजकता प्रदर्शित करते हुए आनन्दवर्धन ने प्रदर्शित किया है कि रेफ युक्त श, ष तथा ढ वर्ण शृंगार के विरोधी हैं जबकि वीभत्सादि के प्रकाशक है। अतः वर्ण भी रस व्यंजक है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि व्यंजना के लिए वर्णों का उचित संनिवेश अनिवार्य है। औचित्य उन वर्णों को रसव्यंजक बनाता है और अनौचित्य उन्हें रसबाधक बनाता है। प्रयुक्त वर्ण तथा रस का आनुकूल्य ही औचित्य है, जो वर्णों के गुणव्यंजकत्व का नियामक है।

आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन की उक्त धारणा का पोषण ही किया है। ध्वनिव्यापार से उपलब्ध रस, वस्तुतः काव्य का प्राण ही है। गुण रस का धर्म है। रस की सत्ता औचित्य पर आधारित है। इस प्रकार औचित्य रस का नियामक होकर गुण का भी नियामक सिद्ध होता है। आनन्दवर्धन ने इसीलिए रसभंग का एकमात्र कारण औचित्य के अभाव को माना है।[3] इस प्रकार औचित्य काव्य के सकल तत्त्वों का नियामक होता है। अतः

---

१. यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥—ध्वन्यालोक, ३।२

२. शषौ सरेफसंयोगौ ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृंगारे तेन वर्णरसच्युतः ॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णारसच्युतः ॥—ध्वन्यालोक, ३।३-४

३. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥—वही, ३।१

आनन्दवर्धन के मतानुसार गुणौचित्य की मूल धारणा का आशय यही है कि उचित गुण के सन्निवेश से ही रस व्यंजित होता है।

मम्मट

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में दोषों का विवेचन करते हुए औचित्य का उल्लेख किया है। वे गुण के साथ औचित्य का अनिवार्य सम्बन्ध मानते है। काव्य के कुछ दोष स्थितिविशेष में गुण बन जाते है। औचित्य ही वह आधार है जिससे दोष, गुणों में परिवर्तित हो जाते हैं। आचार्य मम्मट का स्पष्ट मत है कि वक्ता, प्रतिपाद्य व्यंग्य, वाच्य तथा प्रकरण के औचित्य से ही यदाकदा दोष भी गुण बन जाते है और कहीं कहीं न वे दोष ही रहते हैं, न गुण ही।[1] औचित्य से दोष का परिहार अवश्य हो जाता है। अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति मम्मट ने भी अनुकरण की दशा में दोष को अदोष ही स्वीकार किया है।[2] इसी प्रकार औचित्य के आधार पर अन्य दोषों का भी गुणत्व प्रदर्शित किया गया है।

आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए मम्मट ने भी रसानुरूप वर्णयोजना का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वे भी आनन्दवर्धन की तरह औचित्य को ही काव्य के सभी तत्त्वों का नियामक मानते हैं। यही कारण है कि विशेष रसों के अनुरूप विशिष्ट पदरचना, वृत्ति-विधान तथा वर्णयोजना की व्यवस्था प्रतिपादित करके उन्होंने यह कहा है कि वक्ता, वाच्य तथा प्रबन्ध के औचित्य से कहीं-कहीं वह अन्यथा भी हो जाता है।[3]

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनिवादी आचार्यों—आनन्दवर्धन एवं मम्मट की गुणौचित्य धारणा का ही अनुसरण किया है। उनकी मान्यता है कि प्रकृति-विपर्यय तथा अनौचित्य आदि रसगत दोषों का कारण औचित्य का अभाव ही है।[4] विश्वनाथ ने भी रसानुरूप गुणव्यंजक वर्णों का उल्लेख किया है।

---

१. वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणाः क्वचित्क्वचिन्नोभौ ॥--काव्यप्रकाश, १।५९

२. अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।—काव्यप्रकाश ७।१

३. वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥—वही, ८।७७

४. ते च यो यथाभूतः तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः ।.........आनन्द-औचित्य देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम् । तथा सति काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेनविनेयानामुन्मुखीकारासम्भवः ।—साहित्यदर्पण, ७।१

पंडितराज जगन्नाथ

पंडितराज जगन्नाथ विशेष गुण में विशेष प्रकार की रचना को वर्णनीय मानते हैं। मधुर रस में जो रचना वर्ण्य होती है वही ओजस्वी में अनुकूल होने से काम्य हो जाती है। मधुर रस जो ग्राह्य है, वही दीप्त रस में त्याज्य हो जाता है।[1] पंडितराज का यह विचार आनन्दवर्धन के वर्णौचित्य तथा संघटनौचित्य के विचार से संगत है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यही है कि औचित्य ही गुण का विधायक है। औचित्य के अभाव में गुण के सद्भाव की कल्पना सम्भव नहीं है, साथ ही औचित्य के सद्भाव में दोष का भी अभाव रहता है। औचित्य के कारण दोष भी गुण बन जाते हैं।

गुण और रस

काव्य से रस का अभिन्न सम्बन्ध है। वस्तुतः सहृदय काव्य का आस्वादन नहीं अपितु काव्यरस का आस्वादन करता है। बिना रस के, आस्वादन कैसे और किसका ? 'रसो वै सः' से लेकर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' तक सारा का सारा प्रकरण रसमय ही है। सरस्वती ने तो ब्रह्मा से निवेदन किया कि अरसिक (रसविहीन) व्यक्ति को कवित्व मत प्रदान कीजिए। भला जो स्वयं सरस नहीं वह काव्य क्या रचेगा ? आचार्य मम्मट ने नवरसरुचिरा कविभारती की जयजयकार की है। आचार्य मम्मट ही क्या, भारतीय काव्यशास्त्र के भरत से लेकर अद्यावधि प्रायः सभी आचार्यों ने रस पर किसी न किसी रूप से विचार किया है। जब रस पर विचार हो रहा हो तो गुण भला कैसे छूट सकता है ? हाँ, यह बात अवश्य है कि रस के साथ गुण का क्या सम्बन्ध है—इस सम्बन्ध में आचार्यों में मतवैभिन्न्य अवश्य रहा। कुछ आचार्यों ने गुण को शब्दार्थ के माध्यम से रस पर आश्रित माना है, कुछ आचार्यों ने गुण को शब्दार्थ का धर्म मानते हुए रस को ही गुण विशेष का अंग बना दिया और कुछ आचार्यों ने गुण को रस का धर्म मानकर उसे रस पर अनिवार्यतः आश्रित बताया है। यहाँ हम गुण और रस के परस्पर सम्बन्ध में कुछ प्रमुख आचार्यों की मान्यताओं का संक्षिप्त निरूपण करेंगे।

---

१. अथ विशेषतो वर्णनीयाः। तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपदं वक्ष्यन्ते, त एवोजस्विष्वनुकूलाः, ये चानुकूलतयोक्ताः ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निर्णयः।—रसगंगाधर, १

आचार्य भरत—

आचार्य भरत ने कुल दस गुण माने हैं और उनके ये दसों गुण शब्दार्थगत हैं। कुछ गुण केवल शब्दगत, कुछ केवल अर्थगत और कुछ उभयाश्रित हैं। शब्दार्थगत होते हुए भी भरत के गुणों को प्रकारान्तर से रसाश्रित माना जा सकता है। क्योंकि आचार्य भरत ने नाट्य प्रयोग का मूलतत्त्व रस ही माना है और रस के अभाव में उसकी सत्ता ही नहीं स्वीकार की है।[1] वाचिक अभिनय की सार्थकता रस को उपकृत करने में ही है। इसलिये उसे रसाश्रित मानना ही पड़ेगा। गुण रसाश्रय से होने वाले वाचिक अभिनय पर आश्रित है। अतः रस को गुण का मूल आश्रय मानना चाहिए।

गुण को परम्परया रसाश्रित मानने पर भी आचार्य भरत ने विशेष गुण के लक्षण में शृंगार आदि रसों को उसका अंग बना दिया है। उन्होंने उदारता गुण को स्पष्ट ही शृंगार और अद्भुत रसों से युक्त कहा है।[2] अतः हम कह सकते हैं कि गुण और रस के परस्पर सम्बन्ध का निर्देश भरत ने नाट्यशास्त्र में कहीं नहीं किया है। यद्यपि उन्होंने गुण का साक्षात् सम्बन्ध शब्दार्थ या वाचिक अभिनय से माना है किन्तु गुण के आश्रय के विषय में अपनी मान्यता को कहीं भी स्पष्ट नहीं किया है।

दण्डी—

आचार्य दण्डी ने यद्यपि भरत के दस गुणों को ही स्वीकार किया किन्तु उन्हें रस का धर्म न मानकर शब्द और अर्थ का धर्म माना। दण्डी की काव्य-धारणा रस को विशेष महत्त्व नहीं देती। उन्होंने रस को काव्य का मुख्य तत्त्व न मानकर उसे अलंकार का अंग मात्र स्वीकार किया है। रसवदादि अलंकार में रस की सत्ता स्वीकार करने में दण्डी का आशय यही है। उन्होंने अग्राम्यता माधुर्य को रस का सर्वाधिक उपकारक कहा है किन्तु वहाँ रस पारिभाषिक अर्थ में नहीं अपितु सामान्यतः काव्यसौन्दर्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।[3] दण्डी ने

---

१. नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते ।-नाट्यशास्त्र,

२. दिव्यभावपरीतं यच्छृंगाराद्भुतयोजितम् ।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम् ॥--नाट्यशास्त्र, १६।११०

३. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥--काव्यादर्श, १।६२

गुणों को रस की अपेक्षा काव्य का अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है। दण्डी के दसों गुण वस्तुतः शब्द और अर्थ पर ही आश्रित हैं। दण्डी के अनुसार इष्टार्थोपेत पदावली ही काव्यशरीर है, जिसकी शोभा अलंकारों से उत्पन्न होती है। गुण भी मार्गविभाजक अलंकार हैं अतः काव्य के शोभाधायक धर्म हैं। इस प्रकार दण्डी गुणों को रस से निरपेक्ष, काव्यशोभा का हेतुभूत तत्त्व मानते हैं जो रस से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

वामन

गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आचार्य वामन भी प्रायः दण्डी के समान विचार वाले हैं। वामन ने भी गुण को शब्दार्थगत ही माना है। वे भी दस गुण मानते हैं किन्तु ये दसों गुण शब्दगत भी हैं और अर्थगत भी। इस प्रकार वामन के मतानुसार गुणों की भेद संख्या बीस हो जाती है। वामन की मान्यता है कि गुण रस सापेक्ष नहीं हैं प्रत्युत उनकी काव्य में स्वतन्त्र और प्रमुख सत्ता है। कान्ति गुण की परिभाषा में रस को कान्ति गुण का अंग बना दिया गया है। दीप्त रस का होना कान्ति नामक गुण है।[1] अतः वामन का एतद्विषयक मत स्पष्ट ही है कि काव्य में गुण मुख्य हैं, वे रस निरपेक्ष हैं तथा रस का काव्य में गौण स्थान है।

भोजराज

भोजराज पर वामन और आनन्दवर्धन, दोनों का प्रभाव परिलक्षित होता है। वामन के समान वे भी गुण को काव्य का मुख्य शोभाकारक धर्म मानते हैं। उनके भी गुण शब्दार्थगत हैं। उन्होंने बाह्य और आभ्यान्तर दो प्रकार से गुण की कल्पना की है तथा उनके द्वारा स्वीकृत गुणों की संख्या चौबीस है। ये चौबीम बाह्य गुण शब्दगत है तथा उतने ही चौबीस आभ्यन्तर गुण अर्थगत हैं। लेकिन वामन से विलक्षण भोजराज के कुछ गुण का रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। यही कारण है कि भोजराज ने अपने द्वारा स्वीकृत गुणों का विभाजन तीन वर्गों में किया है। (१) रसारम्भक गुण, (२) रसभाव आरब्ध गुण तथा (३) शुद्ध शब्दार्थगत गुण। प्रथम दो वर्गों के गुणों का रस से अनिवार्य सम्बन्ध होने के कारण उन्हें अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण कहा गया है और तीसरे वर्ग के गुणों को पृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण कहा गया है क्योंकि इन गुणों की स्थिति

---

१. दीप्तरसत्वं कान्तिः।—वामन, काव्यालंकारसूत्र, ३।२।१५

केवल शब्द और अर्थ में ही रहती है। इन गुणों के साथ कहीं-कहीं रस का संकर भी होता है[1]।

भोजराज ने रसारम्भक वर्ग में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को रखा है तथा उनके रस-सम्बद्ध स्वभाव को प्रकट करने के लिए ध्वन्यालोक से उन गुणों के लक्षण को उद्धृत किया है। इन गुणों के सम्बन्ध में भोजराज ने यह आशय व्यक्त किया है कि वे रस के आरम्भक हैं। अतः रस के साथ उनका संकर नहीं हो सकता। यहाँ रस और उन गुणों में अविनाभाव सम्बन्ध माना गया है।

रसारम्भक वर्ग के माधुर्यादि तीनों गुणों का स्वरूप और स्वभाव भोजराज ने आनन्दवर्धन के ही समान माना है। थोड़ा सा अन्तर यह है कि भोजराज का माधुर्य केवल आनन्दवर्धन का माधुर्य न होकर दण्डी के अग्राम्यता माधुर्य और आनन्दवर्धन के माधुर्य का मिलाजुला रूप है। भोजराज की दृष्टि में अग्राम्यता का महत्त्व अत्यधिक है। अग्राम्यता के अभाव में कोई भी वाक्य काव्य नहीं कहा जा सकता। इसका अभिप्राय यह है कि भोजराज के मतानुसार अग्राम्यता माधुर्य काव्य में सर्वत्र रहता है। श्रृंगार और करुण के साथ माधुर्य अनिवार्यतः रहता है। ओज रौद्रादि में नियतरूप से रहता है। प्रसाद गुण सभी रसों में व्याप्त होता है। रसानुभूति के लिए ये गुण आवश्यक हैं। इनको इसीलिए रसारम्भक कहा गया है।

रसभाव-आरब्ध के अन्तर्गत वर्गीकृत गुणों की संख्या ६ है—औजित्य भाविक, माधुर्य, उदात्तत्व, प्रेय और कान्ति। क्रोध आदि की भी अवस्था में जो मृदुता होती है, उसे ही यहाँ माधुर्य कहा गया है। भोजराज ने इस वर्ग के गुणों का स्पष्टीकरण सरस्वतीकण्ठाभरण में किया है।[2] इन गुणों की अभिव्यक्ति रसों के कारण होती है, इसीलिए इन्हें रसारब्धक कहते हैं। इनका रस से संकर नहीं होता है।

---

१. अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यानां गुणरसानां वाक्ये सन्निवेशः तत्र संकरव्यवहारो न प्रवर्तते।—सरस्वतीकण्ठाभरण।

२. रूढाहंकारता औजित्यम्। भावतो वाक्यवृत्तिर्भाविकत्वम्, क्रोधादावप्यतीव्रता माधुर्यम्, आशयोत्कर्ष उदात्तत्वम्, अर्थस्य अभीष्टतमता प्रेयः दीप्तरसत्वं कान्तिः इति।—सरस्वतीकण्ठाभरण।

भोजराज के गुणविवेचन के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मूलतः वामन की गुणधारणा से प्रभावित होते हुए भी ध्वनिकार आनन्दवर्धन की मान्यताओं का भी आदर करते हैं। इसीलिए वामन का अनुसरण करते हुए उन्होंने कुछ गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत माना है और आनन्दवर्धन के अनुसार कुछ गुणों को रसगत भी माना है।

भोजराज के टीकाकार रत्नेश्वर की गुण और रस के परस्पर सम्बन्ध विषयक मान्यता स्पष्ट नहीं है। उन्होंने गुण को रस का धर्म मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है। वे मानते हैं कि काव्य में गुण सर्वत्र रहता है किन्तु रस की स्थिति सार्वत्रिक नहीं है। रत्नेश्वर गुण को काव्य का प्रधान शोभा हेतुक मानते हैं, यह भोज का ही प्रभाव है। अभिप्राय यह है कि गुण के अभाव में काव्य की कल्पना करना ही सम्भव नहीं है। रत्नेश्वर के अनुसार, गुण को रस का धर्म स्वीकार कर लेने पर, उसे भी रस की तरह काव्य का अनित्य धर्म मानना पड़ेगा, जो उचित नहीं है।[१] यही कारण है कि उन्होंने गुण को रसावलम्बी भी नहीं माना। रत्नेश्वर माधुर्यादि तीनों गुणों का रसगुणत्व नहीं मानते और आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। रत्नेश्वर गुणों को शब्दार्थगत ही मानते हैं।

रत्नेश्वर गुणों को रसों का व्यंजक मानते हैं। वे माधुर्य को शृंगार और करुण का व्यंजक मानते हैं इसी लिए उन्होंने इन रसों को मधुर रस कहा है।[२]

यद्यपि सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका में रत्नेश्वर ने काव्य में रस की स्थिति सर्वत्र नहीं मानी है और न ही उसे काव्य का मुख्य तत्व स्वीकार किया है, लेकिन भोजराज के ही 'काव्यसर्वस्व' की टीका में उन्होंने एक स्थान पर रस को काव्य का सर्वस्व माना है। साथ ही प्रसाद गुण से रसाभिव्यक्ति भी स्वीकार की है। अतः रस और ध्वनि को उन्होंने भी गुण मान लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुण और रस के विषय में रत्नेश्वर की कोई सुस्थिर मान्यता नहीं है; उनके विचार अव्यवस्थित और अनिश्चित हैं।

---

१. अथ नायं नियमो यत् सर्वत्र रसः प्रधानमिति। तदा अत्र गुणेष्वपि कथं तदालम्बननियमः।—सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वर की टीका, पृ० ४९

२. शृंगारकरुणौ हि मधुरौ, ततस्तदव्यंजकोऽर्थोऽपि मधुरः।

—वही, रत्नेश्वरकृतटीका पृ० ७५

अग्निपुराणकार—

अग्निपुराण में गुण और रस के परस्पर सम्बन्ध में दण्डी और वामन के मतों का ही अनुसरण दिखायी पड़ता है। वे भी गुण को शब्दार्थ का धर्म मानते हैं। उसे रसगत नहीं मानते। किन्तु एक स्थान पर ओज को रौद्र और वीर रसों का गुण कहा गया है। यहाँ आनन्दवर्धन का प्रभाव द्रष्टव्य है।

रुद्रट

रुद्रट ने गुण का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया है। वे गुण को वाक्य से सम्बद्ध मानते हैं। रचना में चारुता को उत्पन्न करने वाले शब्दों की योजना करने के हिमायती रुद्रट की धारणा गुण को शब्दार्थ का धर्म मानने के ही पक्ष में दिखाई पड़ती हैं।[1] उन्होंने गुणों के सन्दर्भ में रस का उल्लेख नहीं किया है।

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया है। उनके द्वारा किया गया गुण का प्रयोग व्यापक अर्थ में है। उनकी धारणा है कि काव्यसौन्दर्य, गुण के ही कारण हैं। इस प्रकार अलंकार रस, रीति आदि तत्वों का अन्तर्भाव गुण में ही करना नमिसाधु को अभिप्रेत है। अलंकारादि कृत्रिम गुण हैं किन्तु रस, शरीर सौन्दर्य की तरह सहज गुण है।[2] किन्तु अधिकांश आचार्यों ने रस को मुख्य काव्यतत्त्व माना हैं अतः उसे गुण मानना औचित्य से परे है।

प्रतिहारेन्दुराज—

उद्भट्ट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने गुणों को रस धर्म नहीं माना है। उनकी मान्यता है कि शब्दार्थ रूप काव्य के सौन्दर्य की सृष्टि गुणों से होती है।[3] अतएव गुण शब्दार्थं के धर्म हैं और रस के पोषक हैं। शब्द और अर्थ काव्य-

---

१. रुद्रट, काव्यालंकार, २, ९

२. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। तस्य वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः। रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणाः इति भिन्नः तत्प्रकरणारम्भः। —रुद्रट, काव्यालंकार की टीका, पृ० १५०

३. काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्। —काव्यालंकारसारसंग्रह पर प्रतिहारेन्दुराज की टीका, पृ० ८१।

शरीर हैं और रस उस काव्य का आत्मा ।[1] गुण इसी काव्य-शरीर में ही अवस्थित रहता है। इस प्रकार माधुर्य और ओज गुणों से पुष्ट प्रसाद गुण रस की अभिव्यक्ति में सहायक होता है।[2]

प्रतिहारेन्दुराज की उक्त धारणा के परिप्रेक्ष्य में यह कहना युक्तिसंगत है कि गुण भी रस के समान काव्य का नित्य धर्म है। गुण शब्द और अर्थ का धर्म है और रस शब्दार्थमय काव्य का आत्मा। गुण के अभाव में काव्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती।

विद्यानाथ

विद्यानाथ गुण को रसगत तो मानते ही नहीं, वे उसे मात्र शब्दगत ही मानते हैं। प्रतापरुद्रयशोभूषण के टीकाकार कुमारस्वामी के अनुसार विद्यानाथ ने स्वयं श्लेषादि को आतमा के उत्कर्षसाधक शौर्यादि के समान गुण कहा है।[3]

आनन्दवर्धन

गुण के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन की धारणा का अवलोकन पीछे हम कर चुके हैं। उनकी धारणा का सारांश यह है कि गुण काव्य के अंगी रसादि रूप अर्थ के आश्रय से रहता है। उपचारतः उसे शब्दार्थ का धर्म कहा जाता है। जैसे शृंगारप्रधान काव्य में माधुर्यादि गुण रहते हैं क्योंकि शृंगार रस मधुर होता है। रस धर्म होने के कारण गुण रस से ही नियत होता है। गुणों के नियमन में औचित्य का भी योग होता है। अतः गुण का विषय निर्धारित है क्योंकि रस विशेष में ही गुण विशेष की उपस्थिति मानी जाती है। शृंगारादि में माधुर्य रौद्रादि में ओजो गुण रहता है। प्रसाद गुण सर्वरस व्यापक होता है। रसाभिव्यक्ति के लिए प्रसाद गुण की उपस्थिति अनिवार्य है।

---

१. रसा हि काव्यस्य आत्मत्वेन व्यवस्थिताः, शब्दार्थौ च शरीररूपतया।
—वही, पृ० ८३।

२. रसाभिव्यक्तिश्च यथायोगं माधुर्यौजोभ्यां तारतम्येनावस्थिताभ्याम् उपबृंहितौ योऽसौ प्रसादात्मा गुणः तेन क्रियते। —वही, पृ० ८३।

३. वस्तुतस्तु........अन्तर्भाविश्लेषादिगुणानां रसधर्मत्वम्। अतएव स्वयमेवोक्तवान् काव्यप्रकरणे—श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः। आत्मोत्कर्षवहाः।
—रत्नापण टीका।

अभिनवगुप्त ने लोचनटीका में आनन्दवर्धन की मान्यताओं का ही पोषण किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार भी, गुण, काव्य में अंगीरस के आश्रय से रहता है; शब्द और अर्थ को उपचारतः मधुर कहा जाता है।

मम्मट और विश्वनाथ भी गुण तथा रस के परस्पर सम्बन्ध के विषय में आनन्दवर्धन के ही मत का पोषण करते हैं। गुण को रसधर्म मानते हुए उपचारवशात् वे भी उसे शब्दार्थगत मानते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ गुण को रसधर्म स्वीकार नहीं करते। अद्वैत वेदान्त मत को मानने के कारण वे आत्मा को निर्गुण मानते हैं। रस काव्यात्मभूत है। अतः गुण, शब्दार्थ का ही धर्म है, रस का नहीं। किन्तु शब्दार्थ के साथ गुण का सम्बन्ध मान लेने पर उपचारतया रस के साथ भी उसका सम्बन्ध हो जाता है। वेदान्त में आत्मा की उपाधियों की कल्पना की गई है। वे उपाधियाँ गुण से युक्त हो सकती हैं। अतः रस के साथ उपाधिगत गुण के सम्बन्ध को स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकरण को दृष्टिगत कर जो निष्कर्ष निकलता है उससे दो मुख्य बातें ज्ञात होती हैं—अलंकार और रीति सम्प्रदाय में गुण को शब्दार्थ का नित्य धर्म मानकर रस को गुण का अंग बना दिया गया है। इसके विपरीत ध्वनिसम्प्रदाय में रस को काव्य का अंगी मानकर गुण को रसधर्म रूप में कल्पित कर उसे अप्रधान बना दिया गया है। भोजराज आदि कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जो मध्यम-मार्ग का अनुसरण करते हैं और गुण को रस और शब्दार्थ दोनों का धर्म मानते हैं।

अलंकार, गुण, रीति आदि की तरह काव्यशास्त्र के आरम्भिक आचार्यों ने 'लक्षण' को भी काव्य का उपकारक तत्त्व माना था। आचार्य भरत ने ३६ लक्षणों का उल्लेख किया है।[1] भोजराज ने बढ़ाकर लक्षणों की संख्या ६४ कर दी। अनेक परवर्ती आचार्यों ने 'लक्षण' के सम्बन्ध में विचार किया है। किन्तु अलंकारादि से 'लक्षण' का साम्य इतना अधिक था कि उसकी पृथक् स्वरूपगत सत्ता न रह सकी और इन्हीं सब में उसका अन्तर्भाव हो गया। इस प्रकार व्यवहार में लक्षण की सत्ता आगे चलकर समाप्तप्राय हो गयी। अभिनवभारती में लक्षण विषयक धारणाओं का परीक्षण किया गया है। चूँकि सम्प्रति भार-

१. नाट्यशास्त्र, १६।१४

तीय काव्यशास्त्र में लक्षण विषयक अध्ययन समाप्त हो चुका है और यह अतीत की वस्तु बनकर रह गया है, अतः हम भी यहाँ ग्रन्थ के विस्तरभय से गुणों के साथ उसके सम्बन्ध का निरूपण, अनावश्यक समझकर न करना उचित ही समझते हैं।

काव्य में गुण का महत्त्व

अग्निपुराण में गुण का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार असुन्दर शरीरवाली नारियों के लिए रत्नहार भार बन जाता है, उसी प्रकार माधुर्यादि गुणों से रहित काव्य अलंकृत होने पर भी आह्लादक नहीं होता—

अलंकृतमपि प्रीतये न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥

वस्तुतः अग्निपुराणकार का यह कथन अलंकार और गुण को ध्यान में रखते हुए, काव्य (या स्त्री) के बाह्य सौन्दर्य की दृष्टि से ही समीचीन माना जा सकता है। सहज विलास, हावभाव, लावण्य आदि शारीरिक सौन्दर्य से युक्त नखशिख प्रसाधित एवम् अलंकारों के विन्यास से बढ़ी हुई चमक-दमक वाली युवती भी क्या आन्तरिक गुणों के अभाव में सत्कृत होती है। इसके विपरीत सामान्य शारीरिक संरचना तथा असुन्दर रंगरूप वाली भी स्त्री जिसके शरीर पर बेशकीमती गहने कौन कहे, कामचलाऊ वस्त्र ही हैं, अपने आन्तरिक गुणों के कारण सम्मान प्राप्त करती है और लोग उसके प्रति आकृष्ट होते हैं। स्वाभाविक मृदुता और हार्दिक औदार्य, प्राणिमात्र के प्रति स्नेह और करुणा, कुरूप से कुरूप व्यक्ति को भी सम्मान का सर्वोच्च पद प्राप्त करा देते हैं। कोयल काली और भद्दी है किन्तु उसकी एक कूक हृदय को पुलकित कर देती है और उसकी अगली कूक सुनने के लिए मन आतुर रहता है। मानव का सहज सौन्दर्यबोध फूलों के रंगरूप और आकार का कायल नहीं अपितु वह तो उसकी सुगन्ध का दीवाना होता है। अतएव गुणों के सम्बन्ध में काव्य के प्रति हमारी मान्यता तो यह होनी चाहिए—'गुणहीनान शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः।'

गुण वस्तुतः सौन्दर्य का आधार है। किसी भी वस्तु में गुण के अभाव में सौन्दर्य की कल्पना नहीं की जा सकती। दीपक से हमें प्रकाश मिलता है किन्तु उसका आधार है तेल का वाष्पीकृत होकर जलने का गुण। यदि तेल में यह गुण न होता तो हम दीपक से प्रकाश न प्राप्त कर सकते। अथवा विद्युत बल्बों में

अन्दर प्रयुक्त होने वाले टंगस्टन के पतले तार का धारारोधक गुण ही हमें प्रकाश देता हैं। इसी प्रकार काव्य का गुण सहृदय को आह्लाद प्रदान करता है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने वस्तुतः गुण के महत्त्व की सही पहचान की थो। मम्मट द्वारा की गई काव्य-परिभाषा और गुण-परिभाषा से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्य में गुण को प्रमुख स्थान देकर उसकी अनिवार्य सत्ता स्वीकार की है। उन्होंने बाह्य अलंकारों को गौण मानते हुए 'सगुणों को' शब्दार्थों का विशेषण बनाया। इस प्रकार उन्होंने गुण के नियत काव्यधर्मत्व की स्थापना की।

हम देख चुके हैं कि गुण की परिभाषा देते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि व्यक्ति के आत्मा में अचल भाव से रहकर उसका उत्कर्ष साधन करने वाले शौर्य आदि धर्म की तरह जो धर्म काव्य के अंगी रस में अविचल भाव से रहते हुए उसमें उत्कर्ष का आधान करते हैं वे गुण कहे जाते हैं। शरीर में आत्मा से बढ़कर भला और क्या हो सकता है ? उसको भी जो उत्कृष्ट बनाये वह तो सर्वोपरि होता है, उसका चरम महत्त्व तो स्वयं सिद्ध है। हमारे मनीषियों ने 'मानवता' की जो धारणा व्यक्त की है, उसके अभाव में मानव तो प्राणवान् होते हुए भी चलता-फिरता मिट्टी का पुतला है। इस प्रकार मानवता ही वह सर्वश्रेष्ठ धर्म है जो आत्मा को उत्कर्ष प्रदान करता है। अतः काव्यात्म रूप रस को उत्कृष्ट बनाता हुआ 'काव्यगुण' वस्तुतः 'काव्यत्व' का पर्याय ही है। गुण के अभाव में काव्य निस्सन्देह काव्य नहीं है, शब्दाडम्बर मात्र है।

पंचम अध्याय

उपसंहार

विगत चार अध्यायों में प्रतिपादित काव्य और काव्यगुणों के सम्बन्ध में विविध विचारों का संकलन संक्षेप में यहाँ करने के साथ ही निष्कर्ष स्वरूप प्राप्त तथ्यों का उपस्थापन किया जा रहा है—

१. यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि काव्य-रचना आरम्भ होने के कुछ समय बाद काव्य के शास्त्रीय पक्ष का भी आलोचन होने लगा होगा। काव्य जगत् की भी सुव्यवस्था हेतु प्राणिजगत् की ही तरह नियम आदि बनने लगे होंगे। काव्य के सम्बन्ध में शास्त्रीय नियम-सिद्धान्तों का प्रतिपादक सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत कृत नाट्यशास्त्र' दृष्टिगाचर होता है। किन्तु इसके पूर्व भी काव्य के सम्बन्ध में विचार करने वाले आचार्यों की परम्परा का ज्ञान हमें—'नाट्यशास्त्र' ही कराता है। भरत के पश्चात् तो काव्यशास्त्र के आचार्यों और उनके ग्रन्थों की संख्या अति भूयसी हो गयी और आज तक वह परम्परा अविच्छिन्न है।

आचार्यों ने काव्य के स्वरूप का विचार करते समय काव्य के शरीर, उसके आत्मा, उसके गुण, दोष वृत्ति, प्रवृत्ति रीति, अलंकार आदि के सम्बन्ध में व्यापक विचार किया है और जैसा कि स्वाभाविक भी है, उनके विचारों में पर्याप्त वैभिन्न्य भी है। काव्य के शरीर के सम्बन्ध में ही, शब्द और अर्थ को सम्मिलित रूप से काव्य का शरीर मानने के पक्षधर आचार्यों में भामह, वामन, राजशेखर, आनन्दवर्धन, मम्मट, हेमचन्द्र आदि मुख्य हैं! कुछ आचार्य शब्द मात्र, पदावली या शब्द समूह को काव्य मानते हैं। ऐसे आचार्यों में दण्डी, अग्निपुराणकार, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख हैं। किन्तु, शब्द-मात्र को काव्य मानने वाले आचार्यों ने भी अपने काव्य लक्षणों में किसी न किसी प्रकार अर्थ की सत्ता का समावेश किया है यह उनके काव्य लक्षणों का अनुशीलन करने से स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है। शब्द मात्र को काव्य मानने के पीछे इन आचार्यों की यह तर्कसंगत भावना छिपी है कि शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध होता है और साहित्य में 'अर्थ शब्द रूप ही होता है अर्थात् किसी भी अर्थ को व्यक्त करने के लिए शब्द का ही प्रयोग किया जाता है। अतः शब्द

से अर्थ अभिन्न होता है।[1] अर्थ तो शब्दशक्तिस्वरूप होता है और किसी भी शब्द का ग्रहण करते ही अर्थ स्वयमेव उपस्थित हो जाता है। इसलिए काव्य को शब्द मात्र ही मानना चाहिए अर्थ को भी साथ जोड़ने से क्या लाभ ? इस प्रकार शब्द मात्र को भी काव्य कहने वाले वस्तुतः काव्य में शब्द और अर्थ का साहित्य स्वीकार करते ही हैं। अन्य आचार्यों ने शब्दार्थ का स्पष्ट रूप से कथन करके (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) काव्य को समझा-समझाया है। तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर न होते हुए केवल स्थूल दृष्टि भेद के कारण ही आचार्यों के दो पक्ष हो गए हैं—एक केवल शब्दवादी और दूसरे शब्दार्थवादी।

काव्य शरीर के सम्बन्ध में उतना मतवैभिन्न्य नहीं है, जितना कि काव्य के आत्मा (प्राण या जीवित) के विषय में। काव्यात्मा की मान्यता के भेद के कारण काव्यशास्त्र में ६ सम्प्रदाय हो गए हैं—

१. अलंकार सम्प्राय (काव्य का आत्मा अलंकार को मानते हैं)
२. रस सम्प्रदाय (,, ,, रस ,, ,, ,,)
३. रीति सम्प्रदाय (,, ,, रीति ,, ,,)
४. औचित्य सम्प्रदाय(,, ,, औचित्य ,, ,,)
५. वक्रोक्ति सम्प्रदाय(,, ,, वक्रोक्ति ,, ,,)
६. ध्वनि सम्प्रदाय (,, ,, ध्वनि ,, ,,)

इन सम्प्रदायों के प्रर्वतक आचार्य क्रमशः भरत, भामह, वामन, क्षेमेन्द्र, कुन्तक और आनन्दवर्धन हैं। आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप अन्य काव्यात्मसिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन भी किया है। इन छः सम्प्रदायों में रस और ध्वनि समुदायों ने आचार्यों को विशेष रूप से प्रभावित किया। शेष अन्य चार सम्प्रदायों को अधिक मान्यता न मिल सकी।

शरीर और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करने के साथ ही उसके अन्य शोभाधायक तत्त्वों के विविध पक्षों पर आचार्यों ने विशद विमर्श किया। ऐसे तत्त्वों में गुण, दोष, अलंकार और रीतियों का विवेचन प्रमुख है। इनके स्वरूप और संख्या के विषय में पर्याप्त ऊहापोह के साथ ही विस्तारवादी दृष्टिकोण भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

---

१. (अ) वागार्थाविव सम्पृक्तौ।
(ब) गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

२—काव्य में गुणों की स्थिति भी कम विवादास्पद नहीं है। आचार्यों के बीच, काव्य में गुणों की सत्ता के प्रश्न पर तो कोई विवाद नहीं दृष्टिगोचर होता किन्तु उसके स्वरूप के विषय में पर्याप्त विवाद है। काव्यशास्त्र के आरम्भिक युग में गुणों और अलंकार में भेद न किया जा सका और किन्हीं परिस्थितियों में गुण और दोष एक दूसरे का स्थान ग्रहण करते रहे। जो दोष परिस्थिति विशेष में गुण बन जाते हैं, उनको वैशेषिक गुण की संज्ञा प्रदान की गई।

यह एक विलक्षण बात है कि काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों ने एक मत से काव्य में गुणों की सत्ता को स्वीकार कर उसका समादर किया।[1] दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भ मार्ग की रचना का प्राण बताकर उन्हें काव्य में अनुपेक्षणीय माना। समाधि गुण को काव्यसर्वस्व कहकर सभी मार्गों में उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया। वामन ने गुणों को रीति का विधायक तत्त्व मानकर काव्य में उनकी उपादेयता को स्वीकार किया। कुन्तक ने सौभाग्य गुण को "काव्यैक-जीवित" कहकर उसे काव्य में विशेष महत्त्व दिया। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों की रसाश्रयता मानकर उन्हें काव्य के उत्कर्ष का कारण बताया है। अनेक आचार्यों ने काव्य में गुण का अभाव होने पर सौन्दर्य का सद्भाव न होने की बात कही है।

प्रारम्भ में गुणों का निरूपण काव्यदोषों के अभाव के रूप में हुआ। आचार्य भरत की काव्यगुणधारणा अभावात्मक ही है। उन्होंने नाट्यशास्त्र में काव्यगत दस दोषों का विवरण देकर कहा था कि इनके विपर्यय माधुर्यादि गुण होते है। किन्तु गुणों के स्वरूप को देखते हुए उन्हें मात्र दोषाभाव या दोष-विपर्यय रूप नहीं माना जा सकता। भरत के बाद होने वाले वामनादि आचार्यों ने गुणों को भावात्मक मानकर उनके अभाव में दोषों की कल्पना की। फिर भी सभी गुण भावात्मक नहीं रह सके। कुछ गुण दोषविपर्यय रूप भी माने गए। किन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने केवल उन्हीं गुणों को स्वीकार किया जिनकी भावात्मक सत्ता काव्य में है और जिनका अभाव काव्यदोष में पर्यवसित होता है।

---

१. पण्डितराज जगन्नाथ ने वेदान्तमतानुसार आत्मा को निर्गुण मानकर पारमार्थिक दृष्टि से काव्यात्म रस में गुण का सद्भाव असम्भव कहकर भी व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव माना है।

अधिकांश आचार्यों ने गुणसामान्य का लक्षण नहीं किया है। सभी ने गुणों का उल्लेख करके केवल उन्हें काव्य के उत्कर्ष का हेतु कहा है। प्रारम्भ में गुणों को शब्दार्थ का धर्म माना गया किन्तु बाद में चलकर उन्हें ध्वनिवादी आचार्यों ने रस का धर्म माना और आत्मा के शौर्यादि गुणों से उसकी उपमा दी। यद्यपि गुणसामान्य का विविक्त लक्षण देने के प्रयत्न नहीं हुए किन्तु गुण भेदों में अलग अलग प्रत्येक गुणों का लक्षण विशद रूप से दिया गया। अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप तत्तत् आचार्यों की गुणधारणा प्रकट हुई। किसी ने गुणों की केवल शब्दाश्रयता स्वीकार की, किसी ने शब्दार्थोभयाश्रयता और किसी ने रसाश्रयता स्वीकार की। इस गुणधारणा के विकास का अनुशीलन करने पर हम यह पाते हैं कि विभिन्न आचार्यों ने गुणों की एक ही संज्ञा स्वीकार करने पर भी उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप की कल्पना की है। उदाहरण के लिए माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण, संख्या की दृष्टि से सभी सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा स्वीकृत हैं किन्तु इन तीनों गुणों में स्वरूप के विषय में उन आचार्यों की अलग अलग धारणा है। फलतः नाम से एक होने पर भी स्वरूप की दृष्टि से इन गुणों में पर्याप्त भिन्नता प्राप्त होती है। इस प्रकार एक ही संज्ञा वाला गुण स्वरूपतः एक नहीं है।

३. गुणों की संख्या का भी कोई सर्वमान्य निर्धारण नहीं हो सका। इस विषय में मुख्यतया आचार्यों के दो वर्ग हैं। पहला वर्ग शब्दार्थगत गुणों की दस संख्या मानने वाला है और दूसरा वर्ग रसगत गुणों की तीन संख्या मानने वाला। पहले वर्ग के प्रवर्तक आचार्य भरत ने श्लेषादि दस गुण माने और उनके परवर्ती आचार्यों दण्डी. वामन आदि ने भी यही गुण संख्या स्वीकार की है किन्तु वामन ने इन्हें शब्द और अर्थ भेद से बीस कर दिया। यद्यपि भामह ने गुणों की संख्या तीन ही मानी किन्तु वे उन्हें शब्दार्थगत ही मानते थे। रसगत तीन गुणों को आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया जिसे मम्मट, विश्वनाथ, विद्याधर आदि आचार्यों ने माना। मम्मट ने दृढ़तापूर्वक गुणों की संख्या दस माने जाने का विरोध किया और उनका खण्डन करते हुए अपने द्वारा स्वीकृत इन्हीं तीन गुणों में ही शेष का अन्तर्भाव प्रदर्शित किया।

अग्निपुराणकार ने कुल उन्नीस गुण मानते हुए उनको शब्दगत, अर्थगत और उभयगत, इन वर्गों में विभक्त किया। आचार्य कुन्तक ने छः गुण स्वीकार किया है।

गुणसंख्या का सर्वाधिक विस्तार आचार्य भोजराज ने किया। मूलतः उन्होंने गुणों की संख्या चौबीस ही मानी किन्तु उन्हें तोन वर्गों में विभक्त करके २४ शब्दगुण, २४ अर्थगुण और २४ वैशेषिक गुण, इस प्रकार कुल बहत्तर गुणों की कर डाली। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने प्रबन्धगत गुणों की कल्पना की और अनेक पद, पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थगत गुणों का निरूपण किया। इस प्रकार भोजराज के मत में गुणों की संख्या अतिभूयसी हो गई।

४. गुणों के साथ, काव्य में स्वीकृत अन्य अलंकारादि तत्त्वों के सम्बन्ध का भी आचार्यों ने व्यापक विमर्श किया है। काव्यधारणा के विकास में सर्वप्रथम गुणों और अलंकारों के पस्पर सम्बन्ध की समीक्षा की गई। आरम्भ में तो अलंकार और गुण में किसी भेदक तत्त्व का संकेत नहीं किया जा सका। वामन ने सर्वप्रथम गुण और अलंकार में भेद प्रदर्शित किया। उन्होंने गुणों को काव्यसौन्दर्य का विधायक और अलंकार को काव्यसौन्दर्य का संवर्धक स्वीकार करते हुए काव्य में अलंकार की अपेक्षा गुण के महत्त्व पर बल दिया। परवर्ती आचार्यों ने काव्य के नित्य और अनित्य धर्मों के रूप में क्रमशः गुण और अलंकार को मान्यता प्रदान की। आगे चलकर गुण को काव्यसौन्दर्य का अनिवार्य हेतु मानकर उसके अभाव में काव्यसौन्दर्य के अभाव की कल्पना की गई और गुण के सापेक्ष्य अलंकार का महत्त्व घटता चला गया। गुणों के सद्भाव की स्थिति में यदि काव्य में अलंकार नहीं है तो भी काव्यत्व की हानि न होने की बात स्वीकृत हुई। गुण और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करते हुए ध्वनिवादी आचार्य भी प्रायः वामन से चलीं आ रही इस मान्यता से सहमत हैं कि गुण काव्य का नित्य और अलंकार अनित्य धर्म है। इस प्रकार गुण काव्य में अलंकार से अधिक समादृत हुये।

काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से यद्यपि गुण अलंकारों की अपेक्षा अधिक उपादेय अतः काम्य है; किन्तु इससे अलंकारों की उपेक्षणीयता नहीं सिद्ध होती। ध्वनिप्रस्थान के आचार्यों ने अलंकारों को 'हारादिवत्' कहकर उनका उचित मूल्यांकन नहीं किया है। काव्य में अलंकारों की वैसी स्थिति निस्सन्देह ही नहीं होती, जैसी कि शरीर पर धारण किये गये आभूषणों की। आभूषण शरीर पर संयोग सम्बन्ध से रहता हैं और हटाकर अलग किया जा सकता है किन्तु गुणों की ही तरह अलंकार भी काव्य में सहज होता है और उसकी स्थिति भी शब्दार्थमय काव्य में समवाय सम्बन्ध से होती है। अतः काव्य से अलंकार को निकाले जाने

की स्थिति में काव्य का वह स्वाभाविक स्वरूप ही विकृत हो जायेगा अतएव रससिद्ध महाकवियों की रचना में अनायास आये हुए अलंकार सर्वथा काम्य हैं। ध्वनिकाव्य में भी ऐसे अलंकारों को आनन्दवर्धन ने ग्राह्य माना है।

काव्यरीतियों से भी गुणों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पदों की संघटना विशेष को रीति कहा गया है। यह संघटना या रीति गुणाश्रित होती है। गुण संघटनाश्रित नहीं होते।

आचार्य कुन्तक औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। उन्होंने औचित्य को एक प्रकार का गुण माना था। किन्तु यह मानना असमीचीन है। वस्तुतः औचित्य तो गुण का प्राण है। औचित्य के अभाव में किसी भी गुण का सद्भाव दुष्कर हैं। अनुचित विन्यास की अवस्था में गुणों का गुणत्व समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत दोष भी काव्य में औचित्य के कारण विशेष स्थिति में गुण बन जाते हैं।

ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में माधुर्यादि तीन रसों के साथ गुण का नित्य सम्बन्ध माना है। काव्य में गुण रसाश्रित और उसके धर्म माने गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य-सौन्दर्य के लिए अदोषता मात्र ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसकी सगुणता भी अनिवार्य है। इस प्रसंग में मम्मट की काव्य-धारणा ध्यातव्य है। काव्य की अदोषता की अपेक्षा उसकी सगुणता का महत्त्व अधिक है। रससिद्ध महाकवियों की रचनाओं में किन्हीं दोषों के रहने पर भी सौन्दर्य का अभाव नहीं रहता किन्तु गुण के अभाव में तो काव्यसौन्दर्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

सहायक ग्रन्थ सूची

अग्निपुराण : नटवर चक्रवर्ती, बंगवासी प्रेस, कलकत्ता।

,, ,, : श्रीराम शर्मा आचार्य, बरेली।

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग : रामलाल वर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५९ ई०।

अभिधावृत्तिमातृका : मुकुलभट्ट।

अमरकोश : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

अर्थशास्त्र : कौटिल्य, हिन्दीव्याख्याकार, श्रीवाचस्पति गैरोला, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

अलंकारसर्वस्व : राजानकरुय्यक, निर्णयसागर प्रेस, द्वितीय संस्करण

अलंकारशेखर : केशवमिश्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

अष्टाध्यायी : डॉ० श्रीनारायण मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

ईशोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर।

ऋग्वेद : मैक्समूलर सम्पादित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

एकावली : विद्याधर, मल्लिनाथ कृत तरलटीका युक्त, सं० डॉ० पी० रामचन्द्रडु, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, १९८१ ई०

औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र चौ० श्रीनारायण सिंह, राष्ट्रभाषाविद्यालय, रामनगर, वाराणसी २०१७ वि०।

कविकण्ठाभरण : क्षेमेन्द्र, काव्यमाला, बम्बई, द्वितीय संस्करण।

काव्यतत्त्वसमीक्षा : डॉ० नरेन्द्रनाथ चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, १९५९ ई०।

काव्यप्रकाश : मम्मट, सम्पादक एवं टीकाकार (संस्कृत) आचार्य वामन झलकीकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५० ई०

,, ,, : सम्पादक एवं हिन्दी टीकाकार, डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्भा विद्याभवन, बनारस, १९५५ ई०।

काव्यप्रकाश : सम्पादक एवं हिन्दी टीकाकार, आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, २०२७ वि० ।

काव्यप्रदीप : गोविंदठक्कुर (काव्यप्रकाश की टीका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३ ई० ।

काव्यमीमांसा : राजशेखर, अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६५ ई० ।

काव्यादर्श : दण्डी, सम्पादक श्रीरामचन्द्रमिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, बनारस, १९७२

काव्यसमीक्षा : डॉ० विक्रमादित्यराय, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ई० ।

काव्यात्ममीमांसा : डॉ० जयमन्तमिश्र ।

काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ई० ।

काव्यालंकार : भामह, हिन्दीभाष्यकार डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना ।

काव्यालंकार : रुद्रट, नमिसाधुकृत टीका समेत, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८ ई० ।

काव्यालंकारसूत्र : वामन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

,, ,, ,, ,, : टीकाकार डॉ० बेचन झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १९७१ ई० ।

काव्यालंकारसार संग्रह : उद्भटविवृत्ति सहित, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९३१ ई० ।

काव्यगुणोंका शास्त्रीय विवेचन : डॉ० शोभाकान्तमिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, १९७२ ई० ।

चन्द्रालोक : जयदेव, सं० पं० नन्दकिशोर शर्मा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७६ ई० ।

दशरूपक : बहुरूपमिश्रकृत टीकायुक्त, सम्पादक, डॉ० अमरनाथ पाण्डेय, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ई० ।

,, ,, ,, ,, : अवलोकटीका युक्त, डॉ० भोलाशंकरव्यास चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, लोचनसहित, डॉ० रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली।

" " " " : श्री जगन्नाथ पाठक, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५ ई०।

" " " " : आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी सं० २०२८ वि०।

नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९५९।

नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६० ई०।

: पं० मधुसूदन शास्त्री कृत संस्कृत-हिन्दी टीका, काशी हिन्दू वि० वि०, १९७१ ई०।

नीतिशतक : भर्तृहरि, सं० एम० आर० काले, मोतीलाल, बनारसी दास, १९७१ ई०।

प्रतापरुद्रयशोभूषण : विद्यानाथ, रत्नापणसमेत, सम्पादक—डा० वी० राघवन, संस्कृत विद्यासमिति मद्रास, १९७० ई०।

महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर।

रसगंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४७ ई०।

: टीकाकार पं० मधुसूदनशास्त्री, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, सं० २०२० वि०।

रघुवंशमहाकाव्य : महाकवि कालिदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक, डा० के० कृष्णमूर्ति, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७७ ई०।

विक्रमाङ्कदेवचरित : महाकविबिल्हण, डा० इन्दुमती मिश्रा, भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर।

व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट (रुय्यककृत टीकायुक्त) डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

वाग्भटालंकार : वाग्भट, दिल्ली।

श्रृंगारप्रकाश : भोजराज, जोश्यर सम्पादित, मैसूर, १९६३ ई०।

श्रीमद्भगवद्गीता : गीताप्रेस, गोरखपुर।

सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजराज, सम्पा० एवं टीकाकार–डा० कामेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्भा ओरियण्टलिया, चौक, वाराणसी, १९७६ ई० ।

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ कविराज, हिन्दी टीकाकार पं० शालिग्राम मिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

साहित्यसार : अच्युतराय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०६ ई० ।

सिद्धान्तकौमुदी : सम्पादक, गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९७० ई० ।

संस्कृत-हिन्दी कोष : वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६९ ई० ।

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : म० म० पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास, १९६६ ई० ।

हलायुधकोष : हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, १९६७ ई० ।

ENGLISH

Bhoja's Sringaraprakasa : Dr. V. Raghavan, Karnataka Publishing House, Bombay.

History of Classical Sanskrit Literature : K. Krisnamachariar, Moti Lal Banarsidass, 1974.

History of Sanskrit Peotics :—Dr. S. K. De, Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1960

History of Sanskrit Poetics :—Dr. P. V. Kane, Bombay, 1951

Indian Historical Quarterly, Vol. VI

Some Concepts of Alankarashashtra : Dr. V. Raghavan, Adyar Library, Madras, 1941

Some Problems of Sanskrit Poetics :—Dr S. K. De, Calcutta.

The Concepts of Riti and Guna :--P. C. Lahiri, Dacca University, Dacca, 1937.